रामकाव्य और कृष्णकाव्य
का
तुलनात्मक अध्ययन
[वि० सं० १४००-१७००]

●

इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी० फिल्० उपाधि के लिए प्रस्तुत

शोध-प्रबन्ध

●

प्रस्तुतकर्ता
रामचन्द्र शुक्ल, एम० ए०

●

निर्देशक—
डा० लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय, डी० लिट०
प्रोफेसर एवं अध्यक्ष-हिन्दी विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद

●

मई १९७२ ई०

हिन्दी विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद

भूमिका

बाल्यावस्था में ही मेरे हृदय में ईश्वर के प्रति अटूट निष्ठा की भावना का बीजारोपण अज्ञातरूप से हो गया था । इसके मूल में मेरे परिवार का धार्मिक वातावरण था । मेरे माता-पिता तथा परिवार के अन्य सदस्य धर्म और ईश्वर-भक्ति को इस भौतिक जगत में सर्वोपरि मानते थे और धर्म के लिए सब कुछ त्याग देने को तैयार रहते थे । परिवार की परम्परा से प्राप्त इस धार्मिक भावना को उस समय विशेष प्रश्रय मिला जब मैं स्नातक कक्षा में अध्ययन के लिए प्रयाग आया और मैंने अपने बड़े भाई पण्डित त्रिभुवननाथ त्रिपाठी, एडवोकेट के संरक्षण में अध्ययन प्रारम्भ किया । पूज्य भाई साहब सिद्धान्त और व्यवहार दोनों धरातल पर धर्म के सच्चे अर्थों में उपासक हैं । उनकी धार्मिक निष्ठा ने प्रत्यक्षरूप से मुझे बल दिया । इसके अतिरिक्त मेरी बी०ए० कक्षा के पाठ्य-विषयों में सर्वाधिक प्रिय विषय दर्शन का पूर्व-प्रवहमान भक्ति-भावना के साथ मेल हो जाने से उक्त ईश्वर-भक्ति को हृदय में स्थायित्व प्राप्त हुआ । संयोग से स्नातकोत्तर कक्षा के लिए हिन्दी विषय चुना और पाठ्यक्रम के रूप में मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य के अनुशीलन का मुझे स्वर्ण अवसर प्राप्त हुआ । इस मध्ययुगीन हिन्दी - साहित्य के अध्ययन ने मेरी भक्ति-भावना का चरम विकास किया और मैंने स्नातकोत्तर कक्षा में ही अन्तिम निर्णय ले लिया कि मध्ययुगीन हिन्दी - साहित्य का शोध के रूप में परिशीलन करूं । किन्तु जब मैं शोध कार्य के लिए प्रस्तुत हुआ तो इस विषय के सामने अनेक समस्याएं थीं । एक तो मध्ययुगीन

साहित्य इतना विस्तृत है कि इसको विहंगम दृष्टि से भी देखना सम्भव नहीं और सम्पूर्ण रूप में वैज्ञानिक ढंग से शोध का विषय बनाना तो और भी कठिन है । दूसरे इस मध्यकाल में निर्गुण और सगुण दो धारायें निरन्तर प्रवाहित हैं । प्रथम धारा बहुत कुछ अंशों में "नास्तिक" और वेद विरोधी तथा सगुण ईश्वर-भक्ति के विरोध में हैं, क्योंकि इसपर अवैदिक दर्शनों और धर्मों का प्रवाह है, जब कि दूसरी धारा पूर्ण आस्तिक श्रुति सम्मत और भक्ति के पूर्ण प्रतिपादन में है । निश्चितरूप से प्रथम विचारधारा मेरी रुचि के प्रतिकूल थी । अतः मध्यकाल के अन्तर्गत मैंने केवल सगुण धारा को ही अपने शोध का विषय बनाया । पुनः सामने समस्या आई थी कि सगुण धारा का किस रूप में अध्ययन किया जाय, क्योंकि इस सगुण साहित्य में भी दो अलग धारायें एक-दूसरे के समानान्तर प्रवाहित हैं । दोनों धाराओं के स्वतन्त्र अध्ययन के लिए शोध को दो विषय के रूप में बनाना पड़ता । दूसरे विषय का वैज्ञानिक अध्ययन भी सम्भव न होता । अतः दोनों धाराओं का तुलनात्मक अध्ययन करने का निश्चय किया गया, क्योंकि तुलनात्मक अध्ययन से ही कुछ ऐसे मौलिक निर्णय लिए जा सकते हैं, जो सबसे महत्वपूर्ण हैं और जो दोनों धाराओं के अलग-अलग अध्ययन से सम्भव नहीं थे । मेरी इन विषय सम्बन्धी समस्त उलझनों को सुलझाने एवं विषय को वैज्ञानिक तथा शोध योग्य बनाने का श्रेय कबीर के शब्दों में 'हरि से भी श्रेष्ठ गुरुदेव' आचार्य डा० कृष्णासागर जी वार्ष्णेय को है ।

प्रस्तुत अध्ययन एक शोध-प्रबन्ध के रूप में हुआ है, अतः इसकी मौलिकता के सम्बन्ध में भी कुछ लिख देना आवश्यक है । कुछ विद्वानों की धारणा है कि तुलनात्मक अध्ययन की मौलिकता संदिग्ध है ऐसे विद्वानों के प्रति उनकी शंकाओं के समाधान हेतु मुझे संक्षेप में यही कहना अभीष्ट है कि कुछ नवीन निर्णय या निष्कर्ष जो सर्वथा मौलिक होते हैं, केवल

तुलनात्मक अध्ययन से ही सम्भव है । ये निष्कर्ष स्वतन्त्र अध्ययन से नहीं निकाले जा सकते । विशेषकर मेरा विषय भक्तिकाल के कृष्ण एवं रामकाव्य के तुलनात्मक अध्ययन से सम्बन्धित है । कृष्ण एवं राम दोनों काव्य-धाराओं ने एक-दूसरे के समानान्तर एक ही साथ एक ही समय में अपना पूर्ण विकास किया । दोनों धाराएं सर्वथा स्वतन्त्र और परस्पर भिन्न होती हुई भी कुछ अंशों में पूर्ण साम्य रखती हैं । इसके कुछ मूलभूत कारण हैं । उन कारणों का उल्लेख यथास्थल परिभाषानुसार कर दिया गया है । प्रत्येक नवीन निष्कर्ष को तीन अध्ययन सोपानों से गुजरना पड़ा है । प्रथम सिद्धान्त या तथ्य द्वितीय तुलना और निष्कर्ष अथवा साम्य और वैषम्य, तृतीय निर्णीत साम्य और वैषम्य के मूलभूत कारण । इनमें से प्रथम की मौलिकता अनिर्दिष्ट है, क्योंकि तुलनात्मक अध्ययन में तथ्यों की खोज नहीं की जा सकती है । बल्कि पूर्व अन्वेषित तथ्यों के आधार पर केवल तुलना की जाती है । प्रस्तुत शोध में भी इसी सिद्धान्त के आधार पर तथ्यों की खोज न करके दूसरे द्वारा अन्वेषित तथ्यों का यथावत् उपयोग करके तुलनात्मक निष्कर्ष निकाला गया है । द्वितीय अध्ययन सोपान अवश्य ही मौलिक और महत्वपूर्ण है, क्योंकि यही तुलनात्मक शोध का मुख्य विवेच्य उद्देश्य है । मेरे शोध की मौलिकता का मूल्यांकन भी इसी द्वितीय सोपान तुलना और निष्कर्ष के आधार पर ही किया जाना चाहिए । तृतीय सोपान के बारे में मुझे विशेष रूप से कहना है, क्योंकि मैंने द्वितीय सोपान में जो तुलनात्मक निष्कर्ष निकाला है उसके मूल कारणों को ढूंढने की चेष्टा की है । वास्तव में तृतीय सोपान, द्वितीय सोपान की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण है । दोनों धाराएं यदि किसी बिन्दु पर साम्य या वैषम्य रखती हैं तो उसका कारण क्या है ? वास्तव में यही तुलनात्मक अध्ययन का मुख्य विवेच्य [illegible] विषय होना चाहिए । इसके अभाव में तुलनात्मक अध्ययन अपूर्ण और अवैज्ञानिक है । मैंने इसी तथ्य को सदैव ध्यान में रखकर तुलनात्मक अध्ययन किया है ।

असीम तथा अमूल्य कृष्ण एवं रामसाहित्य भारतवर्ष की विभिन्न प्राचीन और अर्वाचीन भाषाओं, विभिन्न शैलियों, विभिन्न धर्मों एवं सम्प्रदायों के अन्तर्गत अनेकानेक कवि कवियों द्वारा दीर्घकाल तक लिखा जाता रहा है । इन दोनों साहित्यों की यह अजस्र धारा अनादि-काल से लेकर अद्यावधि अविरल प्रवाहित है । इस शाश्वत प्रवहमान धारा में हिन्दी का मध्यकाल अपना महत्वपूर्ण स्थान रखता है और अपनी साहित्यिक समृद्धि के कारण स्वर्णकाल के नाम से विभूषित किया जाताहै । काल सीमा की दृष्टि से यह समय विक्रम संवत् १४०० के लगभग से प्रारम्भ होकर १७०० वि०सं० तक मान्य है । समयकी इसी विस्तृत सीमा के अन्तर्गत जो साहित्य कृष्ण और राम को केन्द्र मानकर उनकी प्रेरणा से रचा गया है, उसका तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध का विवेच्य विषय है, अतः प्रस्तुत अध्ययन में उन्हीं कवियों और उन्हीं रचनाओं को स्थान मिला है जो उपर्युक्त अवधि की सीमा के अन्तर्गत हैंऔर जिनका सम्बन्ध कृष्ण और राम से है । कुछ रचनायें ऐसी भी हैं, जो भक्ति से सम्बन्ध न रखते हुए भी राम-काव्य से सम्बद्ध हैं । जैसे केशव की रामचन्द्रिका । ऐसी भक्तिरहित रचनायें भी प्रस्तुत अध्ययन में सम्मिलित की गई हैं, क्योंकि उपस्थित शोध का विषय मात्र भक्ति परक न होकर सभी दृष्टियों से है ।

आलोच्यकाल में कुछ कवि ऐसे भी हैं, जिन्होंने कृष्ण एवं राम दोनों काव्यों की रचना की है । इनमें सूर और तुलसी का नाम उल्लेखनीय है

उपर्युक्त कृष्ण एवं रामकाव्य की तुलना अनेक दृष्टियों से की जा सकती थी और प्रत्येक दृष्टि से तुलनात्मक अध्ययन अपने में स्वतन्त्र शोध विषय की सामर्थ्य रखता है, किन्तु शोध को पूर्ण और वैज्ञानिक बनाने के लिए प्रस्तुत प्रबन्ध को मुख्य रूप से चार दृष्टिकोणों दर्शनभक्ति, भावपक्ष, तथा कलापक्ष से ही विवेचित किया गया है । पहले तो मेरी धारणा केवल दर्शन और भक्ति की दृष्टि से ही आलोच्यकाल के अध्ययन की थी, किन्तु साहित्य का विद्यार्थी होने एवं प्रबन्ध का शीर्षक कृष्ण काव्य

एवं रामकाव्य होने के कारण मेरे निर्देशक पूज्य डा० [illegible] ने कालात्मक अध्ययन के अभाव में शोध को अपूर्ण एवं अव्याप्ति दोषों से व्याप्त समझा। अतः शोध-विषय को निर्दोष बनाने एवं उसके क्रमिक अध्ययन के लिए भाव पक्ष और कला पक्ष को भी विधिवत्क्रम में जोड़ दिया गया। प्रस्तुत शोध-विषय को विवेचन की दृष्टि से असीम होते हुए भी सीमित आकार में पूर्ण बनाने की चेष्टा की गई है, क्योंकि कृष्ण एवं रामकाव्य अपने में आजीवन अध्ययन का विषय है।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध परमपूज्य आचार्य डाक्टर लक्ष्मीसागर जी वार्ष्णेय के सुयोग्य निर्देशन में सम्पन्न करने का मुझे सौभाग्य प्राप्त हुआ, यह गुरु की कृपा का ही फल है कि मेरी हिन्दी-मध्यकाल के शोध की इच्छा पूर्ण हुई। इसके लिए मैं आदरणीय गुरुदेव का चिर ऋणी हूं। पूज्य गुरुदेव ने जिस शिष्यवत्सल स्नेह एवं शोध की वैज्ञानिक पद्धति से लगभग चार वर्षों तक मेरा निर्देशन किया, उसको शब्दों की सीमा में आबद्ध कर शान्ति नहीं मिल पा रही है। अनुभव के पश्चात् मैंने यह निर्णय लिया कि वैज्ञानिक पद्धति से शोध करने वाले अनुसंधाता को डाक्टर वार्ष्णेय जी की ही एकमात्र शरण लेनी चाहिए। परमपूज्य मौसी माता जी (श्रीमती वार्ष्णेय) के प्रति भी मैं श्रद्धावनत हूं, जिनके हृदय में मेरे प्रति वात्सल्य भाव सदैव बना रहा।

मानवता के साक्षात् अवतार एवं कौतुकी उदारता की साकार मूर्ति पूज्य बड़े भाई पण्डित त्रिभुवन नाथ त्रिपाठी का मैं चिर ऋणी हूं, जो मेरे शैक्षिक एवं व्यावहारिक जीवन के प्रेरणास्रोत रहे हैं। प्रस्तुत अध्ययन उन्हीं की प्रेरणा का मूर्त रूप है। उनकी कृपा का मूल्यांकन शब्दों की परिधि से परे है।

सी०एम०पी० कालेज प्रयाग की प्रबन्ध समिति एवं कालेज के सुयोग्य प्राचार्य आदरणीय पण्डित पृथ्वीनाथ जी तिवारी की उदारता अविस्मरणीय है, जिन्होंने दो मास का विशेष अवकाश प्रदान कर मेरी विशेष आर्थिक सहायता की है, इसके लिए परम पूज्य श्री तिवारी जी का मैं चिर ऋणी हूं ।

अन्त में तुलसी के शब्दों में "बन्दौं गुरु पद पदुम परागा" का भाव हृदय में धारण करते हुए मैं प्रातः-स्मरणीय श्रद्धेय आचार्य डाक्टर लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय के ज्ञानरूपी चरणों में श्रद्धावनत हूं ।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध को समुचित ढंग से टंकित करने के निमित्त मैं श्री रामचित्त त्रिपाठी, हिन्दी टंकक को हार्दिक धन्यवाद देता हूं ।

(रामचन्द्र शुक्ल एम०ए०)

विषयानुक्रम

विषय | पृष्ठांक

विषय	पृष्ठसंख्या

विषय | पृष्ठसंख्या

विषय	पृष्ठसंख्या

विषय	पृष्ठसंख्या

विषय | पृष्ठसंख्या

-o-

प्रथम अध्याय

-o-

दर्शन तथा आध्यात्मिक विचार

प्रथम अध्याय

-०-

दर्शन तथा आध्यात्मिक विचार

पृष्ठभूमि

आलोच्यकाल (वि०सं० १६००-१७००) के हिन्दी कृष्ण काव्य एवं रामकाव्य के समस्त कवियों की रचनाओं में प्राप्त दार्शनिक तत्वों का विवेचन करने के पूर्व पृष्ठभूमि रूप में उन दार्शनिक शाखाओं का अध्ययन अपेक्षित है, जिनका स्पष्ट प्रभाव हिन्दी के विवेच्यकालीन कवियों पर परिलक्षित होता है । भारतीय चिन्तन धारा में जैन दर्शन, बौद्ध दर्शन, सांख्य दर्शन, योग दर्शन, मीमांसा दर्शन, न्याय दर्शन, वैशेषिक दर्शन तथा वेदान्त दर्शन प्रमुख दार्शनिक सम्प्रदाय हैं । इन समस्त दार्शनिक सम्प्रदायों में वेदान्तदर्शन सर्वश्रेष्ठ है, क्योंकि इसने उक्त सभी दार्शनिक सम्प्रदायों की परस्पर विरोधी धारणाओं को वैज्ञानिक दृष्टि से तर्कयुक्त शैली में सुलझाने की सफल चेष्टा की । किन्तु एक ओर जहां वेदान्त ने भारतीय दर्शन की परम्परा से चली आती हुई समस्त विरोधी धारणाओं और उलझी हुई गुत्थियों को अद्वैत के आधार पर सुलझाया वहां वह स्वयं ही विभिन्न शाखाओं में उलझ गया और वेदान्त के विभिन्न सम्प्रदाय अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैत, द्वैताद्वैत और शुद्धाद्वैत के रूप में बन गए । वेदान्त दर्शन की ये सभी शाखाएं अद्वैत के आधार पर एक रूप होती हुई एक-दूसरे से पर्याप्त भिन्न थीं । अद्वैत शाखा पूर्ण रूपेण निर्गुणवादी है, जब कि अन्य शाखाएं सगुणवादी मानी जाती हैं । वेदान्त की इन सभी शाखाओं का आलोच्यकाल के हिन्दी कवियों पर पर्याप्त प्रभाव दृष्टिगोचर होता है । यह अवश्य है कि कुछ शाखाओं का अधिक प्रभाव है, कुछ का कम । कृष्ण काव्य पर द्वैत, द्वैताद्वैत और शुद्धाद्वैत का अधिक प्रभाव है, जब कि राम काव्य पर विशिष्टाद्वैत और अद्वैत का ही प्रबल प्रभाव परिलक्षित होता है ।

वेदान्त की उपर्युक्त समस्त शाखाओं की दार्शनिक मान्यताओं का संक्षिप्त विवेचन यहां पृष्ठभूमि के रूप में अभीष्ट है,तत्पश्चात् आलोच्यकालीन हिन्दी कवियों में प्राप्त दार्शनिक तत्वों का विश्लेषण किया जायगा ।

अद्वैतवाद

अद्वैत दर्शन के प्रवर्तक आचार्य शंकर माने जाते हैं । उनका समय ईसवी सन् की आठवीं शताब्दी निश्चित किया जाता है । वेदान्त की समस्त शाखाओं में शंकराचार्य प्रथम आचार्य माने जाते हैं । शंकराचार्य के पश्चात् जितने आचार्य हुए वे मूल रूप से शंकर के ही सिद्धान्तों को लेकर चले । या तो उन्होंने शंकराचार्य के सिद्धांतों में कोई सुधार प्रस्तुत किया अथवा उनसे विरोध प्रकट किया । परवर्ती समस्त वेदान्ता-चार्यों पर शंकर के अद्वैतवाद का व्यापक प्रभाव माना जा सकता है । दार्शनिक दृष्टि से शंकराचार्य का सिद्धान्त है कि परब्रह्म एक अखण्ड अद्वितीय विजातीय,सजातीय और स्वगत इन त्रिविध भेदों से रहित तथा एकमात्र सत्ता के रूप में है । यह ब्रह्म निर्गुण, निर्विशेष,शुद्ध चैतन्य,नित्य मुक्त है । ब्रह्म के अतिरिक्त विश्व में कोई वस्तु स्वतन्त्र नहीं । शंकर के सिद्धान्त का महावाक्य है --"सर्वं खल्विदं ब्रह्म" जिसके अनुसार समस्त संसार में केवल ब्रह्म का ही अस्तित्व है । जीवात्मा ब्रह्म का ही स्वरूप है । जीवात्मा तथा परमात्मा में कोई भेद नहीं है । जो भेद प्रतीत होता है वह भ्रम या अज्ञान के कारण । अज्ञानता के नष्ट होते ही जीव ब्रह्म के साथ एकाकार हो जाता है । यही मुक्ति है । इस मुक्ति का साधन ज्ञान है । जगत को शंकराचार्य ने मिथ्या या असत्य बताया है । उनके अनुसार समस्त संसार,जो मनुष्य को चर्म-चक्षुओं द्वारा दिखाई पड़ता है, असत्य है । माया द्वारा रचित होने के कारण वह सत्य-सा प्रतीत होता है । माया ब्रह्म की शक्ति और अनिर्वचनीय तुच्छ पदार्थ है । इस प्रकार शंकराचार्य पारमार्थिक दृष्टि से ब्रह्म का वास्तविक स्वरूप निर्गुण ही मानते हैं । ब्रह्म के सगुण स्वरूप का वे खण्डन करते हैं और मोक्ष प्राप्ति का साधन भक्ति को न मानकर ज्ञान को बताते हैं । शंकराचार्य के अनुसार भक्ति भ्रान्ति या अविद्या है ।

विशिष्टाद्वैतवाद

ऊपर वर्णित शांकर अद्वैत सगुणोपासना के विपरीत था । सगुण ईश्वर की प्रतिष्ठा करने एवं उसकी भक्ति को मोक्ष प्राप्ति का एकमात्र साधन बताने के लिए शांकर अद्वैत का खण्डन आवश्यक था । रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैत मत में इसी आवश्यकता की पूर्ति हुई । शंकराचार्य ने जहां केवल एक पदार्थ ब्रह्म को ही स्वीकार करके अद्वैतवाद की संज्ञा सार्थक की थी, वहां इसके विपरीत रामानुजाचार्य ने तीन पदार्थ माने-- चित,अचित तथा ईश्वर । परम तत्व ईश्वर की ही भांति चित् और अचित अथवा जीव और जगत भी नित्य और स्वत: स्वतन्त्र हैं तथापि उनके भीतर ईश्वर अन्तर्यामी रूप में विद्यमान रहने के कारण वे ईश्वर के अधीन रहते हैं । उनका ईश्वर सर्वदा निर्गुण ही रहता है । निर्गुण ब्रह्म का अर्थ केवल यही है कि ईश्वर प्राकृत तथा लौकिक गुणों से रहित है । चित तथा अचित उसके शरीर हैं,पर चित अंश अचित अंश से भिन्न है ।

रामानुजाचार्य का ईश्वर प्राकृत गुणों से रहित होने के कारण निर्गुण है, साथ ही अप्राकृत गुणों के धारण करने के कारण सगुण और सविशेष है । वह चिद्विशेष रूप में जगत का उपादान है । वह सृष्टि कर्ता,कर्म-फल दाता नियन्ता तथा सर्वान्तर्यामी है । उसकी शक्ति माया है । वह शंख,चक्र,गदा, पद्मधारी चतुर्भुज है । उसका नाम विष्णु है । लक्ष्मी उसकी पत्नी है तथा वैकुण्ठ उसका निवासस्थान है । वह समस्त जगत् में व्याप्त है । यह दृश्यमान् जगत् उसका शरीर है । वस्तुत: ब्रह्म ही जगत् रूप में परिणत हुआ है फिर भी वह निराकार है । जगत सत्य है, मिथ्या नहीं । जीव भी ब्रह्म का शरीर है । जीव और ब्रह्म दोनों चेतन हैं पर ब्रह्म पूर्ण है और जीव उसका अंश है । इस प्रकार दोनों में अंश अंशी का सम्बन्ध हुआ । ब्रह्म स्वामी है,जीव दास । मुक्तावस्था में भी जीव ईश्वर का दास रहता है । रामानुजाचार्य के मतानुसार भगवान के दासत्व की प्राप्ति ही मुक्ति है । मुक्ति का श्रेष्ठ साधन उपासनात्मक भक्ति है । भक्ति और ध्यान से प्रसन्न होने पर ही भगवान मुक्ति प्रदान करते हैं । भक्ति में प्रपत्ति या पूर्ण आत्म समर्पण का सर्वश्रेष्ठ स्थान है । रामानुजाचार्य ने विष्णु के दशावतार को मान्यता दी है तथा अवतार का प्रयोजन

दुष्टों का विनाश तथा साधुओं का परित्राण माना है । उनके मतानुसार ईश्वर जीव के संचित पापों का नाश करता है, पर जीव अपने वर्तमान जन्म में सदाचारादि अच्छे कर्मों के लिए स्वयं उत्तरदायी है, इसलिए प्रपत्ति श्रेष्ठ है । इस प्रकार रामानुजाचार्य ने जहाँ एक ओर सम्पूर्ण आत्म समर्पण पर जोर दिया है, वहाँ दूसरी ओर मुक्ति के लिए सदाचार और सत्कर्मों की आवश्यकता को भी महत्व दिया है । रामानुजाचार्य के अनुसार सृष्टि भगवान की लीला है तथा उसका संहार ईश्वर की विशिष्ट लीला है । सृष्टि-निर्माण और उसके संहार में ईश्वर आनन्द का अनुभव करता है, पर सृष्टि को नित्य मानने के कारण उन्होंने ईश्वर को दो प्रकार का माना है--(१) कारणस्थ ब्रह्म, (२) कार्यस्थ ब्रह्म । प्रलयकाल में जीव और जगत् के ब्रह्म में सूक्ष्मरूप से अवस्थित होने के कारण तत्सम्बद्ध ईश्वर कारण ब्रह्म कहलाता है तथा सृष्टिकाल में स्थूल रूप में हो जाने के कारण वही 'कार्य ब्रह्म' कहलाता है । यही जीव, जगत और ईश्वर का अद्वैत है । यही सगुण ईश्वर भक्तों पर अनुग्रह करने के लिए पर, व्यूह, विभव, अन्तर्यामी तथा अर्चावतार आदि पांच रूप धारण करता है । इस प्रकार शांकर मत में निरूपित कोरे ज्ञान मार्ग का खण्डन करके रामानुजाचार्य ने ब्रह्म, जीव और जगत का स्वतन्त्ररूप से निरूपण करके सगुणोपासना एवं भक्ति की प्रतिष्ठा की ।

द्वैताद्वैतवाद

इसके प्रवर्तक निम्बार्काचार्य माने जाते हैं । रामानुज के बाद वे प्रथम वैष्णव आचार्य थे । उनका समय विक्रम की बारहवीं शताब्दी माना जाता है । इनका सिद्धान्त भेदाभेद या द्वैताद्वैत कहा जाता है । दार्शनिक दृष्टि से ये रामानुज के अधिक समीप जान पड़ते हैं । इन्होंने रामानुज के समान चित्, अचित् और ईश्वर के भेद को स्वीकार किया है । ईश्वर के सम्बन्ध में रामानुज और निम्बार्क की कल्पना एक सी है । निम्बार्काचार्य का विचार है कि दृश्यमान् जगत के भीतर अन्तर्यामी नारायण व्याप्त है । जीव और ईश्वर में भेद-अभेद का सम्बन्ध नित्य और सर्वत्र है । जब जीव शरीर के व बन्धन में बंधा रहता है तब वह ईश्वर से भिन्न होता है, उस समय ब्रह्म व्यापक, सर्वज्ञ, महत् परिणाम वाला होता है और जीव व्याप्य अल्पज्ञ तथा अणु परिणाम वाला होता है । यह भिन्नता सिद्ध हुई किन्तु ईश्वर और जीव अभिन्न भी है

ईश्वर और जीव की यह अभिन्नता तथा भिन्नता उसी प्रकार है, जिस प्रकार वृक्ष के से पत्र उत्पन्न होकर भिन्न भी होता है और अभिन्न भी, दीपक से प्रभा भिन्न भी है और अभिन्न भी । मोक्ष-दशा में भी जीव ब्रह्म से अभिन्न होने पर भी अपने स्वरूप को नहीं खोता है । रामानुज की भांति निम्बार्क भी भगवत्-अनुग्रह को सर्वस्व मानते हैं और जीव को 'प्रपत्ति' का उपदेश देते हैं । जब तक शरीर है तब तक मुक्ति असम्भव है । रामानुज तथा निम्बार्क के उपास्य के स्वरूप में थोड़ा सा अन्तर है । रामानुज लक्ष्मीनारायण (विष्णु) की उपासना पर जोर देते हैं किन्तु निम्बार्क (राधा-कृष्ण) को अपना आराध्य मानते हैं । सृष्टि की कल्पना में भी रामानुज और निम्बार्क में थोड़ा अन्तर है । जहां रामानुज जीव, जगत विशिष्ट ईश्वर को मानते हैं, वहां जीव व जगत को निम्बार्क ईश्वर की शक्ति ही मानते हैं । जगत को दोनों परिणाम मानते हैं। ~~लेकिन निम्बार्क शक्ति का~~ रामानुज विशेषणभूत प्रकृति का परिणाम मानते हैं तो निम्बार्क शक्ति का । अत: जगत परिणामी व ईश्वर से भिन्न होने पर भी ब्रह्म पर अपनी जड़ता आदि का प्रभाव नहीं डाल पाता । इस प्रकार दोनों में भेद भी है और अभेद भी ।

रामानुज और निम्बार्क में एक अन्तर यह भी है कि रामानुज 'भेद' को प्रमुख न मानकर 'अभेद' को मानते हैं । परन्तु निम्बार्क इसके विपरीत भेद पर अधिक जोर देते हैं । निम्बार्क का प्रभाव मथुरा और बंगाल प्रान्त में विशेष रूप से था ।

द्वैतवाद

इसके प्रवर्तक मध्वाचार्य माने जाते हैं । इनका समय विक्रम की तेरहवीं सदी के उत्तरार्द्ध से चौदहवीं सदी के प्रारम्भ तक स्वीकार किया जाता है । मध्वाचार्य ने अपने पूर्व के सभी दार्शनिकों के पूर्ण विरोध में द्वैत मत की प्रतिष्ठा की । शंकराचार्य ने केवल अद्वैत की प्रतिष्ठा की थी । रामानुज ने शंकर के अद्वैत वाद का खण्डन अवश्य किया है, परन्तु अन्तत: वे अद्वैतवादी ही हैं, क्योंकि रामानुज ने भेद को स्वीकार करके भी अभेद को ही मुख्य माना है । निम्बार्क ने भी अपने दार्शनिक सिद्धांत 'भेदाभेद' में भी भेद के साथ-साथ अभेद को ह भी स्वीकार किया है । इस प्रकार मध्व

के पूर्व सभी वेदान्त के आचार्य अभेदवादी हैं, किन्तु मध्वाचार्य ही प्रथम आचार्य हैं, जिन्होंने पूर्ण भेद या द्वैत की प्रतिष्ठा की। उन्होंने अद्वैत के साथ द्वैत या भेद के साथ अभेद का समझौता नहीं स्वीकार किया। मध्वाचार्य के अनुसार पांच प्रकार के भेद शाश्वत हैं :-

(१) ईश्वर व जीव का भेद -- ईश्वर सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् है और जीव अल्पज्ञ है, अल्प शक्तिवान।

(२) ईश्वर व जड़ जगत में भेद -- ईश्वर चेतन और जगत जड़ है। प्रथम स्रष्टा है द्वितीय सृष्टि।

(३) जीव व जगत में भेद -- जीव चेतन है जगत जड़ है।

(४) जीव व जीवों में भेद -- जीव अनेक हैं। उनके अनुभवों में भेद है। मोक्षा-वस्था में भी जीवों के अनुभवों में भेद होता है।

(५) जड़ और जड़ में भेद -- दो जड़ पदार्थों जैसे पेड़ और पत्थर में भेद है।

मध्वाचार्य दो मूल तत्त्व मानते हैं-- एक स्वतन्त्र और दूसरा परतंत्र। जीव और जड़ जगत परतन्त्र है। भगवान स्वतन्त्र है। ब्रह्म के स्वरूप के सम्बन्ध में मध्वाचार्य का स्पष्ट मत है कि निर्गुण ब्रह्म मिथ्या है। ब्रह्म तो सगुण है जो अनन्त गुणों का भण्डार है। निर्गुण सूचक वेद की उक्तियां केवल ईश्वर के हेय गुणों का निराकरण करती हैं। ईश्वर की शक्ति लक्ष्मी है। वह भी परमात्मा से भिन्न है, पर भगवान के पूर्ण आश्रित है।

जीव

मध्व ने जीवों को तीन कोटियों में बांटा है --
(१) मुक्ति योग्य-देव ऋषि आदि, (२) नित्य संसारी-सामान्य जन, (३) तमोयोग्य यथा पिशाच, राक्षस आदि। जब संसार में जीव समान नहीं हैं तो जीव ईश्वर समान कैसे हो सकते हैं। जीव और ईश्वर की प्रत्येक स्थिति में भिन्नता रहती है।

जगत

सृष्टि का उपादान कारण `प्रकृति` है । ईश्वर केवल निमित्त कारण है । इस प्रकार मध्वाचार्य जगत को सत्य मानते हैं ।

शुद्धाद्वैतवाद

शुद्धाद्वैतवाद के आदि प्रवर्तक आचार्य विष्णु स्वामी माने जाते हैं, किन्तु इस सम्प्रदाय का पूर्ण विकास वल्लभाचार्य द्वारा हुआ ।आचार्य वल्लभ के दार्शनिक मतानुसार ब्रह्म माया से अलिप्त है । ब्रह्म परस्पर विरुद्ध धर्मों का आश्रय है । ब्रह्म एक होकर भी अनेक है, स्वतन्त्र होकर भी भक्तों के अधीन है । वह विजातीय सजातीय तथा स्वगत इन तीनों भेदों से रहित है । विजातीय जड़ सृष्टि ब्रह्म से भिन्न नहीं है । उसी प्रकार सजातीय चेतन सृष्टि उससे अलग नहीं और स्वगत अन्तर्यामी रूप भी उससे भिन्न नहीं है । वह ब्रह्म रथी भी है रथ भी और सारथी भी-- एक ही सत्ता के तीन रूप हैं । तीनों तत्वत: एक हैं । ब्रह्म कृष्ण लीला रूप में चार रूपों को धारण कर लेता है-- वासुदेव (मुक्तिदाता का रूप), संकर्षण (शत्रु नाशक रूप), प्रद्युम्न (जीवनदाता रूप) तथा अनिरुद्ध (धर्म-रक्षक रूप) । जिस प्रकार ब्रह्म सत्व,रज,तम इन तीन गुणों के कारण विष्णु, ब्रह्मा तथा शंकर में क्रमश: बदल जाता है,उसी प्रकार उपर्युक्त चार रूप भी उसी एक सत्ता के हैं । परब्रह्म कृष्ण सत् चित् आनन्दमय है । वल्लभाचार्य ने अद्वैत सिद्धि के लिए तीनों गुणों के आविर्भाव और तिरोभाव की कल्पना की है । ब्रह्म में उक्त तीनों गुण नित्य रूप से रहतेहैं,किन्तु लीला की इच्छा होने पर ब्रह्म अपने आनन्द गुण का तिरोभाव(लोप) कर जीव रूप में उसी प्रकार विस्तृत हो जाता है जैसे अग्नि से चिनगारियां निकलकर फैल जाती हैं । चिनगारी और अग्नि अभिन्न है । उसी प्रकार ब्रह्म और जीव में भी अभेद है । इसी प्रकार ब्रह्म,चित् तथा आनन्द दोनों का लोप कर जगत के रूप में अपना विस्तार करता है । जड़ जगत में केवल सत् गुण का आविर्भाव रहता है । प्रलयकाल में जगत व जीव के गुण परब्रह्म में मिल जाते हैं । इस प्रकार सत् चित् आनन्दमय ब्रह्म लीला करता है । यह जगत उसी का लीलाधाम है । जीव व जगत ब्रह्म का अंश होने से नित्य है ।

जीव

आचार्य वल्लभ ने जीव को अणु रूप माना है । वह ज्ञाता तथा ज्ञान स्वरूप है । वल्लभाचार्य के अनुसार जीव तीन प्रकार के हैं--शुद्ध, मुक्त और संसारी । जीव में सत् चित् का आविर्भाव रहता है, किन्तु आनन्द का तिरोभाव रहता है । परन्तु भगवान के अनुग्रह से वह आनन्द जीव में पुन: उत्पन्न हो जाता है, यदि जीव पुष्टि मार्ग का अनुगमन करे ।

जगत

शंकराचार्य जगत् को असत्य बताते हैं । रामानुज जगत को ब्रह्म का परिणाम मानकर सत्य कहते हैं । वल्लभाचार्य भी जगत को ब्रह्म का परिणाम मानते हैं, किन्तु उनका परिणामवाद अविकृत परिणामवाद है, जिसके अनुसार ब्रह्म जगत के रूप में ज्यों-का-त्यों परिणत हो जाता है । उसके रूप - परिवर्तन में किसी प्रकार का विकार नहीं आता है । वल्लभाचार्य माया को नहीं मानते हैं । सृष्टि-रचना ब्रह्म स्वयं अपनी इच्छा से, अपने ही द्वारा, अपनी लीला के लिए करता है । माया से रहित होने के कारण ही उनका सिद्धान्त शुद्धाद्वैत कहलाता है । वल्लभाचार्य के अनुसार श्रीकृष्ण की प्राप्ति ही मोक्ष है जो भगवान के अनुग्रह से ही संभव है ।

आलोच्यकाल का दार्शनिक विश्लेषण

वेदान्त की विभिन्न शाखाओं के आचार्यों की दार्शनिक मान्यताओं का विवेचन करने के अनन्तर आलोच्यकालीन कवियों की रचनाओं में प्राप्त दार्शनिक तत्वों का विवेचन करना अभीष्ट है । आलोच्यकाल के हिन्दी कृष्णकाव्य और रामकाव्य के समस्त कवियों की रचनाओं का अध्ययन करने के पश्चात् यह विदित होता है कि दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन या विश्लेषण करना उनका उद्देश्य नहीं था । वे लोग प्राय: भक्त थे और अपने इष्टदेव का गुणगान करना उनका लक्ष्य था, किन्तु उनकी भक्ति सम्प्रदायों की छाया में पल्लवित हुई थी

और ये सम्प्रदाय भक्ति के साथ-साथ ठोस दार्शनिक आधार पर संगठित थे । अतः
इन सम्प्रदायों में दीक्षित भक्तों पर तत्सम्बन्धित दार्शनिक मान्यताओं का प्रभाव
पड़ना अवश्यम्भावी था । इसलिए तात्त्विक वाद-विवादों से तटस्थ रहने पर भी
उक्त काल के कवियों में दार्शनिक विचारधाराओं के विषय में अप्रत्यक्ष रूप से भाव
आ गए हैं । इन कवियों ने दार्शनिक तत्वों को लेकर कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ-रचना नहीं
की, क्योंकि दर्शन की गुत्थियां सुलझाना उन्हें अभीष्ट नहीं था । आलोच्यकाल की
रचनाओं में कृष्णकाव्य अपेक्षाकृत अधिक साम्प्रदायिक है, इसका कारण कृष्ण कवियों
का सम्प्रदायविशेष से सम्बद्ध होना है । लेकिन रामकाव्य सम्प्रदायविशेष से प्रभावित
अवश्य है, किन्तु उस तरह से सम्बद्ध नहीं है, जिस प्रकार कि कृष्ण परक रचनाएं ।
रामकाव्य में अधिकतर तुलसीदास की ही रचनाओं में दार्शनिक तत्व मिलते हैं ।
किन्तु तुलसीदास समन्वयवादी थे । वे सम्प्रदायों की परिधि से ऊपर उठ चुके थे ।
उनका दर्शन एक अलग मानव दर्शन है, जो किसी भी दार्शनिक सम्प्रदाय की संकीर्ण
परिधि में नहीं आता है, अपितु सभी दार्शनिक सम्प्रदायों की मान्यताओं को अपने
में समाहित किए हुए है ।

कृष्णकाव्य के अन्तर्गत वल्लभीय, राधा वल्लभीय तथा
निम्बार्क सम्प्रदाय के हिन्दी कवियों में दार्शनिक तत्वों का समावेश है, किन्तु
गौड़ीय सम्प्रदाय के हिन्दी कवियों में विशेष दार्शनिक सामग्री प्राप्त नहीं होती ।
रामकाव्य के अन्तर्गत केवल तुलसी में दार्शनिक विवेचन मिलता है । इस शाखा के
अन्य कवियों में दार्शनिक तत्वों का संकेत मात्र है ।

हिन्दी कृष्णकाव्य वल्लभाचार्य के शुद्धाद्वैत मध्वाचार्य
के द्वैत तथा निम्बार्क के द्वैताद्वैत से प्रभावित है, जब कि रामकाव्य रामानुजाचार्य
के विशिष्टाद्वैत तथा आचार्य शंकर के अद्वैत से प्रभावित है । कृष्ण-कवियों के
आधार-ग्रन्थ ब्रह्मवैवर्त पुराण, हरिवंश पुराण, भागवत पुराण, गीता तथा संबंधित
सम्प्रदाय ग्रन्थ हैं । रामकाव्य के संस्कृत आधार ग्रन्थ विष्णु पुराण, रामपूर्व
तापनीय उपनिषद्, राम उत्तर तापनीय उपनिषद्, वाल्मीकि एवं अध्यात्म

रामायण, वेद और अन्य उपनिषद् ग्रन्थ हैं ।

अब आलोच्यकालीन कृष्ण परक एवं रामपरक रचनाओं का दार्शनिक तत्वों के आधार पर विश्लेषण किया जायगा । सुविधा के लिए दार्शनिक तत्वों को पांच भागों में विभक्त कर समस्त विस्तार को इन्हीं के अन्तर्गत समझने की चेष्टा की जायगी ।

(१) ब्रह्म या इष्टदेव,

(२) जीव,

(३) जगत,

(४) माया,

(५) मोक्ष ।

<u>ब्रह्म या इष्टदेव</u>

<u>कृष्णकाव्य</u> -- कृष्णकाव्यान्तर्गत वल्लभसम्प्रदाय के सूर, परमानन्ददास तथा नन्ददास आदि अष्टछाप के कवियों द्वारा ब्रह्म के स्वरूप का जो निरूपण आया है, वह बहुत कुछ शुद्धाद्वैत के सिद्धान्तों के अनुकूल है । आचार्य वल्लभ ने अपने ग्रन्थ अणुभाष्य में ब्रह्म का स्वरूप विवेचन करते हुए बताया है कि ब्रह्म निर्गुण सगुण अर्थात् उभयात्मक है, वह विरुद्ध धर्मों का आश्रयस्थान है । ब्रह्म अविकृत परिणामी है । वह सत्-चिद्-आनन्द तीनों गुणों से पूर्ण है। ब्रह्म पूर्ण पुरुषोत्तम, अक्षर, सर्वशक्तिमान्, स्वतन्त्र, व्यापक, अनन्त, षड्गुणोपेत श्रीकृष्ण है। सूरदास तथा अन्य अष्टछाप के कवियों में ब्रह्म का विवेचन कर उपरोक्त प्रकार से ही सम्पन्न हुआ है, क्योंकि ये कवि वल्लभ सम्प्रदाय में दीक्षित थे ।

<u>ब्रह्म अविकृत परिणामी है</u> -- शुद्धाद्वैत के अनुसार जीव और जगत ब्रह्म का विकार रहित परिणाम है । ब्रह्म स्वयं जीव और जगत के रूप में परिवर्तित हो जाता है, जिसको आविर्भाव कहते हैं । जब सृष्टि का लय होता है, तब इन तत्वों -- जीव और जगत् का ब्रह्म में लोप हो जाता है जिसे तिरोभाव कहते हैं । इस प्रकार ब्रह्म अंशी और जीव तथा जगत उसके अंश हैं । सूरदास ने ब्रह्म के

अविकृत परिणामवादी ब्रह्म का कथन `जल और बुदबुद` तथा नन्ददास ने `कनक कुण्डल` के न्याय से व्यक्त किया है[1]।

<u>ब्रह्म विरुद्ध धर्मों का आश्रय है</u> -- वल्लभाचार्य के अनुसार ब्रह्म समस्त गुणों का आश्रय है, चाहे वे गुण आपस में एक-दूसरे के विरोधी हों, इसको ब्रह्म की विरुद्ध धर्माश्रयता का गुण कहते हैं। ब्रह्म के इस गुण को वल्लभाचार्य ने अपने ग्रन्थ `तत्त्व दीप निबन्ध` शास्त्रार्थ प्रकरण में स्पष्ट किया है। इसी के अनुकूल सूरदास परमानन्ददास आदि ने कृष्ण के निर्गुण-सगुण दोनों स्वरूपों का एकसाथ वर्णन किया है। सूर का कथन है कि जिस ब्रह्म को वेद-उपनिषद् निर्गुण बतलाते हैं, वही सगुण होकर नन्द की दावरी में बंधता है[2]।

<u>ब्रह्म अद्वैत एवं रस स्वरूप है</u> -- सूरदास ने ब्रह्म, जीव, जगत, की अद्वैतता स्वीकार की है तथा परब्रह्म और श्रीकृष्ण का एकीकरण किया है। श्रीकृष्ण पूर्ण पुरुषोत्तम परब्रह्म हैं। वह रस-स्वरूप हैं, अखण्डित हैं और अनादि अनुपम हैं। सृष्टि के आदि में वही थे। सम्पूर्ण जीव और जगत उसी परब्रह्म श्रीकृष्ण का अंश है[3]। निम्न पद में सूरदास ने श्रीकृष्ण को रस-रूप, सदानन्द तथा अद्वैत सिद्ध किया है।

----

१ सूर -- ज्यों पानी में होत बुदबुदा पुनि ता मांहि समाही।
त्योंही सब जग कुटुम्ब तुमहिं तें पुनि तुम मांहि बिलाहीं ।।
(सूरसागर, पृ०५६५)

नन्ददास --एकहि वस्तु अनेक है जगमगात जग धाम।
ज्यों कंचन ते किंकनी, कंकन कुण्डल नाम ।। (नन्ददास, पृ०६८)

२ वेद उपनिषद यश कहै, निर्गुण नाहिं बतावै।
सोइ सगुन होय नन्द की दावरी बंधावै ।। (सूरसागर, पृ० २)

३ सदा एक रस एक अखंडित आदि अनादि अनुप।
कोटि कल्प बीतत नहिं, जानत विहरत जुगल स्वरूप।
सकल तत्त्व ब्रह्माण्ड देव पुनि माया सब विधि काल।
प्रकृति पुरुष श्रीपति नारायण सब है अंश गुपाल।
--सूरदास (सूरसारावली वें०प्रे०, पृ०३८)

<u>ब्रह्म की शुद्ध अद्वैतता</u> -- मैं पहले एक ही था । मैं अमल, अकल, अज हूं । परन्तु एक होने पर भी अनेक रूपों में अनेक वेशों में दीखता हूं । अन्त में अपने इन गुणों को छोड़कर मैं ही रह जाऊंगा । हरि आदि, सनातन, अविनाशी और निरन्तर घट-घटवासी हैं । इस प्रकार के शुद्धाद्वैत मूलक कथन सूरदास ने ब्रह्म के सम्बन्ध में किए हैं[१] ।

<u>ब्रह्म की व्यापकता</u> -- एक स्थान पर श्रीकृष्ण की सर्व-व्यापकता उनके विराट स्वरूप के बारे में सूरदास लिखते हैं कि हम अपने नयनों से श्रीकृष्ण की छवि देखें । वे घट घट वासी हैं । वे अनुपम ज्योति स्वरूप हैं । पाताल उनके चरण हैं, आकाश उनका मस्तक है तथा सूर्य, चन्द्र आदि उनका प्रकाश है[२] ।

सूरदास की भांति परमानन्द दास ने भी अपने पदों में वल्लभ सिद्धान्तों के अनुकूल ही ब्रह्म का उल्लेख किया है । किन्तु उन्होंने अपने काव्य में ईश्वर, जीव, जगत आदि के बारे में वैसा स्पष्ट विवेचन नहीं किया है, जैसा सूरदास ने किया है । उनका काव्य भाव और भक्ति प्रधान है, फिर भी उनके कुछ पदों में ब्रह्म अथवा ईश्वर के स्वरूप आदि के विषय में संकेत अवश्य है । परमानन्ददास वल्लभ सम्प्रदाय में दीक्षित होने के कारण ब्रह्म के रसरूप के उपासक थे । वल्लभ सिद्धान्त के अनुसार वे मानते थे कि श्रीकृष्ण ही साक्षात् परब्रह्म परमात्मा हैं ।

१(क) पहिले हौं ही हौं तब एक ।
अमल अकल अज भेद विवर्जित सुनि विधि विमल विवेक
सो हौं एक अनेक भांति करि शोभित नाना भेष ।
ता पाछें इन गुननि गये तें हौं रहिहौं अवशेष ।। (सूरसागर २।३८, पृ० २२७)

(ख) आदि सनातन हरि अविनाशी ।
सदा निरन्तर घट-घट वासी ।। (सूरसागर १०।३, पृ० २५५)

२ नैननि निरखि स्याम स्वरूप ।
रह्यौ घट घट व्यापि सोई, ज्योति रूप अनूप ।
चरन सप्त पाताल जाके, सीस है आकास ।
सूर्य चन्द्र नक्षत्र पावक सर्व तासु प्रकास ।। (सूरसागर, पृ० ३७०)

कृष्ण ही इस सृष्टि में 'एकोऽहं बहुस्याम' (तैत्तिरीय उपनिषद्) के आधार पर अनेक रूप धारण करते हैं और उन्हीं को वेद 'नेति नेति' कहते हैं[१] ।

परब्रह्म गुण रहित तथा सगुण दोनों है । निर्गुण ब्रह्म ही सगुण रूप धारण करता है । इस प्रकार वल्लभ सिद्धान्तानुसार ब्रह्म का विरुद्ध धर्माश्रयत्व सिद्ध होता है[२] । एक स्थान पर परमानन्ददास ने लिखा है कि नन्दकुमार आनन्द के निकेत हैं । वे मनुष्य जन्म लेकर भक्तों के लिए अनेक प्रकार की लीलाएं करते हैं[३] । इस प्रकार ब्रह्म के आनन्द स्वरूप का विवेचन स्पष्ट है ।

वल्लभ मतानुसार परब्रह्म भगवान कृष्ण रस स्वरूप हैं । उनका धाम भी रस रूप है । परमानन्द दास ने भगवान कृष्ण के सब रूपों से परे रसरूप को ही विशेष महत्व दिया है[४] ।

सूरदास परमानन्ददास आदि अष्टछाप के कवियों की भांति नन्ददास ने भी कृष्ण के परब्रह्म होने का भाव व्यक्त किया है । श्रीकृष्ण आनन्द और रस मूर्ति हैं । वे ही सारे जगत के आधार हैं । वे सर्वव्यापी हैं, अखण्ड स्वरूप हैं । वे अनन्त और अद्वैत हैं । सभी जीवों में उन्हीं का आविर्भाव है । प्रेम से ही भक्त उन्हें प्राप्त कर सकते हैं[५] । इसी प्रकार ब्रह्म की अद्वैतता,

---

१ मोहन नंद राय कुमार ।
प्रकट ब्रह्म निकुंज नायक भक्त हेत अवतार ।
+ + +
दास परमानन्द स्वामी बेद बोलत नेति ।। (अष्टछाप, भाग २, पृ० ४२०)

२ हंसत गोपाल नन्द के आगे नन्द स्वरूप न जाने ।
निर्गुन ब्रह्म सगुन धरि लीला, ताहिब सुत करि माने ।
+ + +
परमानन्द स्वामी मन मोहन खेल रच्यो ब्रजनाथ । (अष्टछाप, भाग २, पृ० ४२०)

३ आनन्द की निधि नन्दकुमार ।
परब्रह्म भेष नानाकृत जगमोहन लीला अवतार । (अष्टछाप, भाग २, पृ० ४११)

४ रसिक शिरोमणि नन्द नन्दन ।
रस में रूप अनूप बिराजत गोप बधू उर सीतल चन्दन ।
डा० दीनदयाल गुप्त : 'अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय', पृ० ४११

५ सब घट अन्तरयामी स्वामी परम एक रस ।
नित्य आत्मानन्द अखण्ड स्वरूप उदारा ।
केवल प्रेम सुगम्य अगम्य अपार पराकारा ।।
नन्ददास : 'सिद्धान्त पंचाध्यायी', पृ० १६१

अखण्डता तथा रस रूप का विवेचन वल्लभ सिद्धान्तानुसार दर्शनीय है[१]।

अपने ग्रन्थ `सिद्धान्त पंचाध्यायी` में नन्ददास ने परब्रह्म कृष्ण के षट्गुण (ऐश्वर्य,वीर्य,यश,श्री,ज्ञान, और वैराग्य) सम्पन्न होना सभी का आश्रय स्थान होना तथा अवतार धारण करना आदि लक्षणों का विवेचन किया है[२]।

इसी प्रकार नन्ददास ने ब्रह्म को अविकृत परिणामवादी माना है और जीव तथा जगत को ब्रह्म से उसी प्रकार उद्भूत माना है, जैसे सोने से कुण्डल बनता है, अन्त में कुण्डल टूटने पर सोना ही हो जाता है उसी प्रकार जीव और जगत अन्त में ब्रह्म में ही लीन हो जाता है[३]।

इसी प्रकार का कथन अष्टछाप के अन्य कवियों-- कृष्णदास,कुम्भनदास,चतुर्भुजदास,गोविन्द स्वामी तथा छीत स्वामी आदि में भी संकेत रूप में उपलब्ध है, किन्तु दार्शनिक तत्वों का विवेचन अधिकतर सूरदास परमानन्ददास तथा नन्ददास में ही प्राप्त होते हैं। अन्य अष्टछाप के कवियों ने ब्रह्म का रस रूप या आनन्दरूप में ही विवेचन किया है।

शुद्धाद्वैत के अतिरिक्त अन्य सम्प्रदायों के कवियों ने तो कृष्ण के आनन्दमय अथवा रसिक स्वरूप को ही सर्वत्र ग्रहण किया है[४]। कृष्ण का यह रसिक रूप छान्दोग्य उपनिषद् के `रसो वैसः` पर आधारित है। आचार्य

----

१ मोहन अद्भुत रूप कहि न आवै छवि ताकी।
अखिल अंड व्यापी जु ब्रह्म आभा कहु जाकी ।

+ + +

अस अद्भुत गोपाल लाल सब काल बसत जहं।
याही तें बैकुण्ठ विभव कुंठित लागत तंह ।।--नन्ददास :`रास पंचाध्यायी` पृ०१५६

२ षट गुन औ अवतार धरन नारायन जोई।
सब को आश्रय अवधि भूति नंद नन्दन सोई।।--नन्ददास :`सिद्धांत पंचाध्यायी` पृ०१८३

३ एकहि वस्तु अनेक है जगमगात जग धाम।
ज्यों कंचन ते किंकिनी कंकन कुण्डल नाम।। -- नन्ददास, पृ०६८

४ रसो वै सः। -- छान्दोग्य उपनिषद् ३ :१४ :२

वल्लभ के शुद्धाद्वैत सिद्धान्त में गोपरब्रह्म कृष्ण को रसरूप कहा गया है,किन्तु अद्वैतता की रक्षा के लिए उन्होंने राधाकृष्ण के युगल रूप को सिद्धान्त की दृष्टि से महत्व नहीं दिया है । भले ही पुष्टिमार्गीय उपासना पद्धति व में राधा कृष्ण की युगल मूर्ति को महत्व मिल गया हो,किन्तु वह भी विट्ठलनाथ के द्वारा आचार्य वल्लभ के बाद महत्व मिला है । द्वैताद्वैत तथा अचिन्त्य भेदवादी निम्बार्क तथा गौड़ीय सम्प्रदाय में द्वैत तथा भेद को अद्वैत तथा अभेद के साथ दार्शनिक दृष्टि से प्रतिष्ठा मिली । अतः राधाकृष्ण का युगल रूप द्वैताद्वैत तथा भेदाभेद को प्रतिष्ठित करने के लिए स्वीकार किया गया । राधा वल्लभीय तथा हरिदासी सम्प्रदाय में राधाकृष्ण के युगल रूप को स्वीकार किया गया है । क्योंकि केवल कृष्ण को ब्रह्म मानकर इन दार्शनिक सिद्धान्तों की अभिव्यक्ति असम्भव थी । ये दोनों सम्प्रदाय निम्बार्क सम्प्रदाय से अधिक साम्य रखते हैं ।

दार्शनिक दृष्टि से राधा कृष्ण के व युगल स्वरूप को सर्वप्रथम निम्बार्क द्वारा स्वीकार किया गया है । निम्बार्क सम्प्रदाय के अनुयायी कवि हरिव्यास देव ने कृष्ण को आनन्द स्वरूप माना है और राधा को आह्लादिनी शक्ति । यह दोनों सदैव अभिन्न रहते हैं[१] । स्वामी हरिदास का कथन है कि हम सब पिंजड़े में बद्ध पशु के समान हैं । भगवान की कृपा न हो तो कोई भी काम न चलेगा उनकी इच्छा के अनुसार सब कुछ होगा[२] ।

---

१ (क) प्रिया शक्ति आह्लादिनी प्रिय आनन्द स्वरूप ।-- निम्बार्क माधुरी,पृ०६३

(ख) सदा सर्वदा जुगुल इक,एक जुगुल तन धाम ।
आनन्द अरु आह्लाद मिलि विलसत है है नाम ।
--निम्बार्क माधुरी,पृ०६५

२ ज्यौं ही ज्यौंही तुम राखत हौ, त्यौंही त्यौं ही रहियतु हौं हरि ।
और अचरचे पाय धरौं सु तौ कहौं कौन के पैंड़ भरि ।
जदपि हौं अपनो भायो कियो चाहौं, कैसे करि सकौं जो तुम राखो पकरि ।
कहि हरिदास पिंजरा के जानवर लौं, तरफराइ रह्यौं उड़िबे को कितोउ करि ।
--कवि स्वामी हरिदास ब्रजमाधुरीसार,सं०वियोगीहरि,पृ०२५

अब तक ऐसे कवियों के ब्रह्म सम्बन्धी दार्शनिक विचारों का विश्लेषण किया गया, जो प्रत्यक्षत: अथवा अप्रत्यक्षत: किसी-न-किसी सम्प्रदाय से सम्बद्ध या प्रभावित थे । अत: उन पर तत्सम्बन्धित सम्प्रदाय विशेष की दार्शनिक मान्यताओं का अनुसरण स्वीकार किया जा सकता है, किन्तु आलोच्यकाल में कुछ ऐसे भी कृष्ण कवि हैं, जो सम्प्रदाय विशेष से असम्बद्ध रह कर भी स्वतन्त्र रूप से भगवान कृष्ण के साथ ब्रह्म रूप में भावात्मक तादात्म्य स्थापित किया । ऐसे सम्प्रदाय निरपेक्ष कवियों या कवयित्रियों में मीरा बाई का स्थान सर्वोपरि है । मीराबाई दार्शनिक मतभेदों से दूर रहकर शुद्ध भक्ति की साधना करना चाहती थी, फलस्वरूप उनकी यह ऐकान्तिक एवं व्यक्तिगत प्रेम-साधना भावात्मक स्तर पर माधुर्य भाव का रूप धारण कर लिया, किन्तु आराध्य के प्रति तन्मय होकर गुणगान करने से आराध्य के ऐश्वर्यशाली स्वरूप या उसके ब्रह्मत्व की प्रतिष्ठा स्वयमेव हो गई ।

मीरा ने परब्रह्म को सगुण और निर्गुण एकसाथ दोनों माना है । उन्होंने श्रीकृष्ण को अविनाशी की संज्ञा दी है और बताया है कि भगवान श्रीकृष्ण मेरे हृदय में सदैव निवास करते हैं, सूर्य,[1] चन्द्र, पृथ्वी, वायु, जल, आकाश का नाश हो जायगा, किन्तु कृष्ण स्थिर रहेंगे । मीराबाई भगवान कृष्ण के ऐश्वर्यशाली सगुण रूप पर मुग्ध हैं और उन्हें मोर[2] मुकुट, कुण्डल, मुरली आदि से सुशोभित साकार रूप में प्राप्त करना चाहती हैं ।

----

१ मेरे पिया, मेरे हिय बसत हैं, ना कहुं आती जाती ।
  चन्दा जायगा, सूरज जायगा, जायगी धरणि अकासी।
  पवन पाणी दोनु ही जायेंगे, अटल रहे अविनाशी ।
  मीराबाई की पदावली, सं०परशुराम चतुर्वेदी, पृ०८ ।

२ म्हारो प्रणाम बांके बिहारी जी ।
  मोर मुगट माथ्यां तिलक बिराज्यां, कुण्डल अलकारी जी ।
  अधर मधुर धर बंसी बजावां, रीझ रिझावां ब्रजनारी जी।
  या छब देख्यां मोह्यां मीरां मोहन गिरधरधारी जी ।
--मीराबाई की पदावली, सम्पा० परशुराम चतुर्वेदी, पृ०८

भगवान कृष्ण के सगुण रूप के अतिरिक्त उनके निर्गुण स्वरूप का कथन भी मीराबाई के पदों में मिलता है । इसका कारण मीराबाई पर निर्गुण सन्त मत का प्रभाव माना जा सकता है । मीरा के प्रियतम का सेज गगन मण्डल पे बिछा रहा करता है[१] । मीरा अपने साहब को `त्रिकुटी` महल में बने झरोखे से झांकी लगाकर देखने, `सुन्न महल` में सुरत जमाने या सुख की सेज बिछाने[२] के लिए आतुर जान पड़ती है[३] । उनका मन सुरत की आसमानी सैल में रम गया है । वे गुरु ज्ञान द्वारा अपने तन का कपड़ा रंग कर तथा मन की मुद्रा पहन कर `निरंजन` कहे जाने वाले के ही ध्यान में मग्न रहना चाहती है[४] ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मीराबाई ने जहां एक ओर `वैराग्य साधने`[५] के लिए उपदेश दिया है, उसी पद में भगवान से प्रेम करने के लिए भी कहा है । उनके आराध्य कृष्ण एक ओर जहां सन्तों के निर्गुण ब्रह्म के निर्विशेषत्व से विभूषित हैं तो दूसरी ओर सगुण ब्रह्म के सविशेषत्व से । किन्तु इन दोनों में मीरा की कृष्ण के सगुण स्वरूप में ही विशेष आस्था है, जैसा कि उपर्युक्त तथ्यों के विश्लेषण से स्पष्ट है ।

रामकाव्य

रामकाव्य के अन्तर्गत प्राणचन्द चौहान, हृदयराम, केशवदास आदि कवियों ने भगवान राम को ब्रह्म या उसका अवतार मान कर

---

१ गगन मण्डल पे सेज पिया की किस विधि मिलना होय ।

— मीराबाई की पदावली, सं० परशुराम चतुर्वेदी, पृ० २७

२ सुन्न महल में सुरत जमाऊं सुख की सेज बिछाऊं री ।

— मीराबाई की पदावली, सं० परशुराम चतुर्वेदी, पृ० ५

३ मीरा मन मानी, सुरत सैल असमानी ।

— मीराबाई की पदावली, सं० परशुराम चतुर्वेदी, पृ० २२

४ जाको नाम निरंजन कहिये, ताको ध्यान धरूंगी ।

५ हरिचिन्तु से हेत कर, संसार आसा त्याग ।

दास मीरां लाल गिरधर सहज कर वैराग ।

— मीराबाई की पदावली, सं० परशुराम चतुर्वेदी, पृ० २६

वर्णन किया है, किन्तु यह वर्णन सोद्देश्य न हो कर प्रासंगिक और संक्षेप में संकेत मात्र है । अग्रदास, नाभादास, मानदास आदि कवियों ने कृष्ण काव्य के प्रभाव से भगवान राम के रसिक रूप को ही ग्रहण किया है, किन्तु उपर्युक्त कवियों में से किसी ने भगवान राम के पूर्ण ब्रह्मत्व की प्रतिष्ठा लोक जीवन में नहीं की । इस दुस्तर कार्य को गोस्वामी तुलसीदास जी ने पूरा किया । तुलसीदास जी की रचनाओं में भगवान राम के पूर्ण ब्रह्मत्व का विवेचन सोद्देश्य और सांगोपांग प्राप्त होता है । अतः सर्वप्रथम हम तुलसी की कुछ सम्बन्धी धारणाओं का विश्लेषण करेंगे ।

गोस्वामी तुलसीदास के दार्शनिक दृष्टिकोण के सम्बन्ध में अभी तक जो कुछ भी विचार-विमर्श हुआ है, उसके अध्ययन एवं विश्लेषण से ज्ञात होता है कि अधिकांश विद्वानों ने तुलसीदास को अपनी मान्यता के आधार पर ही किसी-न-किसी दार्शनिक सम्प्रदाय का समर्थक बताया है । कुछ विद्वानों ने अद्वैतवादी अन्य विशिष्टाद्वैतवादी तथा कुछ द्वैतवादी सिद्ध करते हैं ।

महामहोपाध्याय गिरधरशर्मा ने तुलसीदास को अद्वैतवादी सिद्ध किया है[1] । यही मत नगेन्द्र वसु को भी मान्य है[2] । किन्तु भावुक भक्त जयरामदास जी तुलसीदास को विशिष्टाद्वैतवादी बताते हैं[3] ।

---

१ 'दावे के साथ कहा जा सकता है कि शांकर अद्वैत के विरुद्ध पड़ने वाले साम्प्रदायिक विचार रामायण में हैं ही नहीं ।'

-- तुलसी ग्रन्थावली, तृतीय खण्ड, पृ०१२७

२ 'रामायण में कई जगह शंकराचार्य का मत ग्रहण किया गया है ।'

-- हिन्दी विश्वकोष, भाग६, पृ०४८६

३ 'गोस्वामी तुलसीदास और अद्वैतवाद'

-- कल्याण वेदांक, पृ०६०१

बाबू श्यामसुन्दरदास और डा० बड़थ्वाल के अनुसार गोस्वामी जी का दर्शन अद्वैत से मिलता है और उसमें भेद भी रहता है[1]। पं० केशव प्रसाद मिश्र तुलसीदास को द्वैतवादी बताते हैं। उनका विचार है कि -- 'यों तो गोस्वामी जी की समन्वय बुद्धि सभी दार्शनिक सिद्धान्तों में अविरोध देखती है ..... पर उनके प्रस्थान के अनुरोध तथा ग्रन्थ के उपक्रम और उपसंहार के विचार से द्वैत सिद्धान्त और भक्ति पक्ष में ही उसका पर्यवसान प्रतीत होता है[2]।' आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल तुलसी को परमार्थतः अद्वैतवादी किन्तु भक्ति के व्यावहारिक दृष्टि से विशिष्टाद्वैतवादी बताते हैं[3]। आचार्य शुक्ल का यह विचार डा० बलदेवप्रसाद मिश्र को भी अंशतः मान्य है[4]।

उक्त विद्वानों के विचारों से पता चलता है कि इन विद्वानों ने मानस की कुछ पंक्तियों के आधार पर ही अपने विचार स्थिर किए हैं। तुलसी के समस्त ग्रन्थों को महत्त्व नहीं दिया है। इसलिए उनके विचार एकांगी हो गए हैं, किन्तु जब हमें तुलसी का दार्शनिक दृष्टिकोण स्थिर करना है तो उनकी सभी रचनाओं में प्राप्त दार्शनिक तत्वों का विश्लेषण करना आवश्यक होगा। तुलसी की समस्त रचनाओं का दार्शनिक दृष्टि से अध्ययन करने के अनन्तर हमें पता

---

१ डा० श्यामसुन्दरदास : गोस्वामी तुलसीदास, अध्याय १३

२ कल्याण मानसांक, खण्ड२, पृ०९७७

३ 'परमार्थ दृष्टि से शुद्ध ज्ञान की दृष्टि से तो अद्वैत मत गोस्वामी जी को मान्य है, परन्तु भक्ति के व्यावहारिक सिद्धान्त के अनुसार भेद करके चलना वे अच्छा समझते हैं।'

-- तुलसी ग्रन्थावली, तृतीय खण्ड, पृ० १४५

४ तुलसी दर्शन डा० बलदेव प्रसाद मिश्र : 'तुलसी दर्शन', पृ०२१३

कहना है कि तुलसी साहित्य में समस्त दार्शनिक सम्प्रदायों के मूल तत्व सन्निहित हैं। विशेषतया समस्त आस्तिक दर्शनों के मान्य तत्व तुलसी को मान्य हैं। वेदान्त के सभी सम्प्रदायों -- अद्वैत, विशिष्टाद्वैत आदि के तत्वों का स्पष्टीकरण तो तुलसी साहित्य का विवेच्य विषय ही है, किन्तु किसी भी सम्प्रदाय विशेष के कुछ तत्वों को पाकर हम तुलसीदास को सम्प्रदाय विशेष से आबद्ध नहीं कर सकते हैं, बल्कि वे समस्त सम्प्रदायों की मान्यताओं को मानते हुए भी उनसे कुछ भिन्न भी हैं। मेरी दृष्टि से तुलसी का एक अलग दर्शन है, जिसमें अध्यात्म और भक्ति का अद्भुत सम्मिश्रण है, जिसमें बुद्धि और हृदय का तादात्म्य है और जिसमें सभी भारतीय चिन्तन-धाराओं का मधुकरी वृत्ति से समन्वय करके एक अलग अध्यात्म रस तैयार किया गया है, जिसे हम राम-भक्ति-दर्शन रस कह सकते हैं। इस रामभक्ति दर्शन को स्थिर करने के लिए तुलसीदास ने वेद, पुराण, उपनिषद्, गीता, ब्रह्मसूत्र आदि उन्हीं दार्शनिक ग्रन्थों से प्रेरणा ग्रहण की जो प्रस्थानत्रयी की कोटि में रखे जाते हैं और जिनसे शंकराचार्य रामानुज आदि ने प्रेरणा ली। इस प्रकार मेरी दृष्टि में तुलसीदास उपनिषदों के अधिक नजदीक हैं, अपेक्षाकृत शंकर और रामानुज आदि के भाष्य ग्रन्थों के।

अब हम क्रम से तुलसीदास तथा अन्य राम कवियों की दार्शनिक विचारधाराओं का तटस्थ होकर विश्लेषण करेंगे, और विश्लेषण के अनुसार ही उनके बारे में कोई निश्चित मत स्थिर कर सकेंगे। सर्वप्रथम इष्टदेव या ब्रह्म सम्बन्धी मान्यताओं का विश्लेषण करना ही समीचीन है।

ब्रह्म

ब्रह्म के निर्गुण सगुण दो स्वरूप उपनिषदों से ही मान्य हैं। आचार्य शंकर ने केवल निर्गुण ब्रह्म को और रामानुज तथा वल्लभाचार्य ने केवल सगुण ब्रह्म को ही पारमार्थिक सत्य माना है। तुलसीदास ने इन दोनों

दो रूपों को परमार्थत: सत्य माना है[1] और दोनों में अभेद भी स्थापित किया है[2]। ब्रह्म वास्तव में निर्गुण है, किन्तु वही निर्गुण ब्रह्म राम के रूप में देह धारण करके अनेक लीलाएं किया[3]। इस प्रकार तुलसीदास ने निर्गुण ब्रह्म और अपने इष्टदेव राम का तादात्म्य सर्वत्र स्थापित किया है और उनको वेदोक्त ब्रह्म सिद्ध किया है[4]। राम ही परमेश्वर और समस्त चेतना के मूल स्रोत हैं। वे ही मायाधीश और जगत को प्रकाशित करने वाले हैं[5]। जो ब्रह्म निर्गुण और निरंजन है वही प्रेम भक्ति के कारण राम रूप में कौशल्या की गोद में खेल रहा है[6]। वही निर्गुण भक्तों के लिए साकार होकर अनेक लीलाएं करता है[7]। इस बात को तुलसीदास ने कई स्थलों पर

---

१ अगुन सगुन दुइ ब्रह्म सरूपा ।
अकथ अगाध अनादि अनूपा ।।
-- रा०च०मा०, बाल० २३।१

२ सगुनहि अगुनहि नहिं कछु भेदा । गावहिं मुनि पुरान बुध बेदा ।।
-- रा०च०मा०, बाल०, पृ० ११६

३ एक अनीह अरूप अनामा । अज सच्चिदानन्द पर धामा ।
व्यापक विश्व रूप भगवाना । तेहि धरि देह चरित कृत नाना ।।
-- रा०च०मा०, बाल०, पृ० १३

४ आदि अन्त कोउ जासु न पावा । मति अनुमानि निगम अस गावा ।
बिनु पद चलइ सुनइ बिनु काना । कर बिनु करम करइ बिधि नाना ।
अस सब भांति अलौकिक करनी । महिमा जासु जाइ नहिं बरनी ।
जेहि इमि गावहिं बेद बुध, जाहि धरहिं मुनि ध्यान ।
सोइ दसरथ सुत भगतहित, कोसलपति भगवान ।।
--रा०च०मा०, बाल०, पृ० २१८

५ बिषय करन सुर जीव समेता । सकल एक तें एक सचेता ।
सब कर परम प्रकासक जोई । राम अनादि अवधपति सोई ।।
जगत प्रकास्य प्रकासक रामू । मायाधीश ज्ञान गुन धामू ।
--रा०च०मा०, बाल०, पृ० ११७

६ व्यापक ब्रह्म निरंजन निर्गुन बिगत बिनोद ।
सो अज प्रेम भगति बस, कौसल्या के गोद ।।--रा०च०मा०, बाल०, पृ० १९८

७ व्यापक अकल अनीह अज निर्गुन नाम न रूप ।
भगत हेतु नाना बिधि करत चरित्र अनूप ।।-- ,, ,, पृ० २०५

अनेकों प्रकार से कहा है । एक स्थल पर लक्ष्मण ने निषाद को समझाते हुए राम के निर्गुण ब्रह्मत्व की घोषणा की है[1]। यह निर्गुण ब्रह्म ही सर्वान्तर्यामी है,क्योंकि अन्तर्यामी रूप में ही ब्रह्म सर्वव्यापक होगा । निराकार ब्रह्म ही सर्वव्यापकत्व से अभिहित किया जा सकता है । साकार ब्रह्म में एकरूपता और एकदेशीयता आ जाती है और वह सर्वव्यापक,सर्वदेशीय,सर्वान्तर्यामी नहीं हो सकता है,इसलिए जहां ब्रह्म के रूप की चर्चा की गई है, वहां कोई विशेष आकार न बता कर उसकी विश्वरूपता का ही वर्णन कर दिया गया है,जिससे उसका सर्वान्तर्यामी रूप सिद्ध हो सके । तुलसीदास ने भी भगवान राम को अपने ग्रन्थों में सर्वव्यापक,सर्वान्तर्यामी सिद्ध किया है और बतलाया है कि सम्पूर्ण जगत भगवान राम का अंश है ।

तुलसीदास ने ब्रह्म के निर्गुण स्वरूप का कथन करते हुए उसका पर्यवसान सगुण ब्रह्म में ही किया है और घोषित किया है कि वास्तव में निर्गुण ब्रह्म साकार राम ही हैं । जैसा कि हम पहले देख चुके हैं । जहां उन्होंने ब्रह्म का पूर्ण सगुणत्व घोषित किया है,वहां तुलसी के सगुण ब्रह्म राम रामानुज के ब्रह्म की भांति पूर्ण सगुण ब्रह्म हैं । उनके अमित गुण हैं,किन्तु ये गुण प्राकृत न होकर अप्राकृत हैं । वे स्वभावत: करुणामय हैं । उनकी यह करुणा अहेतुकी है । वे अवतार धारण करते हैं । उनके अवतार धारण का एकमात्र प्रयोजन है, भक्त का कल्याण और दुष्टों तथा असुरों का संहार कर, सज्जनों का कष्ट हरण करते हुए ब्राह्मण,पृथ्वी और गौ का उद्धार करना[2]। ये तीनों ऐश्वर्य विभूतियों

---

१ राम ब्रह्म परमारथ रूपा । अविगत अलख अनादि अनूपा ।
सकल विकार रहित गतभेदा। कहि नित नेति निरूपहिं बेदा ।।
--रा०च०मा०,अयो०,पृ०६३

२ (क) जब जब होइ धरम कै हानी । बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी ।
+ + + +
तब तब प्रभु धरि बिबिध सरीरा । हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा ।।
--रा०च०मा०,बाल०,पृ०१२१

(ख) बिप्र धेनु सुर सन्त हित, लीन्ह मनुज अवतार ।

शाल,शक्ति और सौन्दर्य से पूर्ण हैं। वे नारायण के षड्गुणों --ज्ञान, शक्ति,ऐश्वर्य,बल,वीर्य,तथा तेज से युक्त हैं। वे अनाथों के नाथ और अशरण के शरण हैं। भगवान राम ने सगुण साकार रूप धारण करके मनुष्यों की तरह अनेक लीलाएं किया है। भगवान के इस सगुण स्वरूप को काग-भुशुण्डि गरुड़ को समझाते हैं[१]।

विनयपत्रिका में भी भगवान राम के निर्गुण सगुण दोनों स्वरूपों के स्पष्ट कथन मिल जाते हैं। इसमें तुलसीदास सभी मतों से ऊपर उठ कर आत्मज्ञान का उपदेश देते हैं[२]। विनय पत्रिका में तुलसीदास का भक्त स्वरूप उभर कर सामने आ गया है और भक्ति के आलम्बन सगुण राम के प्रति तुलसीदास समर्पित हैं। राम की अहेतुकी कृपा के लिए लालायित हैं। तुलसी के राम अपनी माया के द्वारा ही सृष्टि की रचना तथा अन्य कार्य करते हैं और निर्गुण से सगुण हो जाते हैं। भगवान राम की कृपा से ही इस संसार से मुक्ति सम्भव है तथा सांसारिक माया-मोह का भ्रम विनष्ट हो सकता है[३]।

---

१ भगत हेतु भगवान प्रभु, राम धरेउ तनुभूप।
किए चरित पावन परम, प्राकृत नर अनुरूप ।।--रा०च०मा०,उत्तर०,पृ०७२

२ केशव कहि न जाइ का कहिए।
+ +
कोउ कह सत्य झूठ कह कोऊ, युगल प्रबल करि मानै।
तुलसिदास परिहरै तीन भ्रम, सो आपन पहिचानै ।।
--विनयपत्रिका,पद सं०१११

३ माधव असि तुम्हारि यह माया।
+ + +
तुलसीदास हरिकृपा मिटै भ्रम यह भरोस मन माहीं।
-- विनयपत्रिका,पद सं०११६

जिस प्रकार तुलसीदास के इष्टदेव भगवान राम थे, किन्तु उन्होंने धार्मिक उदारता के कारण विष्णु के अन्य अवतारों के प्रति भी विशेष रूप से कृष्णावतार के प्रति आस्था व्यक्त की है और कृष्ण गीतावली लिखकर श्रीकृष्ण को उसी प्रकार ब्रह्म घोषित किया है, जिसप्रकार अपने समस्त ग्रन्थों में राम को ब्रह्म सिद्ध किया है । तुलसी के अनुसार राम और कृष्ण एक ही ब्रह्म शक्ति के दो नाम हैं । ठीक उसी प्रकार सूरदास के इष्टदेव परब्रह्म श्रीकृष्ण ही थे, किन्तु श्रीकृष्ण के साथ-ही-साथ सूरदास ने भगवान राम का भी ब्रह्म के अवतार रूप में पर्याप्त वर्णन किया है । सूर सागर के नवम स्कन्ध में रामकथा पूर्ण तन्मयता से विस्तार के साथ वर्णित है । इसके अतिरिक्त अन्य स्थलों पर भी प्रसंगवश रामकथा का समन्वित उल्लेख है । सूरदास के राम विषयक पद भागवतानुसार शुद्धाद्वैत सिद्धान्त और पुष्टि सम्प्रदाय की सेवा प्रणाली के अनुसार रचे गए हैं । सूरदास ने भगवान राम को भी कृष्ण की तरह परम ब्रह्म घोषित किया है और कृष्ण तथा राम में तादात्म्य स्थापित किया है । दोनों अभिन्न हैं और एक ही शक्ति के दो अवतार हैं[१] ।

आरम्भ में भगवान राम का दुष्ट दलनकारी रूप ही प्रधान था, परन्तु कालान्तर में उनके मधुर रूप की भी उपासना चल पड़ी । राम साहित्य में इस माधुर्य भाव की उपासना कृष्ण सम्प्रदायों की प्रेरणा के फलस्वरूप है । कृष्ण सम्प्रदायों में राधा-वल्लभीय, चैतन्य, हरिदासी आदि सम्प्रदाय पूर्णरूपेण कृष्ण के माधुर्य रूप के उपासक थे । इन्हीं से प्रेरणा ग्रहण करके अग्रदास, मानदास, नाभादास आदि राम भक्तों ने मर्यादा पुरुषोत्तम

---

१ कृष्ण भक्ति सीतल जिय जानौ ।
रघुकुल राघव कृष्ण सदा ही गोकुल कीन्यौ थानौ ।

भगवान राम को कृष्ण की तरह रसिक शिरोमणि सिद्ध करने की चेष्टा की है। इन माधुर्य भाव के राम भक्तों ने कृ. राम को रस स्वरूप तथा रसेश्वर माना है और राम के रसमय लीलाओं का गान करके यशधा (शृंगारी भाव) भक्ति की साधना की है। यद्यपि नाभादास की सबसे अधिक प्रसिद्ध कृति भक्तमाल है,किन्तु उसका सम्बन्ध रामभक्ति से प्रत्यक्षत: न होने के कारण आलोच्य विषय से बाहर की वस्तु है। इस ग्रन्थ के अतिरिक्त नाभादास ने भगवान राम के रसमय लीलाओं के लिए दो अष्टयाम भी लिखा है-- एक ब्रजभाषा गद्य में दूसरा दोहा चौपाई पद्धति पर पद्य में[१]। नाभादास जी ने राम सीता की चारुशीला तथा चन्द्रकला नामक दो सखियों को प्रधानता देकर अपने भगवान राम के जीवन में माधुर्य भाव का संकेत किया है[२]।

भक्तिहीन एवं रीतिवादी केशवदास ने भी भगवान राम को निर्गुण सगुण दोनों विशेषणों से युक्त परम ब्रह्म माना है और बताया है कि शास्त्र ज्ञानी जिसके निर्गुण रूप को समझ नहीं सकते वही कृ. प्रेमी भक्तों को सगुण रूप से दर्शन देता है[३]।

तुलना और निष्कर्ष

ऊपर विश्लेषित तथ्यों के प्रकाश में यदि रामकाव्य और कृष्ण काव्य की इष्टदेव या ब्रह्म सम्बन्धी मान्यताओं को देखा जाय तो

---

१ पं० रामचन्द्र शुक्ल : `हिन्दी साहित्य का इतिहास`,पृ०१४८

२ अली चारुशीलादिष्ट जै, चन्द्रकलादिक वाम।
युगल लाल-सिय सहचरी, रसमय जिनके नाम।
तिनकी कृपा कटाक्ष ते, कछु सुरति गुरु पाय।
नाभा उर आनन्द हित,रसिक अनन गुण गाय।
--अष्टयाम नाभादास,पृ०४२

३ पूरण पुराण अरु पुरुष पुराण परिपूरण।
बतावै न बतावै और उक्ति को।
-- रा०च०ना० : केशवदास, प०सं० ३

स्पष्ट प्रतीत होगा कि इन दोनों धाराओं में तात्विक विभेद तो कम है, किन्तु व्यावहारिक भेद अधिक है । दोनों ब्रह्म के निर्गुण, सर्वान्तर्यामी, सर्वशक्तिमान्, प्राकृत शरीर और गुण रहित, अवतार और अवतारी, सगुण साकार एवं भक्तों पर अहेतुकी कृपा करने वाले आदि भावधारा के आधार पर साम्य रखते हैं, किन्तु अपने इष्टदेव के स्वरूप के माध्यम से एक-दूसरे से भिन्न हैं । दोनों धाराओं के इष्टदेव राम और कृष्ण एक ही परम शक्ति के अवतार या अवतारी होते हुए भी अपने अवतार के प्रयोजनों एवं अपने सगुण स्वरूप की भिन्नता के कारण एक-दूसरे से भिन्न हैं । अब दोनों साहित्यों में वर्णित इष्टदेवों का संक्षेप में तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया जा रहा है :

<u>इष्टदेव परब्रह्म और अद्वैत हैं</u>

आलोच्यकालीन कृष्ण काव्य एवं रामकाव्य तत्कालीन प्रतिष्ठित दार्शनिक और धार्मिक सम्प्रदायों से प्रत्यक्षतः या अप्रत्यक्षतः प्रभावित और सम्बद्ध है । कृष्णकाव्य तो विभिन्न सम्प्रदायों की देन है, जिनकी छाया में पल्लवित हुआ और उन्हीं सम्प्रदायों के प्रचार के लिए सृजित भी हुआ, किन्तु रामकाव्य सम्प्रदाय विशेष से सम्बद्ध नहीं है, प्रभावित अवश्य है । ये विभिन्न धार्मिक सम्प्रदाय, वेदान्त की विभिन्न शाखाओं अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैत, द्वैताद्वैत और शुद्धाद्वैत आदि की दार्शनिक पृष्ठभूमि पर प्रतिष्ठित थे । वेदान्त की इन विभिन्न शाखाओं के संस्थापक आचार्य दार्शनिक और भक्त दोनों थे । केवल अद्वैतवाद के प्रवर्तक आचार्य शंकर पारमार्थिक दृष्टि से भक्ति के विपरीत अवश्य प्रतीत होते हैं और इस भक्ति के विपरीत मायावाद का समर्थन करने के कारण बाद के अन्य समस्त भक्त आचार्यों ने शंकर के सिद्धान्त का खण्डन करके अपना अलग दार्शनिक और धार्मिक सम्प्रदाय स्थापित किया । भारतीय दर्शन की विभिन्न शाखाओं की समस्त जटिल समस्याओं तथा परमतत्व के विषय में मत-वैभिन्य और द्वैतता को मिटाकर वेदान्त ने जहां एक ओर अद्वैत की प्रतिष्ठा की वहां दूसरी ओर

[illegible] का विभिन्न शाखाओं में उलझ गया । ये वेदान्त की विभिन्न शाखायें एक-दूसरे से भिन्न होते हुए भी परमतत्व के बारे में अद्वैत के आधार पर सहमत थीं । जो शाखायें द्वैत (मध्वाचार्य) द्वैताद्वैत(निम्बार्क) अथवा भेदाभेद (चैतन्य) की पोषक थीं, वे भी द्वैत के साथ अद्वैत और भेद के साथ अभेद को भी मानती थीं । इस प्रकार संक्षेप में हम कह सकते हैं कि वेदान्त की विभिन्न शाखाओं में परम तत्व को अद्वैत के रूप में स्वीकार किया गया । चूंकि हिन्दी का सम्पूर्ण मध्यकालीन कृष्ण और रामकाव्य वेदान्त की उपरोक्त धार्मिक शाखाओं से सम्बद्ध या प्रभावित है, फलस्वरूप व इनमें भी परमतत्व के विषय में अद्वैतता आ गई है । यदि अन्तर भी है तो उसी प्रकार का जिस प्रकार कि वेदान्त की विभिन्न धाराओं में था, जिससे हिन्दी का कृष्ण और रामकाव्य प्रभावित हुआ । कृष्ण काव्य विशेषत: वल्लभाचार्य के शुद्धाद्वैत,मध्वाचार्य के द्वैत,निम्बार्क के द्वैताद्वैत तथा चैतन्य के भेदाभेद से अनुप्रेरित है तथा रामकाव्य शंकर के अद्वैत रामानुज के विशिष्टाद्वैत से विशेषरूपसे प्रभावित है । कृष्ण एवं रामकाव्य दोनों की दार्शनिक पृष्ठभूमि में अद्वैत शब्द उपसन्निष्ट है । इस प्रकार इन दोनों धाराओं के कवियों ने भी अपने इष्टदेव को अद्वैत ही माना है और अद्वैत मान लेने पर इनके इष्टदेव स्वयमेव परमतत्व या परब्रह्म सिद्ध हो जाते हैं । तुलसीदास ने अपने इष्टदेव राम को सर्वान्तर्यामी रूप में सभी तत्वों में व्यापक तथा सभी जड़ चेतन का मूलाधार तत्व बताकर भगवान राम को अद्वैत तथा परब्रह्म सिद्ध किया है[१] । इसी प्रकार सूरदास ने भी भगवान कृष्ण को `घट घटवासी`, `अविनाशी` तथा `पूरनब्रह्म` कहकर उनकी अद्वैतता तथा परब्रह्मत्व की घोषणा की है[२] ।

---

१ व्यापक ब्रह्म निरंजन निर्गुन विगत विनोद ।

--रा०च०मा०, बाल०,पृ० १६८

२ आदि सनातन हरि अविनाशी । सदा निरन्तर घटघटवासी ।

पूरन ब्रह्म पुरान बखाने । चतुरानन शिव अन्त न जाने ।।

--सूरसागर,भाग १,दशम स्कन्ध,पद संख्या ६२१

इस प्रकार निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि मध्यकालीन कृष्ण और राम दोनों धाराओं के कवियों ने अपने-अपने इष्टदेव राम और कृष्ण को अद्वैत तथा परब्रह्म सिद्ध किया है । इसका कारण उक्त दोनों धाराओं के कवियों का वेदान्त की विभिन्न शाखाओं से सम्बद्ध या प्रभावित होना है । अद्वैतता के तथ्यनिष्ठ होने के कारण दोनों शाखाओं में इष्टदेव के परब्रह्मत्व में पर्याप्त साम्य है ।

कृष्ण और राम का अवतारी स्वरूप

ऊपर वर्णित अद्वैतता के आधार पर दोनों धाराओं में साम्य है, किन्तु दोनों के इष्टदेव के स्वरूप में पर्याप्त अन्तर भी है, जहां राम कवियों को भगवान राम का मर्यादा स्वरूप प्रिय है, वहां कृष्ण कवियों को कृष्ण का माधुर्य रूप मुग्ध करता है । यद्यपि दोनों धाराओं के कवियों ने राम और कृष्ण को एक ही परम शक्ति के दो नाम और एक ही शक्ति विष्णु का अवतार माना है, फलस्वरूप सूरदास कृष्ण के अनन्य भक्त होते हुए भी राम को भी ब्रह्म का अवतार मानकर सूरसागर नवम स्कन्ध में रामकथा का पूर्ण तन्मयता से गायन किया है और तुलसीदास ने भी जहां एक ओर राम का विस्तार से गुणगान किया है, वहां कृष्ण गीतावली में कृष्ण की लीलाओं का भी वर्णन किया है, किन्तु कृष्ण और राम को एक ही शक्ति का अवतार मानते हुए भी दोनों धाराओं के कवियों में अपने इष्टदेव के अवतारविशेष और स्वरूपविशेष में अनन्य आस्था है । इसी कारण राम और कृष्ण के स्वरूपों, उनके कार्यों, लीलाओं आदि में भी अन्तर होता चला गया है । तुलसी जैसा उदार और समन्वयवादी भक्त भी कृष्ण की मुरलीयुक्त माधुर्य मूर्ति के समक्ष स्पष्ट घोषणा की कि 'तुलसी मस्तक तब नवै धनुष बाण लेहु हाथ' राम और कृष्ण के चरित्रों तथा लीलाओं का यह भेद हिन्दी कृष्ण और राम-कवियों को संस्कृत साहित्य से ही प्रेरणा स्वरूप प्राप्त था । संस्कृत साहित्य

में भगवान कृष्ण माधुर्य और रसमूर्ति के रूप में तथा भगवान राम मर्यादा, लोकरक्षक तथा शीलमूर्ति के रूप में प्रतिष्ठित थे ।

संस्कृत ग्रन्थों के आधार पर और कवि की व्यक्तिगत साम्प्रदायिक रुचि वैशिष्ट्य के आधार पर भी हिन्दी के मध्यकालीन कृष्ण और राम के स्वरूप में अन्तर हो गया है । कृष्ण कवियों ने भगवान कृष्ण को दार्शनिक दृष्टि से वल्लभ के शुद्धाद्वैत के अनुसार सच्चिदानंद अद्वैत, षडैश्वर्यपूर्ण, विरुद्धधर्माश्रयी, अविकृत परिणामी तथा सर्वव्यापक सिद्ध किया है, जैसा कि पहले विश्लेषित किया जा चुका है, किन्तु यह रूप भक्तों को मुग्ध नहीं करता है । यह रूप चिन्तन का आधार हो सकता है, किन्तु प्रेम और उपासना का नहीं । कृष्ण भक्तों को ब्रह्म के जितने रूप हैं उन सब में नर-लीला का रूप ही सर्वप्रिय है । कृष्ण कवियों के अनुसार कृष्ण का गोपवेशी वृन्दावन स्थित रूप ही एकमात्र सत्य है । यही रूप उनका स्वयं का एवं वास्तविक रूप है । भगवान कृष्ण ने भक्तों को आनन्द देने के लिए यही रूप स्वीकार किया और अवतार लेकर अपनी लीलाओं से भक्तरूप गोपियों को आनन्द प्रदान किया । कृष्ण की लीलाओं में बाल और यौवन की वात्सल्य तथा माधुर्य लीलायें ही हिन्दी कृष्ण भक्तों को अधिक आकर्षित किया है ।

जिस प्रकार कृष्ण काव्य में कृष्ण को ब्रह्म और विष्णु का अवतार बताया गया है, उसी प्रकार रामकाव्य में राम को भी ब्रह्म और विष्णु का अवतार सिद्ध किया गया है, किन्तु इतना होते हुए भी भी साकार राम का स्वरूप, साकार कृष्ण के स्वरूप से भिन्न है । राम मर्यादा, शील तथा शक्ति के पूर्ण अवतार हैं । वे निर्गुण ब्रह्म तो हैं ही, किन्तु उसके साथ-ही-साथ सगुण रूप धारण करके उन्होंने गौ, ब्राह्मण, पृथ्वी, सज्जनों तथा देवताओं और भक्तों की रक्षा की है । दुष्टों और राक्षसों का विनाश करके सदाचार

की प्रतिष्ठा की है । उनका चरित्र मर्यादित तथा आदर्श अनुकरणीय चरित्र है । उनकी मर्यादा, शील, शक्ति से युक्त स्वरूप उपासना का विषय है । सारांश यह कि दार्शनिक दृष्टि से राम और कृष्ण के निर्गुण ब्रह्मस्वरूप में भेद नहीं है, भेद केवल सगुण स्वरूप में है । कृष्ण साहित्य में कृष्ण का वात्सल्य एवं यौवन सगुण स्वरूप ही अधिक मान्य है । उनके माधुर्य एवं रसमूर्ति की ही उनके सभी गुणों से अधिक प्रतिष्ठा है । कृष्ण के ब्रह्मरूप के स्वतन्त्र वर्णन कम हैं । लीला वर्णन के बीच-बीच में संकेत रूप में यह बात रखी गई है कि कृष्ण परब्रह्म हैं । इसके विपरीत रामकवियों में राम की मर्यादा और शीलमूर्ति के रूप में अधिक प्रतिष्ठा है । तुलसी हर स्थान पर पाठकों को भगवान राम के परब्रह्मत्व एवं मर्यादास्वरूप का स्मरण दिलाते गए हैं ।

अवतारवाद की भावना दोनों धाराओं के कवियों में मान्य है । किन्तु अवतार धारण करने के प्रयोजनों में अन्तर है । कृष्ण कवि जहां कृष्ण के अवतार का सर्वप्रमुख कारण भक्तों को लीला द्वारा आनन्द देना मानते हैं, वहां राम कवि राम का अवतार गौ, ब्राह्मण, पृथ्वी का उद्धार बताते हैं[1] । कृष्ण केवल भक्तों के रंजनकर्ता हैं, किन्तु राम लोकरक्षक हैं ।

आलोच्यकालीन सभी कृष्णकवियों ने कृष्ण के रसिक स्वरूप को ही महत्व प्रदान किया है । उनके शील, शक्ति एवं मर्यादा स्वरूप को या तो स्थान ही नहीं दिया है, यदि दिया भी है तो बहुत ही कम, किन्तु राम-कवियों में अधिकांश राम की मर्यादा और शील स्वभाव के ही एकमात्र उपासक हैं, लेकिन रामकवियों का एक छोटा-सा अप्रतिष्ठित वर्ग ऐसा भी है,

---

१ विप्र धेनु सुर सन्त हित लीन्ह मनुज अवतार ।
निज इच्छा निर्मित तनु माया गुन गोपार ।। (१९२)

-- ~~डा० माताप्रसाद गुप्त~~ : रा०च०मा०, बाल०, पृ०९७ ।

जो राम को भी कृष्ण की ही तरह रसमूर्ति मानकर उनके सौन्दर्यपूर्ण स्वरूप का
उपासक हैं । इनमें अग्रदास,नाभादास,मानदास आदि का नाम उल्लेखनीय है । इन
कवियों के रसिक सिद्धान्तों का विश्लेषण राम-कवियों के अन्तर्गत ऊपर किया गया
है और बतलाया गया है कि राम की इस स्वरूप की प्रतिष्ठा कृष्णकाव्य से अनुप्राणित
है ।

इष्टदेव सगुण हैं या निर्गुण

प्राय: सभी कृष्ण एवं रामकवियों ने अपने-अपने इष्टदेवों का
स्वरूप-वर्णन करते समय उनके निर्गुण ,सगुण दोनों रूपों का वर्णन किया है,किन्तु ब्रह्म
के निर्गुण स्वरूप का विवेचन रामकवि तुलसीदास में कृष्णकवियों की अपेक्षा अधिक है।
इसी को देखकर कुछ आलोचकों ने तुलसीदास पर शांकर अद्वैत का आरोप लगाया है,
जिसका विवेचन ऊपर किया जा चुका है । तुलसीदास ने पारमार्थिक दृष्टि से
निर्गुण ब्रह्म को माना है, किन्तु निर्गुण ब्रह्म का पर्यवसान उन्होंने सगुण में
ही किया है । वास्तव में दार्शनिक तत्वों का विशेषकर ब्रह्म का जिस विस्तार
से सोद्देश्य निरूपण तुलसीदास ने किया है, वैसा कृष्ण कवियों ने नहीं किया
है । कृष्णकवि तो अपने सम्प्रदायों की मान्यताओं को यथावत् मानकर उन्हीं के
अनुरूप कृष्ण का स्वरूप विवेचन किया है । इन कवियों ने ब्रह्म के सगुण
स्वरूप को ही माना है, निर्गुण का पूर्ण विरोध किया है, जिसका प्रमाण
हमें कृष्ण साहित्य के 'भ्रमरगीत' पदों में मिलता है, जो कि कृष्ण साहित्य
का महत्वपूर्ण एवं प्रिय विषय रहा है और जिससे कृष्ण कवियों का निर्गुण
विषयक धारणा का स्पष्ट परिचय मिलता है । रामकवि तुलसीदास किसी
सम्प्रदाय से आबद्ध नहीं थे और न तो उन्होंने तत्कालीन किसी भी दार्शनिक
सम्प्रदाय से प्रत्यक्ष प्रेरणा ही ली बल्कि मेरी दृष्टि से उन्होंने वेद,उपनिषद्,
गीता आदि प्रस्थानत्रयी के उन ग्रन्थों से प्रेरणा ली जिनसे तत्कालीन प्रतिष्ठित
दार्शनिक सम्प्रदाय के प्रवर्तकों ने प्रेरणा ग्रहण की थी,क्योंकि तुलसीदास शास्त्रों

के पण्डित थे, और उनको संस्कृत का अच्छा ज्ञान था । तुलसीदास ने अपने ग्रन्थों में जितना महत्व सगुण को दिया उतना ही निर्गुण को भी और दोनों को अभिन्न बताया है[1]। जो ब्रह्म व्यापक निरंजन निर्गुण है, वह प्रेम-भक्ति के कारण कौशल्या की गोद में खेल रहा है[2]। यद्यपि सूरदास ने भी कृष्ण के निर्गुण-सगुण दोनों रूपों का वर्णन किया है[3]। किन्तु उन्होंने निर्गुण के ऊपर सगुण की विजय बताकर निर्गुण रूप को गौण करके महत्वहीन कर दिया है । लेकिन तुलसी में ये दोनों रूप महत्वपूर्ण हैं । इसी को देखकर आचार्य शुक्ल ने तुलसी को पारमार्थिक दृष्टि से अद्वैतवादी तथा भक्ति के व्यावहारिक दृष्टि से विशिष्टाद्वैतवादी बताया है[4]। तुलसीदास ने जिस तन्मयता तथा पूर्ण पाण्डित्य से सगुण का विवेचन किया है, उसी प्रकार महत्वपूर्ण स्थान देकर निर्गुण का भी वर्णन किया है । किसी को एक-दूसरे से छोटा-बड़ा नहीं सिद्ध किया है ।

उपर्युक्त समग्र तुलना को देखते हुए निष्कर्ष रूप में यही कहा जा सकता है कि तात्विक दृष्टि से कृष्ण और राम कवियों में इष्टदेव के निर्गुण स्वरूप, सर्वव्यापकत्व, अन्तर्यामी स्वरूप, परब्रह्मत्व, अवर्णनीय, अद्वैत, नारायण, विष्णु के अवतार और अवतारी आदि वर्णनों के आधार पर साम्य दिखाई

---

१ अगुनहिं सगुनहिं नहिं कछु भेदा । उभय हरहिं भव संभव खेदा ।।

२ व्यापक ब्रह्म निरंजन निर्गुन विगत विनोद ।
सो अज प्रेम भगति बस कौशल्या की गोद ।।
-- रा०च०मा०, बाल०, पृ० १९८

३ वेद, उपनिषद जासकौं निर्गुनहिं बतावै ।
सोइ सगुन होइ नन्द की दांवरी बंधावै ।।
-- सूरसागर प्रथम स्कन्ध, पद संख्या ४

४ परमार्थ दृष्टि से, शुद्ध ज्ञान की दृष्टि से तो अद्वैत मत गोस्वामी जी को मान्य है, परन्तु भक्ति के व्यावहारिक सिद्धान्त के अनुसार भेद करके चलना वे अच्छा समझते हैं । -- तुलसी ग्रन्थावली, तृतीय खण्ड, पृ०१०५

सकता है । दोनों धाराओं के कवियों ने अपने-अपने इष्टदेवों को इन विशेषणों से संयुक्त करके उनका सगुण वर्णन किया है । यदि दोनों धाराओं के कवियों की दृष्टि में राम और कृष्ण के स्वरूप में अन्तर है तो सगुण रूप में । दोनों इष्टदेवों के सगुण स्वरूप तथा व्यक्तित्व में अन्तर है । दोनों धाराओं के कवियों के पदों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि कृष्ण और राम के अवतार धारण करने के प्रयोजनों में अन्तर है तथा दोनों के अवतार के बाद लीलाओं और कार्यों में अन्तर है । जहां कृष्ण कवियों ने कृष्ण का सगुण स्वरूप रसमय माधुर्यपूर्ण तथा सौन्दर्ययुक्त व्यक्त किया है, वहां रामकवियों ने राम को मर्यादापूर्ण शक्ति तथा शीलमूर्ति चित्रित किया है । एक ओर जहां कृष्ण कवियों ने कृष्णावतार का सर्वप्रमुख प्रयोजन गोपीरूप भक्तों को आनन्द देना बताया है, वहां रामकवियों ने रामावतार का मुख्य प्रयोजन पृथ्वी, ब्राह्मण, गौ, सज्जन एवं देवताओं का उद्धार तथा दुष्टों का नाश माना है । कृष्ण कवि भगवान कृष्ण की ठेकर लोकरंजक लीलाओं पर मुग्ध हैं, किन्तु रामकवि भगवान राम की शक्ति और पौरुषपूर्ण लोकरक्षक कार्यों के प्रशंसक हैं । इस प्रकार एक के इष्टदेव का स्वरूप एवं कार्य लोकरंजन है । किन्तु दूसरे का आराध्य लोकरक्षक है ।

जीव

कृष्णकाव्य-सभी अद्वैतवादी दर्शन अन्ततः जीव और ब्रह्म के तात्त्विक अभेद को स्वीकार करते हैं । श्री शंकराचार्य ने 'जीवो ब्रह्मैव नापरः' जीव ब्रह्म ही है, दूसरा नहीं है आदि कहकर जीव और ब्रह्म की अद्वैतता स्वीकार की । आचार्य वल्लभ ने 'अविकृत परिणामवाद'[1] के सिद्धान्तानुसार

---

१ विस्फुलिंगा इवाग्नेस्तु सदंशेन जडाअपि
आनन्दांश स्वरूपेण सर्वान्तर्यामि रूपिण: ॥३२
-- आचार्य वल्लभ: 'तत्त्व दीप निबन्ध शास्त्रार्थ प्रकरण' ।

जीव जगत के ऐक्य के साथ ही जीव और ब्रह्म का ऐक्य भी स्वीकार किया तथा शुद्धाद्वैत के प्रतिपादक के रूप में आचार्य वल्लभ ने ब्रह्म को अग्नि और जीवों को स्फुलिंगों का रूपक देकर ब्रह्म को अंशी और जीवों को अंश घोषित किया है,[1] किन्तु शंकर के मायावाद के जीव और वल्लभाचार्य के ब्रह्मवाद के जीव में अन्तर यह है कि शंकर का जीव ब्रह्म का अंश नहीं है, बल्कि जीव स्वयं ब्रह्म ही है । मायावश अज्ञानता के कारण जीव अपने को भौतिक कर्मों में बंधा पाता है, किन्तु अज्ञानता दूर हो जाने पर न तो जीव रह जाता है और न जगत, बल्कि जीव और ब्रह्म दोनों एक हो जाते हैं, किन्तु आचार्य वल्लभ के ब्रह्मवाद में जीवों की अनेकता है तथा उनकी पृथक् सत्ता सत्य है । अवस्था विशेष में पृथकता है और दूसरी अवस्था विशेष में जीव और ब्रह्म की एकता भी है । इस प्रकार दोनों अंश और अंशी हैं । शंकर मत में जीव विभु(व्यापक) है, किन्तु वल्लभ मत में जीव अणु है । शंकर मत में जीव बुद्धि के सम्बन्ध से अणुरूप भासित होता है, परन्तु वह विभु ही है । हिन्दी के अष्टछाप कृष्ण भक्त कवियों में वल्लभ ह के जीव सम्बन्धी सिद्धान्तों को ही अधिकतर स्वीकार किया है, किन्तु जिस विस्तार से सूरदास आदि अष्टछाप के कवियों ने ब्रह्म के विषय में अपने विचार प्रकट किए हैं, उस विस्तार से उन्होंने जीव के विषय में विचार नहीं किया, परन्तु उनके पदों से ईश्वर और जीव के सम्बन्ध, जीव स्वरूप और जीव के सामर्थ्य तथा जीव का इस संसार में अज्ञान और परब्रह्म कृष्ण की कृपा के अभाव में कष्ट पाना आदि का पर्याप्त विवेचन मिल जाता है । पहले कहा गया है कि आचार्य वल्लभ ने ब्रह्म और जीव का सम्बन्ध अंशी और अंश के रूप में व्यक्त किया है । सूरदास आदि अष्टछाप के कवियों ने भी इसी सिद्धान्त को ग्रहण करते हुए अपने पदों में बतलाया है कि ब्रह्म के सत् अंश से जिस प्रकार नाना रूपात्मक जगत् का आविर्भाव है, उसी प्रकार उसके चित् अंश से अनेक जीवों की उत्पत्ति है । जगत में चित् और आनन्द इन दो तत्वों का तिरोभाव रहता है और सद् अंश का पूर्ण आविर्भाव रहता है, उसी

---

१ डा० दीनदयाल गुप्त : 'अष्टछाप वल्लभ सम्प्रदाय', पृ०८३

प्रकार जीव में सद् और चित् का आविर्भाव रहता है, किन्तु आनन्द का तिरोभाव रहता है अर्थात् जीव ब्रह्म का ही अंश है । सृष्टि उत्पत्ति के पूर्व भी जीव सूक्ष्म रूप में ब्रह्म में स्थित था और सृष्टि-विनाश के बाद भी जीव ब्रह्मरूपी अंशी में समा जायगा । इसी भाव को लेकर सूरदास ने अनेक पदों में अनेक प्रकार से ब्रह्म तथा जीव के अंशी अंश सम्बन्ध को स्पष्ट किया है[1] । जीव माया से आक्रान्त होने पर उसी माया में अपने ही अनेक प्रतिबिम्ब देखता है । वस्तुतः वह अपने में निहित सत्यस्वरूप 'अहं ब्रह्मास्मि' को नहीं पहचानता । इस भ्रम को सूरदास ने कांच के बने मन्दिर में खड़े हुए अथवा स्वप्न में सोये मनुष्य के उदाहरण से व्यक्त किया है[2] । इस अनेक रूपात्मक सम्पूर्ण जगत के प्रसार को जीव केवल मिथ्या कल्पना से देखता है । माया के आवरण को हटाकर यदि वह अपने सच्चे रूप को जान लेता है तो वह ब्रह्म ही हो जाता है, क्योंकि जीव वस्तुतः ब्रह्म ही है । अज्ञानतावश वह अपने को ब्रह्म से अलग समझता है । इसी भाव को लेकर सूरदास ने अनेक पदों की रचना की है ।

---

१ पहले हौं ही हौं तब एक ।

अमल अकल अज भेद विवर्जित सुनि विधि विमल विवेक ।

सो हौं एक अनेक भांति करि सोभित नाना भेष ।

ता पाछे इन गुननि गए तै हौं रहिहौं अवशेष ।

-- सूरसागर, द्वितीय स्कन्ध, वे०प्रे०, पृ०३६

२ अपुनपौ आपुन ही बिसर्यौ ।

जैसे स्वान कांच मन्दिर में भ्रमि-भ्रमि भूकि पर्यौ ।

ज्यौं सौरभ मृग नाभि बसत है, द्रुम तृन सूंघि फिर्यौ ।

ज्यौं सपने में रंक भूप भयौ तसकर अरि पकर्यौ ।

ज्यौं केहरि प्रतिबिम्ब देखि कै आपुन कूप पर्यौ ।

\+ \+ \+

मर्कट मूठि छाड़ि नहिं दीनी घर घर द्वार फिर्यौ ।

सूरदास नलिनी कौ सुवटा कहि कौनैं पकर्यौ ।

-- सूरसागर, ना०प्र०स०, पद सं०३६६

डा० हरवंशलाल शर्मा ने इसके दो कारण दिए हैं-- (१) सूरदास ने निश्चित सिद्धान्तों का प्रतिपादन नहीं किया है, उनका उद्देश्य भगवान का गुणगान करना था । (२) माया अविद्या, जीव, जगत आदि से सम्बन्ध रखने वाले पद सूर ने वल्लभ सम्प्रदाय में दीक्षित होने के पहले बनाए थे । साधारण जनता में शंकर के मायावाद का जितना प्रचार रहा है, उतना किसी अन्य वैष्णव सम्प्रदाय के सिद्धान्तों का नहीं, अतः बहुत सम्भव है कि सूरदास पर भी अप्रत्यक्ष रूप से शंकर का प्रभाव रहा हो ।[1] सूक्ष्मता से विचार करने पर यही निश्चित होता है कि सूरदास के समस्त पदों में से अधिकांश पद तो वल्लभ सिद्धान्तानुसार हैं, किन्तु उपर्युक्त दोनों पदों की तरह कुछ पद ऐसे भी हैं, जिनपर प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से शंकर के मायावाद का प्रभाव देखा जा सकता है ।

सूरदास के पश्चात जीव का विवेचन नन्ददास में मिलता है । नन्ददास ने भी सूर की तरह वल्लभ सिद्धान्तानुसार जीव की उत्पत्ति ब्रह्म के चित् अंश से वैसे ही मानी है, जैसे अग्नि से चिनगारी निकलती है ।[2] इस प्रकार नन्ददास ने ब्रह्म को अंशी और जीव को अंश स्वीकार किया है । नन्ददास ने जीव को काल, कर्म तथा माया के आधार एवं पाप-पुण्य आदि में लिप्त बताया है ।[3]

---

१ डा० हरवंशलाल शर्मा : `सूर और उनका साहित्य`, पृ० २१३-२१४

२ ब्रह्म ते सब उपजत ऐसे ।
अगिनि ते विस्फुलिंग गन जैसे ।
-- नन्ददास, पृ० २०८

३ काल करम माया अधीन ते जीव बखाने ।
बिधि निषेध अरु पाप पुन्यनिमें लपटाने ।
-- नन्ददास, पृ० १८४

अन्य सम्प्रदायों के कवियों ने भी जीव विषयक इसी प्रकार के सिद्धान्त को स्वीकार किया है, किन्तु उसकी अभिव्यक्ति कुछ कवियों में ही उपलब्ध होती है, जैसे निम्बार्क सम्प्रदाय के परशुराम देव ने निम्न दोहे में जीव और ब्रह्म की एकता प्रतिपादित की है[१]।

जीव

रामकाव्य में :- अद्वैतवाद के प्रवर्तक आचार्य शंकर ने 'जीवो ब्रह्मैव नापरः' कहकर जीव तथा ब्रह्म को एक ही बतलाया। शंकर के अनुसार जीव ब्रह्म ही है, दूसरा कोई नहीं। माया के कारण भ्रमित होकर जीव अपने को शरीरी तथा देहधारी समझकर शरीरजन्य सुख-दुःख आदि का अनुभव कर सुखी और दुखी होता है। किन्तु ज्ञान प्राप्त होने पर वही जीव संसार के माया-मोह से मुक्त होकर विशुद्ध ब्रह्म हो जाता है, और अपने को 'अहं ब्रह्मास्मि' समझने लगता है। वस्तुतः ब्रह्म और जीव में कोई अन्तर नहीं, दोनों में न तो गुण का अन्तर है और न गुण के परिमाण का। जो कुछ अन्तर दिखलाई पड़ता है वह आभास मात्र है, यथार्थ नहीं और यह आभास भी अज्ञानता तथा माया के आवरण के कारण यथार्थ प्रतीत होता है।

रामानुज आदि भक्त आचार्यों को जीव तथा ब्रह्म की पूर्ण समानता, एकता का शांकर-सिद्धान्त मान्य न हुआ, क्योंकि भक्ति की दृष्टि से भक्त या जीव तथा ब्रह्म या इष्टदेव में अन्तर होना अवश्यम्भावी था नहीं तो इष्टदेव की महानता को कोई स्थान नहीं मिलेगा, जो भक्तों को आकर्षित करती है। अतः इन भक्त-दार्शनिकों ने जीव तथा ब्रह्म की आंशिक एकता तथा समानता

---

१ सब जीवन में हरि बसें हरि ही में सब जीव।
सर्व जीव को जीव हरि परसराम सो पीय ॥
-- नि०मा०, पृ०७८

का सिद्धान्त निकाला । जिसके अनुसार जीव ब्रह्म का अंश और ब्रह्म अंशी है । दोनों एक होते हुए भी अंश और अंशी सम्बन्ध के कारण परिमाण में भिन्न भी हैं । एक परतंत्र है और अपने अंशी पर आश्रित है । दूसरा स्वतंत्र और पूर्ण है और अपने अंशों का आश्रयस्थान है ।

तुलसीदास भक्त थे, अतः उनको भक्ति की दृष्टि से रामानुज का जीव तथा ब्रह्म का अंश अंशी सम्बन्ध मान्य हुआ । तुलसीदास ने ईश्वर अंश जीव अविनाशी[१] लिखकर जीव को ईश्वर का अंश मात्र घोषित किया तथा उसे अविनाशी स्वरूपतः चेतन और देहादि जड़ पदार्थों से भिन्न बतलाया है । जीव नित्य है, किन्तु व्यावहारिक जीवन में प्राणियों के जन्म मरण को देखकर हम भ्रमित हो जाते हैं और इस जन्म मृत्यु को जीवात्मा का धर्म मान लेते हैं, किन्तु जीवात्मा अजर अमर है न तो वह पैदा होता है और न वह मरता है । शरीर के विनष्ट हो जाने के बाद भी आत्मा नष्ट नहीं होता है, बल्कि वह जीर्ण शरीर को छोड़कर अन्य नए शरीर को धारण कर लेता है । इस बात को गीता में अनेक प्रकार से समझाया गया है । तुलसीदास ने भी जीवात्मा तथा शरीर का सम्बन्ध इसी भाव को लेकर अनेक ढंग से समझाया है । बालि के शव को देखकर तथा बालि की जीवात्मा को मरा हुआ जानकर, विलपती हुई तारा को श्री रामचन्द्र जी इसी प्रकार उपदेश देते हैं कि जीव, क्षिति, जल, पावक, गगन और समीर इन पंच तत्वों से निर्मित शरीर से भिन्न है । वह नित्य है[१]। जीव जन्म-मरण के बन्धन में नहीं पड़ता है । वह देह, इन्द्रिय, मन, प्राण, बुद्धि से विलक्षण अलौकिक चैतन्य है । यह नित्य, चेतन, शुद्ध, प्रबुद्ध होते हुए भी ईश्वर से पूर्ण तादात्म्य नहीं रखता । ईश्वर की भांति ही

---

१ ईश्वर अंश जीव अविनाशी । चेतन अमल सहज सुखरासी ।।
सो मायावस भयउ गोसाईं । बंध्यो कीर मरकट की नाईं ।।

जीव भी निर्विकार, निर्मल, निरंजन और निरामय होते हुए भी स्वयं ईश्वर नहीं है । ईश्वर के समान भी नहीं है । दोनों में शक्ति और माया का बहुत भेद है । जीव माया के अधीन है, किन्तु भगवान मायाधीश हैं[1] । ब्रह्म स्ववश व एक और व स्वतन्त्र है, किन्तु जीव भगवान के वश परतंत्र तथा अनेक है । जो ज्ञानाभिमानी जीव ईश्वर की बराबरी का दावा करता है वह कल्प भर नरक की दुर्गति भोगता है[2] । तुलसीदास का उक्त विचार रामानुज के विशिष्टाद्वैतिक जीव के अनुसार ही है, जिसके आधार पर ईश्वर और जीव में अंशी तथा अंश का सम्बन्ध होते हुए अन्तर भी है । कुछ स्थलों पर तुलसीदास ने जीव का स्वरूप कथन शंकर के अद्वैतिक जीव की भांति किया है । जिसके अनुसार ईश्वर तथा जीव से वस्तुतः कोई भेद नहीं है । जो भेद दोनों में ज्ञात होता है, वह मिथ्या है और केवल माया जनित है । दोनों में अन्तर-ज्ञान-अज्ञान का है । यदि जीव को पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति हो जावे तब ईश्वर या जीव में कोई भेद नहीं रह जाता है[3] । जीव और ब्रह्म के अभेद का ज्ञान होने पर भेद भ्रम तथा तज्जनित संसार दोनों नष्ट हो जाते हैं और जीव स्वतः ब्रह्म हो जाता है[4] । इन कथनों को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि तुलसीदास का जीव शंकर के जीव से पूर्णतः साम्य रखता है अथवा प्रभावित है, किन्तु जब हम गहराई व में जाकर सूक्ष्म विश्लेषण करते हैं तब विचारधारा

---

१ मायावस्य जीव अभिमानी । ईसवस्य माया गुन खानी ॥
पर बस जीव स्वबस भगवंता । जीव अनेक एक श्रीकन्ता ॥
-- रा०च०मा० ७।७८।२-४

२ रामचरितमानस १।६६

३ जौं सब के रह ज्ञान एक रस । ईश्वर जीवहिं कहहु कस ।
--रा०च०मा०, उत्तर०, दो०७८

४ जानत तुमहिं तुम्हइं हो जाई ।
-- रा०च०मा०, अयो०, दो०१२७

विपरीत दिखायी पड़ता है,क्योंकि शंकराचार्य ने माया के आवरण-नाश का साधन शुद्ध ज्ञान को माना है,जो आत्मानुभूति से प्राप्त होता है,उसके लिए ईश्वर की उपासना तथा ईश्वर की कृपा की आवश्यकता नहीं है,किन्तु तुलसीदास जी ने जीव तथा ब्रह्म की एकता का साधन एकमात्र ज्ञान को न मानकर ईश्वर की भक्ति तथा कृपा को माना है[1]। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि जो कहीं-कहीं तुलसी के जीव का स्वरूप कथन शांकर अद्वैत के अनुसार प्रतीत होता है, वह वस्तुत: उससे भिन्न है,क्योंकि तुलसी का जीव ब्रह्मानुभूति ईश्वर की कृपा से प्राप्त करता है, और इस प्रकार जीव पर कृपा करने के कारण ब्रह्म स्वत: जीव से महान हो जाता है और दोनों में पूर्ण तादात्म्य नहीं स्थापित किया जा सकता है। केवल जीव में ब्रह्म का विलय मानकर अंश-अंशी सम्बन्ध ही समीचीन प्रतीत होता है। ऊपर जीव के विशुद्ध पारमार्थिक स्वरूप का विवेचन हुआ,किन्तु जीव को अपने इस वास्तविक ईश्वर अंश स्वरूप का ज्ञान नहीं हो पाता है। इसके अतिरिक्त जीव का मायाच्छादित संसारी रूप भी है,जो ईश्वर से विलग होने पर अविद्या माया के कारण आत्म स्वरूप को भूलकर संसारी हो जाता है। ऐसे ही जीवों का लक्षण बताते हुए तुलसीदास ने कहा है कि जिसे माया,ईश्वर तथा अपने यथार्थ स्वरूप का ज्ञान नहीं है वही जीव है[2]। ऐसे संसारी जीव का हर्ष-विषाद,ज्ञान-अज्ञान,अहंकार तथा अभिमान ही प्रधान गुण या धर्म है[3]। संसार के सभी जीव यहां तक कि ब्रह्मा शंकर और विष्णु भी इन्हीं मायाजनित

----

१ तुम्हरी कृपा तुम्हहिं रघुनन्दन । जानत भगत भगत उर चन्दन ।।
  सोइ जानत जेहि देहु जनाई । जानत तुम्हहिं तुम्हइ होइ जाई।।
  --रा०च०मा०,अयो०,पृ०१२७

२ माया ईस न आपु कहु, जान कहिय सो जीव ।
  --रा०च०मा०,अर०,पृ०६६६ ३।१५

३ हरष विषाद ग्यान अग्याना । जीव धरम अहमिति अभिमाना ।।
  -- रा०च०मा०,बाल०,पृ०११६

गुणों से आबद्ध है और मर्कट की भांति माया के परवशवर्ती होकर भवकूप में पड़े हुए अनेक प्रकार के कष्ट सहते हैं । यद्यपि यह माया मिथ्या है, किन्तु वही सत्य प्रतीत होती है और सत्य ईश्वर असत्य प्रतीत होता है तथा जीव ईश्वर से अलग होकर मायोपाधित होने के कारण मोहग्रस्त हो जाता है, किन्तु ईश्वर की कृपा से पुनः उसकी प्राप्ति होते ही स्वस्वरूपता प्राप्त कर लेता है । तुलसीदास ने इन जीवों के तीन भेद किए हैं-- विषयी, साधक और सिद्ध[1] । ये त्रिविध जीव बद्ध, मुमुक्षु और मुक्त जीवों के ही रूपान्तर हैं । इनमें से सिद्ध लोग तो संसार के माया मोह रहित शुद्ध और ईश्वर को प्राप्त हैं । उन्हें भक्ति का विशेष प्रयोजन नहीं । साधक जीवों को ही तुलसीदास ने अपने रामचरितमानस का अधिकारी माना है, किन्तु इस कलिकाल में अधिक संख्या तो विषयी जीवों की है, इसलिए तुलसीदास ने इनका अधिक वर्णन किया है और इनके उद्धार का वल्लभ सम्प्रदाय में पुष्ट आदि जीवों से तुलना एकमात्र उपाय भगवत-कृपा तथा उनकी भक्ति ही माना है । जीव कर्ता तथा भोक्ता है । कर्मजन्य सुख-दुःख स्वरूप फल का भोक्ता होने के कारण ही उसे संसारी कहा जाता है । वह कर्म करने में स्वतंत्र किन्तु फल भोगने में परतंत्र है । वह अपने कर्म के अनुसार ही फल का भोग करता है । काल स्वभाव कर्मवश विविध योनियों में जन्म लेता है । कर्म से ही उसे सद्गति मिलती है । नैतिक दृष्टि से जीव के कर्म दो प्रकार के हैं--शुभ और अशुभ । इन्हीं को नामान्तर से पुण्य और पाप भी कहा गया है । इसके फल क्रमशः सुख और दुःख हैं । जीव के शुभाशुभ कर्मों के अनुसार इस फल भोग का नियामक ईश्वर है ।

तुलसीदास के अनुसार देहाभिमान की दृष्टि से जीव की चार अवस्थाएं हैं[2] -- जागृति, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय । प्रथम तीन

----

१ विषयी साधक सिद्ध सयाने । त्रिविध जीव जग वेद बखाने ।।

-- रा०च०मा०, अयो०, पृ० २७५

२ रा०च०मा०, १।३२५, छन्द ४

अवस्थाएं अभिमानी जीव की हैं, चौथी तुरीयावस्था अभिमान-मुक्त,जीव की है । ऊपर वर्णित सभी प्रकार के जीव माया के कारण संसार की विषय-वासना और मोह माया-मोह में ग्रसित रहते हैं । शरीर के धर्मों को अपना धर्म मानकर सुखी और दुखी होकर कष्ट भोगते हैं और अपने शुद्ध तथा वास्तविक चेतन और नित्य स्वरूप को नहीं समझ पाते,किन्तु जब जीव हरि भक्ति करता है और भगवान उसकी भक्ति से प्रसन्न होकर भक्त पर अनुग्रह करते हैं तब जीव का अज्ञान या माया का आवरण दूर हो जाता है और वह अपने वास्तविक,नित्य,चेतन ब्रह्मस्वरूप को प्राप्त हो जाता है,यही ब्रह्म प्राप्ति ही जीव का लक्ष्य है,जो केवल भगवत भक्ति से ही संभव है ।

<u>तुलना और निष्कर्ष</u>

ऊपर विवेचित आलोच्यकालीन कृष्ण एवं राम कवियों के जीव विषयक विचारों के आधार पर यही कहा जा सकता है कि इन दोनों धाराओं के कवियों में जीव सम्बन्धी मूलभूत साम्य और वैषम्य लगभग वही है जो वेदान्त के विभिन्न दार्शनिक सिद्धान्तों में है । अधिकांश कृष्ण कवि तो शुद्धाद्वैत का पूर्ण अनुसरण किये हैं , जब कि राम कवि तुलसीदास विशिष्टाद्वैत से अपेक्षाकृत अधिक प्रभाव ग्रहण करते हुए भी तत्कालीन विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों के जीव विषयक सिद्धान्तों से सहमत हैं । चूंकि शुद्धाद्वैत,विशिष्टाद्वैत आदि वेदांत की दार्शनिक शाखाएं अद्वैतता के आधार पर पूर्ण साम्य रखती हैं,अत: उनसे प्रभावित कृष्ण एवं राम कवियों में भी उन्हीं के आधार पर साम्य है । कृष्ण एवं राम दोनों धाराओं के कवियों ने जीव को ब्रह्म का अंश स्वीकार किया है । जीव तथा ब्रह्म का यह अंश-अंशी सम्बन्ध दोनों धाराओं के सभी कवियों को सर्वत: मान्य है । राम कवियों की दृढ़ धारणा है कि विविध प्रकार के चराचर जीव ब्रह्म की माया से संयुक्त हैं । सब कुछ राम से ही उत्पन्न हैं और अन्त में उसी महा अंशी में लीन हो जाएंगे । कृष्ण कवियों का भी इसी प्रकार विचार है कि समस्त तत्व,ब्रह्माण्ड,

देवता, माया, समस्त जीव प्रकृति इत्यादि सब गोपाल के अंश हैं और ये सब ब्रह्म कृष्ण से उसी प्रकार उत्पन्न हैं जैसे अग्नि से स्फुलिंग । इसका विश्लेषण विस्तार से पहले किया जा चुका है । इस प्रकार हम देखते हैं कि दोनों धाराओं के कवियों ने जीव को वास्तविक रूप में ब्रह्म से भिन्न नहीं माना है । व्यावहारिक दृष्टि से जो भिन्नता प्रतीत होती है, वह मिथ्या और मायाजनित है । अज्ञान के दूर होने पर माया का आवरण हट जाता है, तब ईश्वर और जीव में भेद नहीं रह जाता है और जीव अपने वास्तविक स्वरूप में ईश्वर के अंश की भांति नित्य चेतनता तथा शुद्धता का अनुभव करता है । जीव के वास्तविक स्वरूप का लक्षण बतलाते हुए दोनों धाराओं के कवियों ने एक ही प्रकार के विचार का प्रतिपादन किया है । दोनों धाराओं के कवियों ने स्वीकार किया है कि जीव का वास्तविक स्वरूप पंच भौतिक शरीर नहीं है । ईश्वर का अंश होने के कारण ईश्वर के समान ही जीव नित्य है और जन्म-मरण के बन्धन में नहीं पड़ता है । जन्म-मरण के बन्धन में तो केवल शरीर पड़ता है । जीवतत्व सर्वथा भौतिक बन्धनों से मुक्त रहता है । जीव चेतन है और प्रत्येक घट में वास करता है । घट उत्पन्न होते हैं और नष्ट हो जाते हैं ,परन्तु चेतन जीव न तो उत्पन्न होता है और न नष्ट होता है, बल्कि वह नित्य विद्यमान रहता है । यह चेतन जीव घट में उसी प्रकार रहता है, जैसे ईख में रस । ईख में खोई तो शरीर है किन्तु रस जीव तत्व या आत्मा है । यही जीव तत्व प्रत्येक प्राणी की इन्द्रियों को चेतन करता है और यही प्रत्येक प्राणी में ईश्वर के अंश रूप में सर्वान्तर्यामी बनकर रहता है । परन्तु प्राणी अपने इसी वास्तविक जीव स्वरूप को भूल जाता है और पंचभौतिक शरीर को ही अपना वास्तविक स्वरूप समझने लगता है । उस समय संसार के माया-मोह ही उसके प्रिय विषय बन जाते हैं और वह संसार में उलझ जाता है । वह माया को, ईश्वर को, अपने को किसी को भी नहीं जान पाता । माया उसे मोह लेती

है । इस जीव का धर्म अज्ञानता के कारण हर्ष, विषाद, ज्ञान, अज्ञान और अभिमान आदि हो जाते हैं । फिर जीव की दशा कांच की कोठरी में स्थित श्वान की भांति हो जाती है । चारों तरफ अपने को ही देखता है और भ्रमवश भुंकता-भुंकता मर जाता है । इस माया से पिण्ड तभी छुटता है, जब ईश्वर की भक्ति होती है । यह भक्ति साधु-संगति, गुरु-सेवा तथा भगवान के अनुग्रह से प्राप्त हो जाती है । इस प्रकार हम देखते हैं कि दोनों धाराओं के कवियों ने जीव के दो रूप बतलाए हैं-- एक रूप वह है जो ब्रह्म का अंश है और ब्रह्म की भांति ही नित्य, शुद्ध, चेतन, निर्मल, निरामय और एकरस है जो सांसारिक माया-मोह से रहित है । यही जीव का वास्तविक स्वरूप है जो भक्तों को ही ज्ञात होता है, किन्तु दूसरा रूप वह है जो सांसारिक प्राणियों को प्रतीत होता है । यह रूप पंच भौतिक शरीर का है जो माया-मोह से ग्रसित रहता है और जन्म-मरण के बन्धन में पड़कर दुःख भोगता है । जीव के इन दोनों रूपों के विवेचन में दोनों धाराओं के कवियों में पूर्ण साम्य है ।

उपर्युक्त साम्य के होते हुए भी दोनों धाराओं के कवियों में कहीं-कहीं जीव विषयक भावना में अन्तर भी आ गया है । यह अन्तर भी कृष्ण-भक्ति सम्प्रदायों तथा राम-भक्ति सम्प्रदायों की दार्शनिक मान्यता के ही कारण है । सूर आदि कृष्ण-कवियों ने आचार्य वल्लभ की दार्शनिक मान्यता के आधार पर जीव को अणु ही माना है और सर्वत्र जीव को ब्रह्म से अल्परूप तथा हीन बतलाया है । कहीं भी जीव को आचार्य शंकर के 'तत्वमसि' या 'सोऽहमस्मि' की भांति ब्रह्म के समान पूर्ण और विभु (व्यापक) होने का दावा नहीं किया है, किन्तु राम-कवि तुलसीदास ने जहां एक ओर व्यावहारिक दृष्टि से भक्ति के कारण रामानुजाचार्य की

भांति जीव को ब्रह्म का अंश बताया और अपने अंशी ब्रह्म का भक्ति के द्वारा सान्निध्य प्राप्त करना जीव का परम लक्ष्य निर्धारित किया, वहीं कहीं-कहीं तुलसीदास ने शंकर अद्वैत के आधार पर जीव को 'सोऽहमस्मि' कहकर[1] ब्रह्म की भांति पूर्ण और व्यापक मान लिया है। इसका पूर्ण विवेचन तुलसी के जीव प्रकरण में हो चुका है। यही नहीं, तुलसीदास ने शांकर अद्वैत के प्रभाव से जीव की मुक्ति का साधन कहीं-कहीं ज्ञान को ही मान लिया है और अन्यत्र अधिकांश स्थलों पर ज्ञानयुक्त भक्ति को माना है। इसप्रकार हम कह सकते हैं कि कृष्ण और रामकवियों में जीव की भावना में यदि अन्तर है तो केवल इस बात में कि कृष्ण कवि जीव को सदैव ब्रह्म का अणु परिमाण या अंश ही मानकर चले हैं, किन्तु रामकवि तुलसी ने जीव को कहीं-कहीं ब्रह्म की भांति विभु(व्यापक) और पूर्ण बताया है। तुलसी की इस विचारधारा पर शांकर अद्वैत का स्पष्ट प्रभाव स्वीकार किया जा सकता है, जैसा कि इसके पूर्व रामकाव्य के जीव प्रकरण में वर्णित है।

जगत

आचार्य शंकर ने ब्रह्म 'सत्यं' के 'जगत्मिथ्या' के आधार पर ब्रह्म को ही एक मात्र सत्य बताया है और जगत का पूर्ण मिथ्यात्व घोषित किया है। आचार्य शंकर के पश्चात् विकसित होने वाले विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों में जगत के मिथ्यात्व को लेकर भिन्न-भिन्न

---

१ सोऽहमस्मि इति वृत्ति अखंडा।
दीप सिखा सोइ परम प्रचंडा।।
आतम अनुभव सुख सुप्रकासा।
तब भव मूल भेद भ्रम नासा।।

विचार प्रतिपादित किए गए । रामानुज ने उसे अचित् के रूप में ग्रहण करके ब्रह्म की उपाधि मात्र माना । अन्य आचार्यों ने भी अपना-अपना मत प्रतिपादित किया, किन्तु वल्लभाचार्य के पूर्व जगत की सत्यता की पूर्ण प्रतिष्ठा किसी ने नहीं की ।

आचार्य वल्लभ के शुद्धाद्वैत के अनुसार जगत को ब्रह्म का अविकृत परिणाम माना गया और जगत की सृष्टि ब्रह्म की इच्छा से हुई और उसी के सदंश से उसी के द्वारा हुई । वल्लभ सम्प्रदाय में माया के द्वारा जगत की उत्पत्ति नहीं मानी गई, इस प्रकार वल्लभ मत शंकर का ठीक विरोधी है । शुद्धाद्वैत में जहां एक और जगत की सत्यता की स्थापना है, वहीं संसार की असत्यता का भी उल्लेख है । इस प्रकार वल्लभ मत में जगत और संसार दोनों अलग हैं । जगत सत्य है और संसार असत्य । जगत को विद्या माया तथा संसार को अविद्या माया से उत्पन्न माना गया है ।

वल्लभ सम्प्रदाय के हिन्दी कवियों में जगत और संसार के सम्बन्ध में उपर्युक्त प्रकार का अन्तर परिलक्षित होता है, किन्तु अन्य कृष्ण सम्प्रदाय के कवियों में इस प्रकार का भेद नहीं दृष्टिगत होता है । सामान्यत: सभी ने जगत और संसार को एक ही मानकर उसकी निस्सारता, नाशवत्ता तथा मायाच्छादित होने का वर्णन किया है । राधा वल्लभीय कवि हरिराम व्यास ने जगत को माया रचित प्रपंच जाल कहा है[1] । भक्तकवि हरिदास ने जगत को मृगतृष्णा की तरह असत्य कहा है[2] । वल्लभ सम्प्रदाय के

---

१ एक पकरें सब जग लूटयो ।
  मायारचित प्रपंच कुटुम्ब की मोहजाल सब छूटयो ।
  --व्यास वाणी उत्तरार्द्ध, पृ० ५३१

२ हरि के ऐसे ही सब खेल ।
  मृगतृष्णा जग व्यापि रह्यो है, कहुं बिजौरौं न बेल ।
  धनमद, जोबनमद, राजमद ज्यौं पंछिन में डेल ।
  कह हरिदास यहै जिय जानौं तीरथ को सौ मेल ।

  --निम्बार्क माधुरी, पृ० २०४

कवियों ने संसार के मिथ्यात्व की घोषणा स्थान-स्थान पर की है । सूरदास ने संसार को सेमर के फूल के समान मिथ्या कहा है तथा उस सेमर के फूल पर मुग्ध जीव को सुक की तरह भ्रमित बताया है । संसार मिथ्या है । भेद खुलने पर जीव को पश्चाताप करना पड़ता है[1] । नन्ददास ने भी सूर की तरह संसार को असत्य बताया है[2] । इस प्रकार हम देखते हैं कि अन्य सम्प्रदाय के कवियों की जगत के सम्बन्ध में जो मिथ्यात्व की धारणा थी वही मिथ्यात्व की धारणा वल्लभ सम्प्रदाय के कवियों की संसार के प्रति है । किन्तु जैसा पहले कहा जा चुका है कि वल्लभ सम्प्रदाय के कवि जगत को सत्य मानते हैं । उसे गोपाल का अंश बताते हैं । सूरदास ने जगत को परब्रह्म कृष्ण के सत् से उत्पन्न माना है और उसकी उपमा जल के बुलबुले से दी है[3] । जिस प्रकार पानी का परिणाम बुलबुला है और वह लौटकर फिर पानी ही जाता है, उसी प्रकार यह जगत ब्रह्म के सत् अंश से उद्भूत है और फिर उसी में मिल जायगा । यह कथन वल्लभ के अविकृत परिणामवाद का द्योतक है । `सूरसारावली` में सूरदास ने सृष्टि की रचना के विषय में भी लिखा है कि किस प्रकार भगवान के हृदय में सृष्टि-रचना की इच्छा उत्पन्न हुई और फिर माया के द्वारा काल पुरुष के चित में

----

१ मिथ्या यह संसार और मिथ्या यह माया ।
   मिथ्या है यह देह कहो क्यों हरि बिसराया ।।

   --सूरसागर(ना०प्र०स०),पद ११९०

२ वहै बात संसार धार जिय फंदे फंदन ।

   --नन्ददास,पृ०१८४

३ ज्यों पानी ते होत बुदबुदा पुनि ता माहिं समाहीं ।
   त्यौंही सब जग कुटुम्ब तुमहिं ते पुनि तुम माहिं बिलाहीं ।।

   -- डा० दीनदयाल गुप्त : `अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय`,पृ०४४१

किस प्रकार क्षोभ पैदा हुआ ? तदनन्तर सत्व, रज, तम इन तीनों गुणों के मेल से प्रकृति और पुरुष के द्वारा सृष्टि का विस्तार हुआ । वल्लभ सिद्धान्तानुसार सृष्टि का विकास परम तत्व के परिणाम से उद्भूत २८ तत्वों द्वारा हुआ । इन २८ तत्वों का विवेचन `सूरसारावली` और `सूरसागर` में भी किया गया है[1]। नन्ददास ने भी `कनक कुण्डल न्याय` से जगत् और ब्रह्म की अद्वैतता सिद्ध की है[2]।

रामकाव्य

रामकाव्य के अन्तर्गत तुलसीदास और प्राणचन्द्र चौहान के `रामायण महा नाटक` ग्रन्थ में जड़ जगत तथा सृष्टि-विस्तार के विषय में विवेचन मिलता है । प्राणचन्द्र चौहान ने जगत् को भगवान राम की लीला मानते हुए अपने ग्रन्थ `रामायण महानाटक` में जगत का अत्यन्त संक्षेप में वर्णन किया है, जो महत्वपूर्ण न होने के कारण विचारणीय नहीं है । केवल सूचनामात्र देने के लिए इसका उल्लेख किया गया है । जगत के बारे में विस्तार से विवेचन केवल तुलसीदास की रचनाओं में मिलता है, किन्तु यह विवेचन जगह-जगह किया गया है । इन्हीं बिखरे हुए विचार-बिन्दुओं को शृंखलाबद्ध करके उनकी सृष्टि-प्रक्रिया और जगत विषयक धारणा का निरूपण किया जा सकता

---

१ आदि निरंजन निराकार कोउ हुतौ न दूसर ।
रचूं सृष्टि विस्तार भई इच्छा इस औसर ।
निरगुन तत्व ते महतत्व महतत्व ते अहंकार ।
मन इन्द्रिय शब्दादि पांचौ ताते कियौ विस्तार ।
शब्दादिक ते पंचभूत सुन्दर प्रगटाये ।
पुनि सब को रचि अण्ड आप में आप समाये ।
+ + + +
सूरसागर, ना०प्र०स०, पृ०३७६

२ एकहि वस्तु अनेक है, जगमगात जग धाम ।
ज्यों कंचन ते किंकिणी कंकण कुण्डल नाम ।।
--नन्ददास, पृ०६८

है। कुछ विद्वानों ने तुलसी के जगत् की तुलना शंकर के मिथ्या जगत से की है। कुछ ने रामानुज के अचित् सत्य जगत से तथा कुछ ने तुलसी के जगत को सत्यासत्य दोनों बतलाया है। विश्लेषण के बाद ही हम इस निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि तुलसी की जगत विषयक वास्तविक धारणा किस श्रेणी में रखी जा सकती है।

तुलसीदास ने जगत के स्वरूप का वर्णन तीन प्रकार से किया है :-

(१) जगत असत्य है।

(२) जगत राम का रूप है, अतः सत्य है।

(३) जगत को सत्य, झूठ या उभयरूप मानना तीनों ही भ्रम है।

(१) <u>जगत असत्य है</u>

जगत असत्य, झूठ, भ्रम या अविद्या है[१]। इस बात को तुलसीदास ने बहुत ही स्पष्ट जोरदार शब्दों में उपस्थापित किया है। जगत का मिथ्यात्व समझाने के लिए तुलसीदास ने अनेक प्रकार के उपमानों तथा दृष्टान्तों का भी प्रयोग किया है। तुलसीदास ने स्पष्ट कहा है कि जिस प्रकार सीप में रजत का, सूर्य की किरणों में जल का[२], रस्सी में सर्प का[३] मिथ्या बोध होता है, उसी प्रकार ब्रह्म या भगवान राम ही एकमात्र सत्य है। जगत मिथ्या है, लेकिन हमें असत् जगत ही उपर्युक्त वस्तुओं की तरह सत्य प्रतीत होता है।

---

१ यदि विधि का हरि आश्रित रहई।
   जदपि असत्य देत दुःख अहई ॥
   --रा०च०मा० १।१८।१

२ रजत सीप महं भास जिमि, यथा भानु कर बारि।
   --रा०च०मा० १।११७

३ झूठो मृगबारि सांचो जेवरी को सांप रे।
   -- विन० ७३।२

इसका कारण केवल हमारा अज्ञान या माया है । ज्ञान प्राप्त हो जाने पर जगत की सत्य प्रतीति सदा विनष्ट हो जाती है और केवल ब्रह्म ही एकमात्र सत्य रह जाता है । निश्चित रूप से तुलसी की जगत विषयक इस धारणा पर शांकर अद्वैत का स्पष्ट प्रभाव है ।

उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए कि तुलसीदास को जगत का अस्तित्व ही अमान्य है अथवा तुलसीदास को अद्वैत वेदान्त की जगत विषयक धारणा मान्य है । तुलसीदास सत्य के दो रूप मानते हैं-- पारमार्थिक सत्य और व्यावहारिक सत्य । पारमार्थिक दृष्टि से राम की तुलना में जगत असत्य है,क्योंकि उसका राम के अतिरिक्त अलग स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है, किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से जगत सत्य भी है,क्योंकि दैनिक जीवन में यह सत्य प्रतीत होता है । जगत के सत्य प्रतीत होने का कारण जगत का राममय होना है । इस प्रकार हम कह सकते हैं कि जगत की मिथ्यात्व की धारणा तुलसी की वास्तविक धारणा नहीं है ।

जगत राम का रूप है अत: सत्य है

कुछ स्थलों पर तुलसीदास ने जगत की नित्यता तथा सत्यता की भी घोषणा की है । राम को विश्वरूप,सचराचर रूप, विश्वायतन आदि कहकर तुलसीदास [illegible] ने जगत को राम का अंश,रूप आदि सिद्ध किया है । जब भगवान राम सत्य हैं तब उनका अंश जगत भी सत्य है । ब्रह्म ही इस जगत का निमित्त तथा उपादान दोनों कारण है । जिस प्रकार तन्तु और तन्तु निर्मित पट,मृत्तिका और[1] मृत्तिका निर्मित घट, कनक और कनक निर्मित आभूषण दोनों ही सत्य हैं,उसी प्रकार जगत के उपादान कारण राम और

---

१ यथा पटतन्तु घट मृत्तिका..... वि०प० [५५।४]

राम निर्मित जगत दोनों ही सत्य है । जगत के कारण राम का ज्ञान हो जाने पर जगत ही रामरूप में परिवर्तित हो जाता है और "सीयराममय"[1] सत्य प्रतीत होता है । निश्चित रूप से तुलसी की इस विचारधारा पर रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैतिक जगत का प्रभाव है, क्योंकि रामानुज ने अपने विशिष्ट ब्रह्म के दो तत्व माने हैं -- चित् तथा अचित् । चित तत्व जीव तथा अचित् जगत है । ये दोनों तत्व सत्य हैं, क्योंकि दोनों का अधिष्ठान ब्रह्म सत्य है । वास्तव में तुलसी की जगत विषयक धारणा का मूलमन्त्र यही है ।

(३) जगत को सत्य झूठ या उभयरूप मानना तीनों ही भ्रम है

जगत को सत्य असत्य और सत्यासत्य मानने वाले तीनों विचार भ्रामक हैं, ऐसा विचार गोस्वामी जी ने विनयपत्रिका की निम्न पंक्तियों में प्रकट किया है --

> कोउ कह सत्य, झूठ कह कोऊ, जुगल प्रबल कोउ माने ।
> तुलसिदास परिहरै तीनि भ्रम, सो आपन पहिचाने ।[2]

परिणामवादी सांख्य मतानुयायी दार्शनिकों का विचार है कि गोचर जगत सत्य है । बौद्ध तथा विवर्तवादी अद्वैत वेदान्ती इसे असत्य कहते हैं । इआरम्भवादी नैयायिक इस दृश्यमान् जगत को सत्य असत्य दोनों मानते हैं । गोस्वामी जी ने इन तीनों दार्शनिक विचारधाराओं को अंशतः सत्य तथा अंशतः भ्रमपूर्ण समझते हुए अपना वास्तविक प्रकट किया है कि जो व्यक्ति इन तीनों अवास्तविक नीरस वाद-विवादों को छोड़कर केवल वास्तविक ईश्वरमय स्वरूप को पहचानता है, वही सत्य है ।

---

१ सीयराममय सब जग जानी ।
--रा०च०मा० १।८।

२ विनयपत्रिका १११।४

उपर्युक्त जगत विषयक तीनों धारणाओं का सम्यक् विवेचन के करने के पश्चात् यही निष्कर्ष प्राप्त होता है कि तुलसीदास जगत को असत्य इस रूप में कहते हैं कि जगत का ईश्वर के अतिरिक्त स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं, सत्य इस रूप में कहते हैं कि जगत ईश्वर की वास्तविक कृति है और ईश्वर का ही रूप है। सत्यासत्य की विचारधारा भ्रामक है। तुलसीदास का वास्तविक विचार है कि मूलत: राम जगत के निमित्त और उपादान दोनों कारण हैं। वे ही इस जगत के अव्यक्त रूप कारण हैं और जगत रूप व्यक्त कार्य भी। यह नाना रूपात्मक जगत भगवान का आयतन है, भगवत रूप है। कालवादियों का 'काल' वैशेषिकों का परमाणु शैवों की 'चित्-शक्ति' सब इसी के अन्तर्भूत हैं। सम्पूर्ण जड़ चेतनात्मक सृष्टि भगवान में लीन थी। भगवान से प्रकृति, अन्त:करण चतुष्टय पंचतन्मात्राएं, अपंचीकृत पंचमहाभूत, देवता, पंचप्राण, दस इन्द्रियां और स्थूल जगत की रचना हुई। यह रचना उनकी शक्ति माया के द्वारा हुई और इस सृष्टि रचना का प्रयोजन तुलसीदास ने भगवान की लीला तथा जीव का कल्याण स्वीकार किया है। इस प्रकार यह सम्पूर्ण जगत भगवान राम द्वारा उनकी इच्छा से लीला करने के लिए रचा गया है तथा उन्हीं का वास्तविक रूप है, अत: सत्य है किन्तु जीवों को भ्रान्ति के कारण राम से भिन्न रूप में प्रतीत होता है। यह राम से भिन्न दृश्यमान् रूप ही जगत का मिथ्यारूप है। जिसका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। जब जीव को ज्ञान प्राप्त हो जाता है तब वह सम्पूर्ण जगत को राममय देखने लगता है और यही रामरूप ही जगत की सत्यता है। इस प्रकार हम संक्षेप में कह सकते हैं कि तुलसीदास को रामरूप में जगत की सत्यता मान्य है और उनकी यही विचारधारा सर्वत्र उनकी रचनाओं में प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से प्रकट है, यही बात तुलसी साहित्य के मर्मज्ञ डा० राजाराम रस्तोगी ने भी अपने

शोध-प्रबन्ध में जोरदार शब्दों में उपस्थापित किया है[१]। डा० रस्तोगी का मत तर्कयुक्त अतः समीचीन है ।

सृष्टि

तुलसीदास ने सृष्टि रचना की प्रक्रिया का भी विवेचन किया है, जिसपर सांख्यदर्शन के सृष्टिक्रम का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है । तुलसीदास के अनुसार जगत की रचना करने वाली भगवान की शक्ति माया का ही नाम प्रकृति है । अनीश्वरवादी दर्शनों में प्रकृति, गुण, काल, कर्म और स्वभाव स्वतन्त्रतत्व माने गए हैं । तुलसीदास इन्हें राम के अधीन और राम की ही शक्ति मानते हैं । यहां वे स्पष्ट रूप से अनीश्वरवादी दर्शन सांख्य से अलग हो जाते हैं । तुलसीदास के अनुसार प्रकृति त्रिगुणात्मिका है । गुण तीन हैं-- सत्व, रज तम । सृष्टि के पूर्व ये तीनों गुण साम्यावस्था में रहते हैं । जीवों के कल्याण के लिए राम की प्रेरणा से उनमें क्षोभ उत्पन्न होने पर सृष्टि प्रक्रिया का आरम्भ होता है । प्रकृति से बुद्धि, बुद्धि से अहंकार, और अहंकार से मन समेत ग्यारह इन्द्रियों, पांच तन्मात्राओं-- शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध और पंच महाभूतों --आकाश, वायु, तेज, जल, पृथिवी की उत्पत्ति होती है[२]। अहंकार से ही प्राण और इन्द्रियों के अधिष्ठाता देवता उत्पन्न होते हैं । तदनन्तर असंख्य स्थूल ब्रह्माण्डों और पिण्डों की सृष्टि होती है । ये अगणित पिण्ड-ब्रह्माण्ड राम की शक्ति

---

१ तुलसी ने एक तरफ तो अपने आधार ग्रन्थों के प्रति सम्मान प्रदर्शित करते हुए उनके दार्शनिक विचारों का उल्लेख किया है । दूसरी तरफ सृष्टि मेकत्व को महत्व न देकर सबको समन्वित करने का सफल प्रयास किया है । तुलसी की रचनाओं में जगत के प्रति भिन्न प्रकार के दृष्टिकोण मिलते हैं, किन्तु मेरे विचार से वे जगत की सत्यता पर ही विश्वास करते थे अन्यथा विनयपत्रिका और रामचरितमानस की आधारभूमि कच्ची मिट्टी सिद्ध हो जायगी ।

--डा० राजाराम रस्तोगी : `तुलसीदास जीवनी और विचारधारा`, पृ०३८

२ विन० प० ५४।२-३ मानस ६।१५।७।१३ छन्द ५

द्वारा रचित है,उनमें स्थित है,उनसे व्याप्त है और उन्हीं के रूप हैं । विश्व उनका विराट् रूप है[1] । जगत का अपने मूल कारण राम में लीन हो जाना `प्रलय` है ।

प्रलय

तुलसीदास ने अपनी कृतियों में प्रलय का उल्लेख तो कई बार किया है, किन्तु उसके स्वरूप,प्रकार आदि का सैद्धान्तिक विवेचन कहीं नहीं किया है । उनकी प्रलय विषयक धारणा वेदान्त और पुराणों में वर्णित विचारधारा का ही रूपान्तर प्रतीत होती है । कार्य का सूक्ष्म रूप से अपने कारण में अवस्थित हो जाना प्रलय है । दूसरे शब्दों में `त्रैलोक्य-विनाश` को प्रलय कहते हैं । `विष्णु पुराण` और `भागवत` में प्रलय के तीन रूप बतलाए गए हैं-- नैमित्तिक,प्राकृत और आत्यन्तिक । इनमें से प्रथम दोनों प्रलयों में कर्म का नाश तो हो जाता है,किन्तु अज्ञान का नाश नहीं होता फलत: संसार चक्र चलता ही रहता है,किन्तु आत्यन्तिक प्रलय में जीव इस संसार से मुक्त हो जाता है[2] । तुलसी के विदेह मुक्त अथवा जीवनमुक्त पात्रों का `हरि पद लीन` अथवा `ब्रह्म लीन` होना आत्यन्तिक प्रलय है । सगुणोपासक भक्त का लय नहीं होता है । तुलसी के अनुसार प्रलय के कारण राम ही हैं । सृष्टि,प्रलय इनका भृकुटि विलास या इच्छा मात्र है । विभिन्न नामों से अभिहित माया, शिव,भवानी,काल आदि निमित्तों के प्रेरक राम ही हैं । जिस भक्त पर उनकी कृपा होती है, वह सभी प्रकार के प्रलयों के प्रभाव से मुक्त रहकर दास्यभक्ति का आनन्द प्राप्त करता है ।

वैकुंठ

ऊपर जिस जगत या सृष्टि के स्वरूप,सृष्टि रचना और सृष्टि प्रलय के विषय में तुलसी के विचारों का विश्लेषण किया गया है,

----

१ रा०च०मा० १।२०१-२

२ `दुर्लभ ब्रह्मलीन विज्ञानी

-- रा०च०मा०

यह त्रिगुणात्मक भौतिक जगत है । इससे सर्वथा भिन्न राम का वैकुंठ लोक है । यह लोक विशेष भगवान का नित्य निवासस्थान है तथा भक्तों की भावना का केन्द्रबिन्दु है । उनको अन्तिम प्राप्तव्य और कामना का लक्ष्य है । कृष्ण भक्तों के गोलोक की तरह राम भक्तों का परम लक्ष्य वैकुंठ है । जिसके सामने मोक्ष आदि व्यर्थ है । यह बात ध्यान देने योग्य है कि तुलसी ने पार्थिव अयोध्या का तो बड़े विस्तार से वर्णन किया है,किन्तु वैकुंठ का उल्लेख मात्र करके सन्तुष्ट हो गए हैं । इसका कारण यह है कि अवतार राम की लीला और उनका व्यक्त लीलाधाम कवि का मुख्य प्रतिपाद्य रहा है । अगोचर वैकुंठ आदि का निर्देश केवल प्रसंगवश हुआ है । तुलसीदास ने अपने ग्रन्थ 'रामचरित मानस','कवितावली', 'व विनयपत्रिका' आदि में राम के जिस धाम वैकुंठ[१] की चर्चा की है,उसका दिग्दर्शन हमें विष्णुपुराण आदि ग्रन्थों में भी होता है । यह वैकुंठ लोक जिसे वैष्णव विष्णुलोक भी कहते हैं, सातों ऊर्ध्व लोकों के भी ऊपर स्थित है । वह स्वयं प्रकाश स्वरूप है । वहां सूर्य,चन्द्र,अग्नि आदि की भी गति नहीं है । संसार-बन्धन-मुक्त जीव उस वैकुंठ लोक में पहुंचकर दिव्य शरीर से परमात्मा की नित्य सेवा में रत रहता है । विष्णु के उस परमधाम में पहुंचकर एक बार उस अमृत पद को प्राप्त कर लेने पर जीव इस भव चक्र में नहीं लौटता है ।

तुलना और निष्कर्ष

ऊपर विश्लेषित तथ्यों के प्रकाश में यही कहा जा सकता है कि दोनों साहित्यों में जगत विषयक धारणा लगभग समान है । दोनों धाराओं में जगत के प्रति मूलत: कोई भेद नहीं दृष्टिगत होता है । यदि कोई भेद किसी स्थल विशेष पर दिखलाई भी पड़ता है तो वह वास्तविक भेद नहीं

---

१ श्रीपति पुर वैकुंठ निवासी ।

—रा०च०मा० ४।८०।२

कहा जा सकता है,क्योंकि आलोच्यकालीन कृष्ण एवं राम द० दोनों धाराओं के कवियों ने जगत की भक्तिपरक व्याख्या की है और उसे अपने इष्टदेव का ही रूप या कार्य कहा है । इष्टदेव के द्वारा उनकी इच्छा से लीलाविस्तार के लिए रचित होने के कारण यह जगत सत्य माना गया है । यदि किसी भी कवि ने कहीं प्रसंगवश जगत के मिथ्यात्व की घोषणा की तो वह कवि का वास्तविक मन्तव्य नहीं कहा जा सकता है,क्योंकि यह भी सम्भव है कि कवि ने उस कथन को प्रसंगानुसार प्रचलित विचार सरणि के उदाहरणस्वरूप उपस्थित किया हो । वास्तव में किसी भी कवि का दृढ़ विचार उसके साहित्य में सर्वत्र प्राप्त उदाहरणों से ही निश्चित किया जा सकता है । अब हम दोनों धाराओं के कवियों की जगत विषयक धारणा का तुलनात्मक विश्लेषण करेंगे ।

जगत का मिथ्यात्व

कृष्ण काव्यान्तर्गत वल्लभ सम्प्रदाय के कवियों ने जगत के दो रूप माने हैं । एक रूप सत्य है, जिसका नाम जगत है,दूसरा रूप असत्य है, जिसे इन कवियों ने संसार की संज्ञा दी । वास्तव में जगत और संसार का यह भेद वल्लभाचार्य ने ही निर्धारित किया था,जिसका पूर्ण अनुसरण इन कवियों ने किया । अन्य समस्त कृष्ण सम्प्रदाय के कवियों ने जगत और संसार को एक ही मानकर उसकी निस्सारता असत्यता तथा मायाच्छादित होने का वर्णन किया है । रामकवि तुलसीदास ने प्रसंगवश जगत को मिथ्या अवश्य कहा है, किन्तु यह तुलसीदास का दृढ़मत नहीं कहा जा सकता है और न तो यह तुलसी प्रतिपादित जगत का वास्तविक स्वरूप ही कहा जा सकता है,बल्कि यह जगत का दूसरा रूप माना जा सकता है । क्योंकि ऐसा मान लेने पर तुलसी का दृढ़ सिद्धान्त `सीय राममय सब जग जानी` निर्मूल हो जाएगा । वास्तव में तुलसीदास ने जगत के मिथ्यात्व का कथन शंकराचार्य के जगत विषयक विचारों के

उदाहरण के रूप में ग्रहण किया है,क्योंकि आचार्य शंकर का 'ब्रह्म सत्यं जगत् मिथ्या' का सिद्धान्त मध्ययुग में व्यापक रूप से प्रचलित था और उसका प्रभाव तत्कालीन समस्त दार्शनिक तथा धार्मिक सम्प्रदायों पर पड़ा । तुलसीदास भी उससे अछूते नहीं रह सके । इस प्रकार निष्कर्ष रूप में हम यही कह सकते हैं कि दोनों धाराओं के कवियों ने जगत के दो रूप माने हैं । एकरूप मिथ्या या मायाजनित है,जो आकर्षक और मायामोह में डालने वाला है । यह रूप जगत का वास्तविक रूप नहीं है,बल्कि भ्रमवश प्रतिभासित रूप है । जगत का वास्तविक रूप इष्टदेव कृष्ण और राममय है ।

जगत की सत्यता

अधिकांश कृष्ण कवियों ने वल्लभ सिद्धान्तानुसार जगत को ब्रह्मकृष्ण के द्वारा उनकी इच्छा से, लीला विस्तार के लिए एवं भक्तों के आनन्द के लिए उनके सत् अंश से आविर्भूत माना है । चूंकि ब्रह्मकृष्ण सत्य हैं,अत: उनके सत् अंश से उत्पन्न यह जगत भी सत्य है । ऐसी दृढ़ धारणा कृष्ण-कवियों की है । ठीक यही विचार जगत के विषय में राम-कवि तुलसीदास का भी है । तुलसीदास ने भी कृष्ण-कवियों की भांति जगत् को ब्रह्म राम के अंश से उद्भूत माना । अत: सत्य कहा । इसका प्रमाण उनका सिद्धान्त वाक्य 'सब सीय राम मय सब जग जानी' से मिल जाता है । इसके अतिरिक्त तुलसीदास भक्ति के क्षेत्र में रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैतिक दर्शन से प्रभावित हैं । आचार्य रामानुज ने जगत को ब्रह्म का अचित् सत्य अंश बताया । फलत: तुलसीदास ने भी इसी आधार पर जगत को वास्तविक रूप में सत्य स्वीकार किया । इस प्रकार निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि कृष्ण एवं राम दोनों धाराओं के लगभग सभी कवि भक्त थे और अपने इष्टदेव को सर्वत्र सभी पदार्थों में सर्वान्तर्यामी रूप में मानते थे । इसी आधार पर समस्त जगत को अपने-अपने इष्टदेवों के अंशों से उत्पन्न मानकर ही सत्य सिद्ध किया है

इसके अतिरिक्त जगत् की उत्पत्ति और सृष्टि-रचना की प्रक्रिया में भी दोनों धाराओं में साम्य है । दोनों धाराओं के कवियों की सृष्टि-रचना-प्रक्रिया का वैज्ञानिक वर्णन सांख्य दर्शन से प्रभावित प्रतीत होता है ।

माया

कृष्णकाव्य : — वैसे तो माया को भ्रम में डालने वाली तथा अविद्यारूपिणी सभी सम्प्रदायों, में मान्य है, किन्तु माया का विस्तृत विवेचन वल्लभाचार्य तदनुसार अष्टछाप के कवियों ने किया । वल्लभाचार्य ने जगत और संसार की भांति माया के भी दो भेद किए हैं । एक विद्या माया दूसरी अविद्या माया । विद्या माया वह है, जो ब्रह्म के आधीन है, ब्रह्म की सत्य शक्ति है । इसके द्वारा ब्रह्म समस्त जगत का निर्माण करता है और अविद्या माया वह है जो जीव को काम, क्रोध, मोह आदि के द्वारा वशीभूत करके उसे हरि-भक्ति से पृथक् करके पथभ्रष्ट करती है[१] ।

अष्टछाप के भक्त-कवियों ने माया का विस्तार से वर्णन किया है, किन्तु इन कवियों ने अविद्या माया का विद्या माया की अपेक्षा अधिक वर्णन किया है । सूरदास ने दोनों प्रकार की माया का वर्णन किया है । जहां एक ओर सूरदास ने विद्या माया को ब्रह्म की शक्ति और सृष्टि के रचने का कारण माना है[२], फलस्वरूप उसको सत्य स्वीकार किया है, वहीं दूसरी ओर वे अविद्या

१ विद्या विद्ये हरेः शक्ति माययैव विनिर्मिते
ते जीवस्यैव नान्यस्य दुःखित्वं चाप्यनीशता ।(३४)
--आचार्य वल्लभ-- तत्वदीप निबंध शास्त्रार्थ प्रकरण

२ बहुरि जब हरि की इच्छा होय ।
देखैं माया के दिसि जोय ।
माया सब तबही उपजावै ।
ब्रह्मा सौं पुनि सृष्टि उपावै ।

— सूरसागर, पृ०७६७

माया को भ्रम और भगवान से कपट कराने वाली कहा है। यह अविद्या माया रूपी नटी हाथ में लकुटी लेकर[१] जीव को कौटिक नाच नचाती है और उसकी बुद्धि को भ्रम में डालती है।

इसी प्रकार विनय के अधिकांश पदों में सूर ने माया का अनिष्टकारी वर्णन किया है और माया का प्रभाव अत्यन्त व्यापक बताया है। सूर ने इस माया को नटिनी, मोहिनी, भुजंगिनी आदि नाम देकर माया के मिथ्यात्व का प्रतिपादन किया है, जैसा कि हम पहले देख चुके हैं। इन पदों को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि सूर पर शंकर मत का भी कुछ प्रभाव था, किन्तु उनके विद्या माया के वर्णन को पढ़कर इस भ्रम का निवारण हो जाता है और यह निश्चित हो जाता है कि सूर ने माया का वर्णन वल्लभ सिद्धांतों के अनुसार ही किया है।

सूरदास की ही भांति नन्ददास ने भी माया के विद्या और अविद्या रूपों को स्वीकार किया है और दोनों का स्पष्ट कथन उनके साहित्य में उपलब्ध होता है। 'भंवर गीत' के उद्धव-गोपी संवाद में गोपियां उद्धव की युक्तियों का खण्डन करती हुई कहती हैं कि यदि ईश्वर निर्गुण है तो गुण इस जगत में कहां से आए। वस्तुत: ईश्वर सगुण है और उसके गुणों की छाया उसकी माया के दर्पण में पड़ रही है। ईश्वरीय गुण और प्राकृत गुण

---

१ माया नटिनि लकुट कर लीन्हे कौटिक नाच नचावै।
दर- दर लोभ लागि लै डोलत नाना स्वांग करावै।
तुम सों कपट करावति प्रभुजू मेरी बुद्धि भ्रमावै।
मन अभिलाष तरंगनि करि-करि मिथ्या निशा जगावै।
महा मोहनी मोह आत्मा मन करि अपहि लगावै।
-- सूरदास- सूरसागर, पृ० ६

अविद्या माया के संसर्ग से भिन्न दीखते हैं । निर्मल जल के समान शुद्ध ईश्वरीय गुणों को अविद्या माया का कीच ने गन्दा और मैला बना दिया है और इन्हीं कलुषित गुणों को संसारी जन अपनाते हैं[1] । इस प्रकार हम देखते हैं कि इसी एक ही पद में नन्ददास ने शुद्ध-स्वरूपा माया तथा मलमयी अविद्या माया दोनों का वर्णन किया है,जो वल्लभ सिद्धान्तानुसार है ।

अन्य सम्प्रदाय के कवियों ने भी माया को इसी रूप में ग्रहण किया है और माया को ब्रह्म की वश-वर्तिनी तथा जीव को भ्रमाने वाली बताया है । हरिदास ने माया को कृष्ण की ही माया माना है,जो कि मुनियों को भी मुग्ध कर लेती है[2] ।

भक्त कवि हरिव्यास ने भी माया को त्रिगुणात्मक माना है[3] ।

<u>रामकाव्य</u>

सभी अद्वैतवादी दर्शनों ने माया का विवेचन किया है । शांकर अद्वैत वेदान्तियों ने माया के अस्तित्व को सत्य न स्वीकार करते हुए मिथ्या या भ्रम में डालने वाली कहा है,किन्तु वैष्णव-भक्त दार्शनिकों ने

---

१ जो उनके गुन नाहि और गुन भये कहां ते ।
बीज बिना तरु जमे मोहि तुम क्यों कहां ते ।
वा गुन की परछांइ री माया दर्पन बीच ।
गुन ते गुन न्यारे भये अमल वारि मिलि कीच ।।
सखा सुन स्याम के ।
——नन्ददास : भंवरगीत,पृ०१२८

२ तुमरी माया बाजी प्यारी विचित्र मोहे मुनि मुनि काके भूले कोउ ।
—— निम्बार्क माधुरी,पृ०२०२

३ माया त्रिगुन प्रपंच पवन की अंत न आवे तास ।
—— निम्बार्क माधुरी,पृ०८५

माया को ब्रह्म की वास्तविक शक्ति मानकर उसका सत्य अस्तित्व स्वीकार किया । तुलसीदास भक्त थे, अत: उनको भक्त दार्शनिकों का ही माया विषयक विचार मान्य हुआ । तुलसीदास के मतानुसार ब्रह्म राम की शक्ति का नाम 'माया' है । उनकी इस शक्ति-रूपा माया का दूसरा नाम सीता है[1] । तुलसी के राम-भक्ति-दर्शन में 'सीता' और 'माया' शब्द समानार्थी हैं । जिस प्रकार राम के दो रूप हैं -- निराकार और साकार उसी प्रकार सीता के भी दो रूप हैं--अव्यक्त और व्यक्त । सीता जब अव्यक्त रूप में रहती है, तब उनका नाम माया है, किन्तु जब वही माया अपने व्यक्त साकार रूप में वाणी का विषय होती है, तब उसे सीता कहते हैं[2] । जिस प्रकार निर्गुण निराकार राम अवतार लेते हैं, उसी प्रकार उनके साथ उनकी माया भी अवतार लेती है[3] । भगवान विष्णु कृष्ण आदि अवतारों के साथ उनकी शक्ति लक्ष्मी, रुक्मिणी का भी अवतार होता है ।

तुलसीदास ने 'माया' शब्द का व्यवहार अनेक अर्थों में किया है-- छल, कपट या धोखा[4], जादू या इन्द्रजाल[5], 'मैं - मेरा' और 'तुम-तुम्हारा' का भेद-भाव, दुर्जेय दैवी या आसुरी शक्ति, भ्रान्तिकारिणी रचना एवं उसकी मिथ्या प्रतीति, संसारासक्ति या मोह, मोहकारिणी शक्ति, जीव को बांधने वाला पाश, ईश्वर की आदि शक्ति, ईश्वर की रहस्यमय

---

१ रा०च०मा०, अयो०का०, २१८।२

२ श्रुतिसेतु पालक राम तुम्ह जगदीस माया जानकी ।--रा०च०मा०, अयो०२।१२६

३ आदि शक्ति जेहि जग उपजाया । सोउ अवतरिहि मोरि यह माया ।।
--रा०च०मा०, बाल०, १५२।२

४ रा०च०मा०, अयो०का०, ३३।२

५ रा०च०मा०, बाल० १८३।२

अद्भुत, अज्ञेय तथा अनिर्वचनीय शक्ति, विश्व को नचाने वाली ईश्वरीय शक्ति, ईश्वर की कारयित्री शक्ति, प्रकृति, सत्य-सा प्रतीत होने वाला यह समस्त जगत अविद्या और अविद्याकारिणी जीव-भ्रामक शक्ति आदि । उस अनिर्वचनीय माया का प्रभाव अपार है । सुर, असुर, नाग, नर, चर, अचर, काल, कर्म और त्रिदेव तक इसके वशवर्ती हैं । यह समस्त जग को नचाने वाली है । चराचर जगत की रचना करने वाले विधाता को भी इसने अनेक बार नचाया है, परन्तु यह राम की दासी है । उनके संकेतमात्र पर नचाने वाली नर्तकी है । सामान्यतः माया वह शक्ति है, जिससे विश्व की रचना होती है किन्तु इस माया का वास्तविक ज्ञान जीव के लिए अत्यन्त दुस्साध्य है ।

वैसे तो तुलसीदास ने माया का प्रयोग अनेक रूपों में किया है, किन्तु मुख्यरूप से माया के दो रूप ही तुलसीदास को मान्य हैं--प्रथम विद्या दूसरी अविद्या[1] । विद्या माया राम की वास्तविक शक्ति है, जिसके द्वारा वे विश्व की रचना करते हैं अथवा जो उनकी प्रेरणा से विश्व की रचना करती है । सत्व, रज और तम तीनों गुण माया के आधीन हैं । वह स्वयं शक्तिहीन है । उसकी शक्ति वस्तुतः प्रभु राम की ही शक्ति है । यह अखिल ब्रह्माण्ड माया का कार्य है और यह भी माया ही है । यह विद्या माया विश्वकी रचना भी करती है और जीवों को सद्बुद्धि देकर उनका कल्याण भी करती है । संक्षेप में यह विद्या माया वास्तविक भगवान की शक्ति रूपा तथा जीवों की कल्याण-कारिणी है ।

दूसरी अविद्या माया है जिसके लिए तुलसीदास ने केवल 'माया' या 'अविद्या' शब्दों का ही व्यवहार किया है । इस माया के द्वारा 'मैं-मेरे' तथा आत्मा को शरीरी समझना आदि मिथ्या विचारों का

---

१ तेहि कर भेद सुनहु तुम सोऊ । विद्या अपर अविद्या दोऊ ।।
— रा०च०मा०, अरण्य कां०, १५।२

मुक्त होता है । यह माया सत्य को मिथ्या और मिथ्या को सत्य का बोध कराती है । यह मोहकारिणी आवरण-शक्ति है, जो घरता के डाबर पानी की भांति जीव को समावृत किए हुए है । अविद्या माया से आवृत मूढ़ जीव अपने स्वरूप और भगवत्-स्वरूप को भूलकर भव-बन्धन में पड़ता है । अविद्या माया के द्वारा जीव ब्रह्म या भगवान से अलग किया जाता है और वह संसार के आकर्षण में फंसकर उसी को वास्तविक मान लेता है तथा उसके क्षणिक सुख को ही वास्तविक सुख मानकर सुखी या दुखी होता है । इस प्रकार अविद्या माया जीव को संसार की तरफ प्रवृत्त करती है, किन्तु विद्या माया जीव को अपने वास्तविक स्वरूप, ब्रह्म के स्वरूप तथा जगत के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान करा कर उसे विश्व से निवृत्ति की ओर उन्मुख करती है ।

तात्त्विक दृष्टि से माया का भेद या विभाजन नहीं किया जा सकता है । माया के दो प्रकार के कार्यों को समझाने के लिए ही तुलसीदास ने विभाजन स्वीकार किया है । उन्होंने विद्या माया को ही 'प्रभु-प्रेरित' कहा और अविद्या माया को नहीं, इसका यह आशय नहीं कि अविद्या माया स्वतन्त्र है । सांख्य दर्शन में विश्व की प्रकृति को जड़ होने पर भी स्वतन्त्र माना गया है । सांख्य के सिद्धान्त को अंशतः स्वीकार करते हुए भी तुलसीदास जड़ प्रकृति का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं मानते हैं, बल्कि उसका संचालक परमात्मा को स्वीकार करते हैं । अविद्या माया के प्रेरक और नियंता भी राम ही हैं । अद्वैत वेदान्त में 'अज्ञान', 'अविद्या' और 'माया' शब्दों का व्यवहार एक ही अर्थ में हुआ है । इस अविद्या माया की दो शक्तियां -- विक्षेप और आवरण -- बतलाई गई हैं । विक्षेप शक्ति रजोगुण की कार्य-शीला शक्ति है, जो सभी प्रवृत्तियों का कारण है । आवरण शक्ति तमोगुण की शक्ति है, जिससे कारण वस्तु कुछ-की-कुछ अवभासित होती है । किन्तु तुलसीदास अध्यात्म रामायणकार की भांति विक्षेप शक्ति को विद्या माया

और आवरण शक्ति को अविद्या माया मानते हैं । इसका विश्लेषण अनावश्यक विस्तार होगा ।

राम की माया सीता

सीता राम की परम शक्ति है । उनकी प्रिया है । शक्ति और शक्तिमान् में भेद नहीं होता, अतः सीता राम से अभिन्न है । जिस प्रकार परछाईं का शरीर से, प्रभा का सूर्य से अथवा चन्द्रिका का चन्द्रमा से अलग होना सम्भव नहीं है, उसी प्रकार सीता राम से अलग नहीं हो सकती है । जिस प्रकार अर्थ और वाणी तथा जल और तरंग का भेद तात्विक नहीं है, उसी प्रकार राम और सीता का भी भेद वास्तविक नहीं है । राम की आदिशक्ति होने के कारण जगन्मूल कही गई है[1] । ये विश्व का उद्भव, पालन और संहार करने वाली हैं । उनके भृकुटि विलास से ही विश्व निर्मित हो जाता है ।

त्रिदेव की शक्तियाँ

ब्रह्माणी, लक्ष्मी, भवानी उनके अंश-मात्र से उत्पन्न हैं[2] । कहीं-कहीं सीता की तुलना में भवानी आदि की हीनता का जो चित्रण हुआ है, वह काव्यात्मक अधिक है, दार्शनिक दृष्टि से कम । सीता लक्ष्मी का अवतार भी है और उनकी जननी तथा वंदिता भी[3] । ये पार्वती की जननी एवं वंदनीया भी हैं और उनके समान तथा उनकी स्तुति करती हुई भी चित्रित की गई हैं ।

---

१ आदि शक्ति छबिनिधि जग मूला ।

—रा०च०मा०, बाल का०, १४८।२

२ जासु अंस उपजहिं गुन खानी । अगनित लच्छि उमा ब्रह्मानी ।।
भृकुटि विलास जासु जग होई । राम बाम दिसि सीता सोई ।।

· रा०च०मा०, बालका०, १४८।२

रा०च०मा०, बालका०, १४८।२, २५८, लंका का० १०७ छंद

विचित्र विरोधाभास का समाधान यह है कि वे मूलत: परम विष्णु राम शक्ति (जिन्हें लक्ष्मी भी कहा गया है) की अवतार हैं । माया के दो रूपों की भांति ही सीता के भी दो रूप हैं-- विद्या रूप और अविद्या रूप । विद्या रूप सीता के कार्य के दो प्रकार के हैं-- प्रथम जगत की रचना तथा द्वितीय जीव का कल्याण । उनके ये सभी व्यापार जीव के कल्याण के लिए हैं । विश्व कल्याण के सभी कार्य राम की प्रेरणा से उनकी माया ही द्वारा सम्पन्न होते हैं । माया की इस कल्याणकारी पक्ष पर बल देने के लिए ही तुलसी ने विश्वमूला माया, भवानी या सीता को जगत-जननी मां कहा है । इस प्रकार वे पुरुषकार-रूपा भी हैं । वे भक्तों की क्लेशहारिणी एवं सर्व-श्रेयस्करी हैं । वे राम भक्ति की प्राप्ति में भक्त की अमोघ सहायता करती हैं । अपने इसी धर्म के कारण ही वे भक्ति-स्वरूपा मानी गई हैं । अविद्या रूप में दुष्टविमोहन होता है । धनुष-यज्ञ में आए हुए मूढ़ राजा और रावण आदि दास उनके अविद्या रूप से ही मोहग्रस्त हुए थे । तात्पर्य यह कि वे भक्तों के लिए विद्यारूपा हैं और अभक्तों के लिए अविद्या रूपा । आलोचकों को सन्देह है कि जब सीता और माया एक ही हैं तब माया सीता का हरण कैसा?[1] माया सीता का अर्थ निरूपण दो प्रकार से किया जा सकता है एक तो यह कि रावण ने माया रूपी सीता का हरण किया । दूसरे यह कि वास्तविक न होते हुए भी रावण को वास्तविक प्रतीत होने वाली सीता का हरण हुआ । माया के दोनों रूप सीता की माया में समाहित हैं ।[2] एक और शंका उपस्थित की जाती है कि जो सीता स्वयं माया है उनकी माया कैसी ? इसका उत्तर यह है कि राम

----

[1] पुनि माया सीता कर हरना । श्री रघुबीर बिरह कछु बरना ।।

—रा०च०मा०, उत्तर का०, ६६।३

[2] माया सब सिय माया माहूं ।

— रा०च०मा०, अयो०का०, २५२।२

के सम्बन्ध से सीता उनकी शक्ति माया है, परन्तु जीव की व्यावहारिक दृष्टि से सीता की भी अपनी दिव्य, अलौकिक शक्ति है । वही उनकी माया है । राम की शक्ति सीता की भाँति शिव की शक्ति भवानी भी माया है ।

विश्व-रचना की दृष्टि से माया अथवा सीता और प्रकृति में पूर्ण तादात्म्य है । सांख्यशास्त्र में दार्शनिक तथ्य को आकर्षक और बोधगम्य बनाने के लिए त्रिगुणात्मिका प्रकृति की स्त्रीलिंग रूप में कल्पना की गई । औपनिषदिक ब्रह्म-भावना ने सांख्य के परस्पर भिन्न तत्वों --प्रकृति और पुरुष में एकता स्थापित की । परमात्मा को उनका मूल, आश्रय, नियामक आदि माना गया । प्रकृति ईश्वर की आज्ञाकारिणी मानी गई । पौराणिक और धार्मिक विश्वासों ने रूपक या मानवीकरण का आश्रय लेकर उसे ईश्वर की पत्नी के रूप में कल्पित किया । विभिन्न सम्प्रदायों में उसे विभिन्न नाम दिए गए । रामभक्ति सम्प्रदाय में `सीता` कहा गया । वेदान्त की माया और सांख्य की प्रकृति की सभी विशेषताएं सीता में सम्मिलित की गईं । उपर्युक्त समग्र विश्लेषण को ध्यान में रखते हुए निष्कर्ष रूप में यही कहा जा सकता है कि राम की अभिन्न शक्ति का नाम माया है । अपनी माया के द्वारा राम सृष्टि आदि का कार्य सम्पन्न करते हैं । ब्रह्मा आदि की शक्ति राम की ही शक्ति अर्थात् माया है । माया को ही सीता कहते हैं[१] । राम के साथ उनकी माया भी अवतार लेती है । माया के दो रूप हैं-- विद्या और अविद्या । विद्या माया विश्व-रचना और जीव के मोक्ष का हेतु है । अविद्या माया जीव के मोह तथा भव-बंधन का कारण है । मायानिर्मित विश्व को भी `माया` कहा जाता है । सम्पूर्ण विश्व माया का वशवर्ती है । समस्त वर्णित तुलसी की माया विषयक धारणा का मूल वाक्य निम्न है:--

---

१ श्रुति-सेतु पालक राम तुम्ह जगदीस माया जानकी ।

-- रा०च०मा०, अयो०का०, १२६ छन्द

मैं अरु मोर तोर तैं माया । जेहि बस कीन्हें जीव निकाया ।।
गो गोचर जहं लगि मन जाई । सो सब माया जानेहु भाई ।।
तेहि कर भेद सुनहु तुम सोऊ । विद्या अपर अविद्या दोऊ ।।
एक दुष्ट अतिसय दुख रूपा । जा बस जीव परा भवकूपा ।।
एक रचै जग गुन बस जाके । प्रभु प्रेरित, नहिं निज बल ताके ।।[1]

इस प्रकार तुलसीदास ने शांकर अद्वैत,वैष्णव आचार्यों एवं तत्कालीन समस्त दार्शनिक सम्प्रदायों की समान बातों को निस्संकोच ग्रहण किया तथा जहां दार्शनिक सम्प्रदायों में विरोध दिखाई पड़ा,वहां उन्होंने समन्वय बुद्धि से काम लिया ।

तुलना और निष्कर्ष

माया के स्वरूप और कार्यों के विषय में कृष्ण एवं राम दोनों साहित्यों में मूलत: कोई भी भेद नहीं ज्ञात होता है । यदि कुछ अन्तर-बाह्य रूप से मालूम पड़ता है तो वह वर्णन करने की शैली और माया की भावना के उपस्थित करने में है । यह बात अवश्य है कि माया के स्वरूप और कार्य में विशेष मतभेद न होते हुए भी राम-कवि तुलसीदास ने माया के स्वरूप, भेद तथा उसके कार्य को विस्तार से और क्रमबद्ध तथा वैज्ञानिक रूप से प्रस्तुत किया है, किन्तु कृष्ण-कवियों ने माया के द्वारा जीव को भ्रमित करने तथा दु:ख दिए जाने का ही विस्तृत विवेचन किया है । उनके द्वारा वर्णित माया के कष्टों से ही माया के स्वरूप का कुछ ज्ञान होता है । इन कवियों ने राम कवियों की भांति माया का वैज्ञानिक विवेचन नहीं प्रस्तुत किया है ।

---

१ रा०च०मा०,अरण्य का०,१५।२

इसके अतिरिक्त अन्य बातों में दोनों धाराओं के कवि पूर्ण साम्य रखते हैं । दोनों धाराओं के कवियों ने माया को अपने-अपने इष्टदेवों की शक्ति माना है और सर्वत्र कहा है कि हे भगवान ! आपकी माया हम लोगों को भ्रम में डालकर आपसे अलग रखना चाहती है । यद्यपि यह माया इष्टदेव की है, किन्तु इष्टदेव इससे बिल्कुल स्वतन्त्र हैं । उनके ऊपर इस माया का रंचमात्र भी प्रभाव नहीं है । इष्टदेव मायाधीश हैं । यह उनकी दासी है । यह उनसे सदैव डरती रहती है । इसी के द्वारा इष्टदेव या ब्रह्म सृष्टि की रचना करते हैं । माया का वास्तविक स्वरूप क्या है? इसको तुलसीदास ने कृष्ण-कवियों की अपेक्षा अधिक व्यापक तथा वैज्ञानिक ढंग से कहा है । तुलसीदास का विचार है कि जहां तक मन और इन्द्रियां पहुंचती हैं, वह सब माया है । 'मैं' और 'मेरा', 'तू' और 'तेरा' यह सब भी माया है । छल, कपट, मत्सर, ममता, मोह इत्यादि ये सब माया के परिवार हैं । जैसा कि ऊपर कह चुके हैं, कृष्ण-कवियों ने माया के दुष्ट कर्मों का ही विशद् वर्णन किया है और इसी वर्णन से ही माया के स्वरूप की झलक मिलती है । इन कवियों ने सैद्धान्तिक ढंग से माया के स्वरूप का विवेचन नहीं किया है ।

माया के विद्या तथा अविद्या ये दोनों रूप दोनों धाराओं के कवियों को मान्य हैं । यद्यपि राम-कवि तुलसी ने इसे माया के दो भेद के रूप में वर्णन किया है, किन्तु कृष्ण-कवियों ने माया के इस प्रकार नाम लेकर दो भेद तो नहीं किए हैं, किन्तु ये विद्या और अविद्या ये दोनों भेद माया के कार्य के रूप में बताए हैं ।

माया के इन दो भेदों के आधार पर उसके दो प्रकार के कार्य भी हो जाते हैं, जिसका वर्णन दोनों धाराओं के कवियों में मिलता है । माया का प्रथम कार्य सृष्टि-रचना है । दोनों धाराओं के कवियों ने एक स्वर से स्वीकार किया है कि माया ही सृष्टि-रचना करती है । उसके वश में सत् रज तम ये

तीनों गुण है,अर्थात् यह त्रिगुणात्मिका है । परन्तु सृष्टि-रचना का कार्य प्रभु की प्रेरणा से ही माया करती है । उसमें अपना कुछ भी बल नहीं है । यह विद्या माया के ही कार्य है । यह विद्या माया ब्रह्म की संगिनी है । कृष्ण-कवियों ने इस विद्या माया को राधा माना है और राम-कवियों ने इसको सीता की संज्ञा दी है। इसके अतिरिक्त माया का दूसरा कार्य है,जो कल्याणकारी न होकर जीवों को कष्टदायी होता है । यहअविद्या माया का कार्य है । यहअविद्या माया जीवों को भ्रम में डालती है तथा इष्टदेव से दूर रखती है । इस माया के द्वारा जीव अत्यन्त कष्ट पाता है । यही माया जीवों को अनेक नाच नचाती है और स्थान-स्थान पर नाना स्वांग बनवाकर घुमाती है । इसी के कारण जीव स्त्री,पुत्र,परिवार धन आदि के मोह में आसक्त होता है । वह काम,क्रोध,लोभ, के वशीभूत होकर अनेक दुष्ट कर्म करता है और सदैव जन्म-मरण के चक्कर में पड़कर दुखी होता है । यह माया जीव को उसके वास्तविक स्वरूप का ज्ञान नहीं होने देती, जिससे जीव ईश्वर के प्रति उन्मुख न होकर शरीर और सांसारिक माया-मोह को ही अपना वास्तविक स्वरूप मानकर उसी में अनुरक्त रहता है । माया के इन दोनों कार्यों में से कृष्ण-कवियों ने अविद्या माया के कार्यों का विस्तार से वर्णन किया है । विद्या माया का वर्णन अत्यन्त अल्प है, किन्तु राम-कवि तुलसी ने अविद्या माया के साथ-ही-साथ विद्या माया के कल्याणकारी कार्यों तथा उसके वास्तविक स्वरूप का भी अत्यन्त सूक्ष्मता से विशद् वर्णन किया है,जिसका विवेचन विस्तार पूर्वक पहले हो चुका है ।

ऊपर के विवेचन से हम इसी निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि माया विषयक मान्यता में दोनों धाराओं में पूर्ण साम्य है । यदि कुछ वैषम्य दृष्टिगत होता है, तो वह माया के

अंग-विशेष पर जोर देने अथवा वैज्ञानिक ढंग से प्रस्तुत करने में है, जो वास्तव में वाह्य-भेद ही कहा जा सकता है । अन्यथा दोनों की आन्तरिक भाव-धारा में पूर्ण साम्य है ।

मोक्ष

कृष्ण काव्य

जीव की जन्म,मृत्यु और सांसारिक दुखों से छूटकर अखण्ड आनन्द प्राप्त करने की दशा को सभी दार्शनिकों ने मोक्ष कहा है । मोक्ष की भावना सभी आस्तिक सम्प्रदायों में पाई जाती है । वेद ने इसे `परम पद`,`अमृत` तथा `तृतीय धाम` कहा है । यह स्थिति गीता के शब्दों में `परागति` तथा `परमधाम` है । इस स्थिति विशेष की सत्ता को सभी कवियों ने स्वीकार किया है । कृष्ण-भक्ति के साम्प्रदायिक दर्शनों ने मोक्ष की स्थिति के अनेकानेक भेद किए, किन्तु सभी ने भागवत में प्रतिपादित चार प्रकार की मुक्तियों को स्वीकार किया --सामीप्य,सालोक्य, सारूप्य और सायुज्य । इसका कारण सभी कृष्ण-दर्शनों का भागवत पर आधारित होना है । भागवत कृष्ण सम्प्रदायों में प्रमाण चतुष्टयम् की श्रेणी में रखा जाता है,किन्तु इन लोगों का मोक्ष निर्गुण ज्ञान के मोक्ष की तरह नहीं है,बल्कि भगवान की कृपा और भक्ति के द्वारा प्राप्त मोक्ष है ।

भागवत वर्णित चार प्रकार के मुक्तियों का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है । वल्लभाचार्य ने भी भागवत प्रतिपादित इसी प्रकार की चार मुक्तियों का विवेचन किया है । अतः साम्प्रदायिक ढंग से इसका प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष प्रभाव अष्टछाप के कवियों पर भी पड़ा है । सूरदास ने कहीं भी मुक्ति का सैद्धान्तिक विवेचन नहीं किया है, किन्तु जीवन-मुक्तअवस्था प्राप्त करने की ओर सूर ने अनेक संकेत किए हैं । सारा भ्रमर गीत इस प्रकार की अवस्था का संकेत करता है । सालोक्य,सामीप्य,सारूप्य और सायुज्य मुक्तियों का सैद्धांतिक रूप तो सूरसागर में नहीं मिलता है,किन्तु इन चारों मुक्तियों की आन्तरिक अनुभूति सूर के पदों से व्यक्त होती है । भगवान कृष्ण के लीलाधाम में पहुंचने की इच्छा सूर के कई पदों से व्यक्त होती है[१] । भगवान की लीलाधाम में पहुंचना ही सालोक्य-मुक्ति है । उनका सान्निध्य सामीप्य मुक्ति है । कृष्ण के साथ रहकर उन्हीं के समान आचरण करना सारूप्य मुक्ति है तथा कृष्ण के साथ एकीभाव की प्राप्त हो जाना सायुज्य मुक्ति है । सायुज्य मुक्ति में भक्त भगवान का अंग हो जाता है । यह सभी मुक्तियों में सर्वश्रेष्ठ और मुक्ति की अन्तिम अवस्था है । सभी श्रेष्ठ भक्तों की भांति सूरदास ने भी सायुज्य-मुक्ति की कामना की है । किन्तु यह ज्ञानियों का विषय है । सायुज्य मुक्ति की चरम अवस्था लयात्मक सायुज्य मुक्ति मानी

---

१ चकई री चलि चरन सरोवर जहाँ न प्रेम वियोग ।
जहँ भ्रम-निसा होत नहिं कबहूं सोइ सायर सुख जोग ।।
—सूरसागर,पद संख्या ३१७

जाती है । जिसमें जीव ब्रह्म का पूर्णतः अंश बन जाता है । सूर ने शृंगार के संयोग और वियोग दोनों पक्षों में अर्थात् रासलीला वर्णन और भ्रमरगीत दोनों में इस सायुज्य मुक्ति का पूर्ण अनुभव किया है । किन्तु इन प्रसंगों में सालोक्य एवं सामीप्य मुक्तियों की भी इच्छा व्यक्त की गई है, जो भगवान के अनुग्रह से प्राप्त होती है[1] । सूरदास जी भक्त थे और गुपाल का सदैव गुणगान ही उनको अभीष्ट था । अतः श्रीकृष्ण की भक्ति ही उनकी मुक्ति थी । इसका विवेचन उन्होंने कई पदों में किया है[2] । गोपियों के विरह-वर्णन में सूर ने ध्यानात्मक सायुज्य मुक्ति का अच्छा उदाहरण प्रस्तुत किया है, जहां कि गोपियों को कृष्ण विरह में पूर्ण विस्मृति हो जाती है और वे कृष्ण में पूर्णतया ही तल्लीन हो जाती है । तभी तो किसी-किसी गोपी के मुंह से 'दही लेहु री' के स्थान पर 'कृष्ण लेहुरी' निकल जाता है । प्रवेशात्मक सायुज्य-मुक्ति का स्वरूप सूर ने रास के वर्णन में विस्तार से किया है । इस प्रकार हम देखते हैं कि सूर ने यद्यपि विवेचनात्मक ढंग पर इन मुक्तियों का वर्णन नहीं किया है, किन्तु उनके साहित्य में उक्त चारों मुक्तियों का उदाहरण अवश्य मिल जाता है । सूर की गोपियां विरहासक्ति में चारों प्रकार

---

१ न भी भयौ है कृपा निधान ।
चितवत कृपा कटाच्छ तुम्हारौ मिटि गयौ तम-अज्ञान ।
मोह-निसा कौ लेस रह्यौ नहिं भयौ विवेक-विहान ।
+ + +
मेरे जिय अब येहे लालसा लीला श्री भगवान ।
श्रवन करौं निसि-बासर, हित सौं सूर तुम्हारी बान ।
--सूरसागर, सभा संस्करण, पद ३७५

२ श्री सुख सील गुपालहिं गाए ।
--सूरसागर, सभा संस्करण, पद सं० ३४८

की मुक्तियों का आनन्द लेता है[१]।

कुछ कवियों ने तो मोक्ष की भक्ति के समक्ष उपेक्षा की है। हरिराम व्यास तो भक्ति को ही श्रेष्ठ कहते हैं[२]। किन्तु मीराबाई भी सूर की भांति सालोक्य और सामीप्य आदि मुक्तियां पाना चाहती हैं और कहती हैं कि हे भगवान ! तुम्हारे दर्शन बिना एक घड़ी भी मैं नहीं रह सकती हूं[३]।

रसिक रसखान भक्ति में तल्लीन होकर कृष्ण के लीलाधाम ब्रज में जड़ रूप से प्रवेश पाने की कामना की है[४]।समस्त

----

१ ऊधो मुक्ती मेहुं निहारौ ।

+ + +

सेवत सुलभ श्याम सुन्दर की मुक्ति रही हम धारी । सू०सा०सभा—

हम सालोक्य,सरूप,सायुज्यौ रहति समीप सदाई । संस्करण पद४५९८

२ ताके बल गर्व भरे, रसिक व्यास है न डरे ।

लोक,वेद,कर्म,धर्म छाड़ि मुकुति वारि ।

व्यास वाणी-कवि हरिराम व्यास,पृ०२४६

३ घड़ी एक नहिं आवड़े तुम दरसण बिन मोय ।

+ + +

मीरा के प्रभु कबरे मिलोगे, तुम मिलियां सुख होय ।

मीरा बाई की पदावली,सं०परशुराम चतुर्वेदी,पद सं०३७

४ मानुष हौं तो वही रसखान बसौं ब्रज गोकुल गांव के ग्वारन ।

जौं पसु हौं तो बसेरो करौं मिलि कालिन्दी कूल कदम्ब की डारन ।

—ब्रजमाधुरी सार,सं०वियोगीहरि,पृ०३१०

विस्तार को देखते हुए संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि सभी कृष्ण-भक्तों ने सायुज्य तथा सारूप्य की अपेक्षा सामीप्य तथा सालोक्य मुक्तियों की लालसा विशेषरूप से प्रकट की है । अष्टछाप के कवियों को प्रेमात्मक मुक्ति ही अभीष्ट रही है । उसी को अनेक रूपों में व्यक्त किया गया है । सूर ने सायुज्य मुक्ति को भी अन्य मुक्तियों के साथ ग्रहण किया है । कुछ कवियों ने कृष्ण की लीलाधाम व्रज में जड़रूप से प्रवेश पाने तक की कामना की है । उनमें रसखान श्रेष्ठ हैं ।

रामकाव्य

रामकाव्य के अन्तर्गत तुलसीदास ने मोक्ष के स्वरूप, मोक्ष के प्रकार तथा मोक्ष प्राप्ति के साधनों का बड़े विस्तार से वर्णन किया है । शरीर या मन की जो क्रिया आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक ताप से पीड़ित जीव को इन त्रय तापों तथा भव-बन्धन से मुक्त करती है, उसे तुलसीदास ने साधन, उपाय, द्वार, पथ, पंथ, मग, मार्ग आदि कहा है[1] तथा मोक्ष के लिए उन्होंने मुक्ति, मोक्ष, निर्वाण, अपवर्ग परमगति, परमपद आदि शब्दों का प्रयोग किया है ।

मुक्ति के प्रकार

तुलसीदास ने दो प्रकार की[2] मुक्तियों का उल्लेख किया है-- विदेह मुक्ति तथा जीवन्मुक्ति । इसके बाद

---

१ रा०च०मा०, उत्तर का०, १०३।२

२ ,, दो०२२५ ।

अतिरिक्त तुलसी साहित्य में परम्परागत भागवत की चार प्रकार की मुक्तियों --सालोक्य,सामीप्य,सारूप्य और सायुज्य के भी उदाहरण मिल जाते हैं । सालोक्य मुक्ति के प्रकरण में गोस्वामी जी ने राम के लोक का निर्देश नहीं किया है । तुलसीदास ने वैकुंठ को ही राम का लोक माना है, `जो निज धाम`, `मम धाम`, `निजपद` आदि शब्दों के द्वारा अभिहित हुआ है । मारीचि ने `निजपद` प्राप्त किया और कुम्भकर्ण तथा बालि `निजधाम` पहुंचे, जटायु को `हरिधाम` अथवा `ममधाम` मिला । तुलसीदास जी ने सामीप्य का कोई उदाहरण नहीं दिया । जटायु को सारूप्य मुक्ति भी प्राप्त हुई । वह गृध्र रूप को छोड़कर भगवद्रूप हो गया । जटायु को ही नहीं उन सभी राक्षसों को भी जो युद्ध क्षेत्र में लड़ रहे थे, सारूप्य मुक्ति प्राप्त हुई । अंतिम मुक्ति है सायुज्य मुक्ति है, जिसका अर्थ जीव का भगवदीय तत्व में पूर्णत: घुल-मिल जाना है । यह सायुज्य मुक्ति शबरी ,कुम्भकर्ण तथा रावण को प्राप्त हुई थी । शबरी को यह मुक्ति राम के चरणों द्वारा रावण तथा कुम्भकर्ण को राम के मुख द्वारा प्राप्त हुई थी । समस्त कृष्ण-भक्तों को सालोक्य तथा सामीप्य मुक्ति सायुज्य तथा सारूप्य मुक्ति की अपेक्षा अधिक मान्य है,किन्तु तुलसी के मत से सायुज्य मुक्ति सालोक्य(हरिलोक) से अधिक श्रेयस्कर है । राम स्वयं घोषणा करते हैं कि जो रामेश्वर की यात्रा करेगा, वह देह त्याग के पश्चात् सीधा मेरे लोक जायगा और जो मेरे बनाए हुए सेतु तक जाएगा वह भवसागर को पार कर जायगा, किन्तु गंगाजल से जाकर जो यहां चढ़ायेगा वह सायुज्य मुक्ति पाएगा[1] ।

---

1 रा०च०मा०,लंका०,दुन्द२०१-२

मुक्ति के साधन

भारतीय मोक्षशास्त्र की विविध मान्यताओं को ध्यान में रखते हुए तुलसीदास ने कहा है कि मुक्ति के मार्ग अनेक हैं[१]। सन्त समाजरूपी तीर्थराज का वर्णन करते हुए तुलसीदास ने मोक्ष के तीन साधनों -- भक्ति,ज्ञान और कर्म का स्पष्ट संकेत किया है[२]। आगे चलकर मकरसंक्रान्ति के अवसर पर भरद्वाज के आश्रम में आए हुए ऋषियों द्वारा की गई परमार्थ चर्चा के विषयों की सूची[३] से भी इस संकेत का समर्थन हो जाता है। भागवत पुराण में भी भगवान ने उद्धव के प्रति इन तीनों मोक्ष के साधनों का निर्देश किया है[४]।

सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक दृष्टि से परीक्षा करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि मोक्ष के साधन मार्ग वस्तुत: दो हैं-- (१) ज्ञानमार्ग और (२) भक्ति मार्ग। इस प्रकार मोक्ष मार्ग दो ही हुए, क्योंकि बन्धन के कारण दो ही हैं, प्रथम अज्ञान दूसरा आसक्ति। बन्धन के कारण स्वरूप की दृष्टि से जीव के बन्धन का कारण अविद्या(माया) है। यह बन्धन मोह का ही बन्धन है। ईश्वर,माया और अपने स्वरूप को न जानना ही अविद्या,मोह या अज्ञान है। इसे दूर करने का उपाय ही ज्ञान है। इसीलिए तुलसीदास ने विवेक या ज्ञान को बन्धन-मुक्ति का साधन बतलाते हुए स्पष्ट शब्दों में कहा है कि "बिनु बिवेक संसार

---

१ नाना पंथ निर्बान के, नाना विधान बहु भाँति। वि०प०१९२।५

२ रा०च०मा०,बाल०२।४-५

३ ,, ,, ४४४ ४४

४ भागवत पुराण ११।२०।६

घोर-निधि पार न पावै कोई" अथवा "ज्ञान मोक्ष प्रद बेद बखाना ।"[1]
बन्धन एवं मोक्ष के प्रदाता के आधार पर बन्ध का कारण अविद्या है ।
तदनुसार मोक्ष का साधन भी भक्ति ही है । दोनों ही मार्गों का
तुलनात्मक मूल्यांकन करते हुए तुलसी ने भक्ति को ज्ञान से श्रेष्ठ बतलाया
है और मोक्षजनित भ्रम को अभक्तिजनित भ्रम बतलाकर भक्ति को माया-
मोह के नाश का साधन तथा ज्ञान का भी साध्य कहा है ।[2] वैराग्य,
विवेक,विज्ञान आदि ज्ञान के ही अन्तर्गत हैं । उपासना,पूजा आदि
भक्ति के अन्तर्गत हैं । दया,दान आदि सभी कर्म के अन्तर्गत हैं,जो
कायिक,वाचिक और मानसिक शुद्धि के साधन होने के कारण ज्ञान तथा
भक्ति दोनों के साधन हैं । कर्म के द्वारा कर्म का अत्यधिक नाश संभव
नहीं है । कर्म राजस या तामस होने पर कर्मबंधक भी हो सकते हैं ।
कर्म की इसी बाधकता के आधार पर तुलसी ने उसे मोक्ष का साधन
नहीं माना है । केवल समन्वय भावना से उसका उल्लेख करके ज्ञान तथा
भक्ति को ही मोक्ष का सात्विक साधन तथा सर्वमान्य मार्ग ठहराया
है ।

तुलसीदास ने मोक्ष के साधनों का निरूपण करने
में साधक की शक्ति तथा देशकाल की परिस्थितियों का विशेष ध्यान
रखा है । जो जन विरक्त हैं, योग आदि की साधना करने में समर्थ हैं,
जिन्हें यह मार्ग रुचिकर प्रतीत होता है । वे ज्ञानमार्ग के अधिकारी हैं ।

---

१ क्रमशः विनय० १९५।५, रा०च०मा०, अरण्य का० १६।१

२ विरति चर्म असि ज्ञान, मद,लोभ,मोह रिपु मारि ।
जय पाइअ सो हरि भगति, देखु खगेस बिचारि ॥
—रा०च०मा०, उत्तरका० ।१२०ख

जो सन्यास लेने में असमर्थ हैं, योगसाधना जिनके वश की बात नहीं है, जिनके मन से रागात्मक वृत्ति का नाश नहीं हुआ है, उनके लिए भक्ति ही मोक्ष का एकमात्र उपाय है । प्रत्येक युग की परिस्थिति दूसरे से भिन्न होती है, सभी में साधनों के उपलब्धि समानरूप से सम्भव नहीं है । अतएव तुलसीदास ने युगधर्म के अनुसार ही साधनों के कालक्रम पर बल दिया है और उन साधनों में भक्ति को ही मोक्ष का सर्वश्रेष्ठ साधन बतलाया है[1] ।

भक्ति ही मुक्ति का सर्वश्रेष्ठ साधन है

भक्ति शास्त्रीय ग्रन्थों, पुराणों, महाभारत आदि में भक्ति को ही मोक्ष का एकमात्र साधन बतलाकर भक्ति की अपूर्व महिमा का प्रतिपादन किया गया है । तुलसीदास ने भी उक्त ग्रन्थों का समर्थन किया है और भक्ति की श्रेष्ठता का निरूपण अनेक प्रसंगों में अनेक प्रकार से किया है ।

भक्ति ही जीव की सांसारिक दुख निवृत्ति का उपाय है । जीव के बन्धन का वास्तविक कारण अज्ञान नहीं है, बल्कि अभक्ति है । अतएव जब अनन्य भक्ति के द्वारा बुद्धि का आत्यन्तिक लय हो जाता है, तब ईश्वर का साक्षात्कार रूप बोध होने पर मुक्ति होती है । तुलसीदास का कथन है कि मोह के कारण जीव अनेक प्रकार के पाप करता है, मोह ही समस्त कष्टों का मूल है, जिससे जीव को अनेक प्रकार के दुःख सहन करने पड़ते हैं । तुलसीदास की दृष्टि में अभक्ति

---

१ रा०च०मा०, उत्त०, १०३।१-२

और दु:ख के प्रकार से समानार्थी हैं। उन्होंने श्री हनुमान के मुख से यह बात स्पष्ट कर दी है[2] कि वस्तुत: राम का स्मरण और भजन न होना ही विपत्ति है। यही सबसे बड़ी हानि है। अज्ञान में भी राम के प्रति अभक्ति होने के कारण सती को अत्यधिक कष्ट उठाना पड़ा। रामविमुख जीव को अत्यन्त कष्ट उठाना पड़ता है तथा उसका सर्वनाश हो जाता है। रावण आदि राक्षस इस बात के प्रमाण हैं।

भक्ति भगवान को सदैव प्रिय है। अतएव विशेष रूप से आकृष्ट करने वाली और वश कारिणी है। वे भक्ति का ही संबंध सर्वश्रेष्ठ मानते हैं। भक्त भगवान को इतना प्रिय है कि भगवान उनकी सेवा से प्रसन्न होते हैं और सदैव अपने भक्तों के ही अधीन रहते हैं। अत: भगवान की कृपा प्राप्ति का सर्वश्रेष्ठ साधन भक्त का अनन्य प्रेम और अनन्य सेवा है। भगवान योग,यज्ञ,जप,तप से उतने प्रसन्न नहीं होते हैं जितना भक्त की सेवा से। भक्त की रक्षा स्वयं कष्ट सहन करके भी भगवान करते हैं। सारी लंका जल गई किन्तु राम की कृपा से विभीषण का घर बचा रहा। यही नहीं राम के सेवक का अपमान ही रावण के संहार का कारण हुआ। माता पिता के उपमानों द्वारा तुलसी ने राम के भक्त रक्षक स्वरूप का विस्तार से वर्णन किया है। माता,अग्नि,सर्प,आदि से शिशु पुत्र की निरन्तर रखवाली करती रहती है। लेकिन प्रौढ़ पुत्र को समर्थ समझकर उसके रक्षण का कोई ध्यान नहीं देती। राम के लिए ज्ञानी प्रौढ़ पुत्र तथा भक्त शिशु के समान है। भक्त उन्हीं के भरोसे हैं, अत: राम सदैव अबोध शिशु की भांति उनकी रक्षा किया करते हैं।

---

२ कह व हनुमंत विपति प्रभु सोई।
जब तव सुमिरन भजन न होई॥
— रा०च०मा०,सुन्दर का०,३२।२

संसार के समस्त गुण-दोष, सुख-दुःख-शोक आदि राम की माया द्वारा निर्मित है। राम की दासी यह माया 'मिथ्या' होने पर भी अतिशय प्रबल है। अतः माया-मुग्ध जीव का निस्तार राम कृपा से ही हो सकता है। जिस प्रकार बाजीगर के जन को उसकी माया भ्रान्त नहीं करती है, उसी प्रकार राम का भक्त सदैव निर्भ्रान्त रहता है। उसे अविद्या माया नहीं व्यापती है। तुलसीदास ने ज्ञान से भक्ति की श्रेष्ठता का निरूपण रमणीय रूपकों के सहारे काव्यमयी शैली में किया है। यद्यपि दोनों ही मोक्ष के साधन हैं किन्तु दोनों में भक्ति सरल और श्रेष्ठ है। वैराग्य, योग, ज्ञान और विज्ञान प्रबल प्रतापी पुरुष हैं। माया एक रमणी है। सुन्दरी पर मुग्ध हो जाना पुरुष की सहज प्रवृत्ति है। ज्ञानी मुनि भी माया-सुन्दरी पर किसी भी क्षण आसक्त हो सकते हैं। वह साधक को किसी भी क्षण पथभ्रष्ट कर सकती है। दूसरी ओर भक्ति और माया दोनों ही नारियां हैं। यह प्रकृति का नियम है कि नारी, नारी के रूप पर मोहित नहीं हो सकती है। अतएव माया अपने रूप से भक्ति को पराजित करने में असमर्थ है। अतः भक्त को माया का भय नहीं है। माया की प्रभुता से जीव को मुक्त रखने वाली भक्ति की श्रेष्ठता का एक और रहस्य है। भक्ति के द्वारा भक्ति के आलम्बन राम में मन के एकाग्र हो जाने पर जीव मायिक विषय-वासनाओं से सर्वथा मुक्त हो जाता है। भक्ति राम की प्रिया है। राम की इच्छा पर उसका पूरा अधिकार है। माया एक नर्तकी मात्र है। वह राम की प्रिया से सदैव भयभीत रहती है। यह सोचकर विज्ञानी मुनि भी भक्ति की इच्छा करते हैं। भक्ति की श्रेष्ठता

का एक प्रधान कारण उसके अधिकार क्षेत्र की व्यापकता भी है । कर्म और ज्ञान भी दुःख-नाश के साधन हैं, किन्तु सभी व्यक्ति उनके अधिकारी नहीं हो सकते हैं । भक्ति के लिए इस प्रकार का कोई प्रतिबन्ध नहीं है । स्त्री-पुरुष, गरीब-अमीर, दुष्ट, मूर्ख से मूर्ख अज्ञानी से अज्ञानी आदि सभी भक्ति के अधिकारी हैं ।

भक्ति मोक्ष का स्वतंत्र साधन है । तुलसी के अनुसार उसके लिए किसी अन्य साधन की आवश्यकता नहीं है, किन्तु अन्य साधनों के लिए भक्ति अनिवार्य है । ज्ञान-विज्ञान आदि भक्ति के अधीन हैं । जप, योग, कर्म, नियम, धर्म, व्रत, दान, दया, वैराग्य आदि जो दुःख-निवृत्ति के अनेक उपाय बताए गए हैं, वे सभी राम-भक्ति के अभाव में व्यर्थ हैं । तुलसी ने जहां भक्ति को विशेष महत्त्व दिया है, वहां ज्ञान को हीन नहीं बताया है, बल्कि ज्ञान को भक्ति का पोषक माना है । ज्ञानी भक्त राम को विशेष प्रिय हैं, किन्तु जो व्यक्ति भक्ति को छोड़कर केवल ज्ञान-मार्ग के ही द्वारा मुक्ति चाहता है, उसका श्रम भूसी कूटने की भाँति निष्फल और व्यर्थ है । तुलसीदास ने स्पष्ट कहा है कि जो नर ज्ञानी होकर भी रामभजन के बिना ही निर्वाण पद की कामना करता है वह महा मूढ़ पशु है[1] ।

ज्ञान आदि मोक्ष के साधन बताए गए हैं, किन्तु भक्ति साधन भी है और साध्य भी है । तुलसीदास के अनुसार भक्त भगवान की भक्ति के सामने मुक्ति को तुच्छ समझता है और इस प्रकार तुलसी के सभी पात्र भगवान की भक्ति की ही इच्छा प्रकट करते हैं, मुक्ति का नाम भी नहीं लेते हैं । इसके अतिरिक्त भक्ति-पथ अन्य मार्गों की

---

१ रामचन्द्र के भजन बिनु जो पद निरबान ।
ज्ञानवंत अपि सो नर पसु बिनु पूँछ बिषान ।।
--रा०च०मा०, उत्तर०।७८

तुलना में अधिक सरल और सुगम है । तुलसीदास ने इसको काव्यात्मक ढंग से व्यक्त किया है । उनका कथन है कि अज्ञान के अन्धकार को दूर करने के लिए ज्ञान एक दीपक है । दीपक के लिए पात्र,घृत,बाती आदि की आवश्यकता है । इस सामग्री के संग्रह के लिए कठिन प्रयास करना पड़ता है । भक्ति स्वयं प्रकाशवती मणि है । उसकी प्रभा के लिए इस प्रकार का कोई झंझट नहीं है । वेद-विहित कर्म,ज्ञान,वैराग्य आदि सुनने में मधुर और सरल लगते हैं,किन्तु व्यवहार में कठिन और कटु हैं । ज्ञान का पंथ तो कृपाण की धार है । वह कहने में कठिन है, समझने में कठिन है और साधन में भी कठिन है । ज्ञान के द्वारा कैवल्य परमपद की प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ है,किन्तु वही मुक्ति राम-भक्त के पास अनायास ही चली आती है । युग-धर्म की समीक्षा के अनुसार भी भक्ति की उपयोगिता स्पष्ट हो जाती है । कलियुग की परिस्थिति अन्य युगों से भिन्न है । कलि के दावानल में सभी साधन भस्म हो गए हैं । सत्य तप,शौच,दया,दान आदि का अस्तित्व ही मिट गया है । कलिकाल के कारण परमार्थ के साधन ज्ञान का लोप हो गया है और धर्म-विरोधी दुर्पंथों के कारण कर्म मार्ग भी लुप्त हो गए हैं । केवल भक्ति ही मोक्ष का उपाय शेष है, जिसके लिए हर व्यक्ति को प्रयत्न करना चाहिए ।

तुलना और निष्कर्ष

मोक्ष प्रकरणान्तर्गत विवेचित समस्त सामग्री के आधार पर यही कहा जा सकता है कि अन्य दार्शनिक तत्वों की भाँति मोक्ष के विषय में भी राम-कवि तुलसीदास के विचार अधिक स्पष्ट, वैज्ञानिक और दर्शन के अधिक समीप हैं, किन्तु कृष्ण-कवियों के मोक्ष सम्बन्धी विचार एक भावुक भक्त कवि की भावना से अधिक नहीं हैं ।

कृष्ण-कवियों ने दार्शनिक दृष्टि से मोक्ष पर विचार नहीं किया है, केवल इन कवियों ने भक्ति के आवेश में जीवों के भगवान से विमुख होकर सांसारिक विषयों में आसक्त होने, उनसे कष्ट पाने तथा उस कष्ट से मुक्त होने के लिए भगवान के अनुग्रह या भक्ति का वर्णन अपनी रचनाओं में किया है । इसी वर्णन के आधार पर कृष्ण-कवियों की मोक्ष विषयक धारणा का पता चलता है । इन कृष्ण-कवियों ने सचेष्ट होकर अथवा सैद्धांतिक ढंग से मोक्ष का वर्णन नहीं किया है, किन्तु राम कवि तुलसी-दास इस क्षेत्र में अत्यधिक जागरूक दिखाई पड़ते हैं और उनके कथनों को देखकर यही धारणा बनती है कि कवि सचेष्ट होकर साभिप्राय एक दार्शनिक की भांति वैज्ञानिक ढंग से मोक्ष का विवेचन कर रहा है । इस समस्त विवेचन की तुलना की सुविधा के लिए मोक्ष के स्वरूप, मोक्ष के प्रकार और मोक्ष के साधन इन तीन भागों में विभाजित करना अधिक समीचीन होगा । इन तीनों भागों में से प्रथम दो के विषय में दोनों धाराओं में साम्य है, किन्तु अन्तिम भाग "मोक्ष के साधन" में थोड़ा अन्तर दिखाई पड़ता है ।

मोक्ष का स्वरूप

मोक्ष के स्वरूप का विवेचन तुलसीदास ने अधिक स्पष्टता तथा विस्तार से किया है । कृष्णकवियों ने केवल सांसारिक कष्टों से छूटने का उल्लेख मात्र किया है । यह उल्लेख अल्प होते हुए भी रामकवि तुलसीदास के विचारों से पूर्ण साम्य रखता है । कृष्ण-कवियों एवं तुलसीदास दोनों ने एक स्वर से जीव की जन्म-मृत्यु और सांसारिक
प्राप्त करने की दशा को मोक्ष कहा है पर अखण्ड आनन्द
भय तापों से छूट कर अखण्ड आनन्द, शाश्वत आनन्द है । स्पष्ट ही मोक्ष की यह व्याख्या भक्ति वलित है ।

भक्ति के प्रकार

भक्ति के भेदों के विषय में दोनों धाराओं के कवियों में साम्य के साथ-साथ यत्किंचित अन्तर भी है,जो नाममात्र का है । दोनों धाराओं के कवियों की रचनाओं में भागवतोल्लिखित सालोक्य,सारूप्य,सान्निध्य और सायुज्य चारों प्रकार की मुक्तियों के उदाहरण मिल जाते हैं । किन्तु कृष्ण-कवियों ने इन मुक्तियों को ही क्रमानुसार मुक्ति के प्रकार स्वीकार करके उनका विस्तार से वर्णन किया है । राम-कवि तुलसीदास ने कृष्ण-कवियों की भाँति उक्त मुक्ति के चारों भेदों का विभाजन करके विस्तार से तो वर्णन नहीं किया है, किन्तु उनकी रचनाओं में इन चारों मुक्तियों के उदाहरण अवश्य मिल जाते हैं । इसका कारण इस प्रकार की मुक्ति के विभाजनक आधारग्रन्थ भागवत महापुराण का मध्ययुग में व्यापक प्रभाव है,जिसके प्रभाव से तुलसीदास भी अछूते नहीं रह सके । भागवत् वर्णित इन चारों मुक्तियों में से सालोक्य और सारूप्य ये दोनों मुक्तियां कृष्ण-काव्य में विशेष प्रिय हुईं । जब कि राम-काव्य में अन्तिम दोनों सान्निध्य और सायुज्य का अपेक्षाकृत अधिक समादर हुआ । उक्त चारों मुक्तियों के अतिरिक्त तुलसीदास ने मुक्ति के दो विभाजन विदेह-मुक्ति और जीवन्मुक्ति के रूप में करके उनका सविस्तार वर्णन किया है । इस वर्णन विस्तार को देखकर ऐसा लगता है, जैसे ये दोनों प्रकार ही कवि को अभीष्ट हों । अन्य प्रकार का विभाजन प्रसंगवश या समन्वय-भावना के कारण प्रचलित परम्परा के रूप में किया गया हो । कृष्ण-कवियों में भागवत-वर्णित उपर्युक्त चारों मुक्तियों के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार की मुक्ति का उल्लेख नहीं मिलता है ।

भक्ति के साधन

भक्ति के साधनों में भी दोनों धाराओं में

साम्य होते हुए भी थोड़ा अन्तर है । कृष्ण-कवियों ने मोक्ष के साधन रूप में केवल भक्ति को स्वीकार किया है । मोक्ष के अन्य साधनों --ज्ञान और कर्म की पूर्ण उपेक्षा की है । भक्ति की तुलना में इन दोनों साधनों को हीन, निकृष्ट तथा उपेक्षणीय बताकर उनकी हंसी उड़ाई गई है । ज्ञान और योग मार्ग की व्यर्थता, हीनता तथा अनुपयुक्तता को सिद्ध करने के लिए ही कृष्ण काव्य में भ्रमरगीत की रचना की गई है, जिसमें भक्ति मार्ग की अवलम्बिनी गोपियां परम ज्ञानी और योगी उद्धव के ज्ञान मार्ग का खण्डन कर भक्ति-मार्ग की श्रेष्ठता प्रमाणित करती हैं । रामकाव्य में भी कृष्णकाव्य की भांति भक्ति को मोक्ष मार्ग के सर्वश्रेष्ठ साधन के रूप में स्वीकार किया गया है और इस क्षेत्र में दोनों धाराओं में पूर्ण साम्य है । किन्तु भक्ति के अतिरिक्त मोक्ष के अन्य साधन ज्ञान तथा कर्म मार्ग की दृष्टि से दोनों में पर्याप्त अन्तर भी है । कृष्ण-कवियों ने जहां ज्ञान-मार्ग को हीन बताकर उसकी पूर्ण उपेक्षा की, वहां राम-कवि तुलसीदास ने ज्ञान को भी महत्व दिया है । यह बात अवश्य है कि तुलसीदास ने भक्ति और ज्ञान की तुलना में भक्ति को ही श्रेष्ठ बताया है और कहा है कि केवल ज्ञान की तुलना में केवल भक्ति गरीयसी है, भक्ति श्रेष्ठ है, किन्तु ज्ञानयुक्त भक्ति सर्वश्रेष्ठ है । इस प्रकार हम कह सकते हैं कि तुलसीदास ने भक्ति को महत्वपूर्ण बताते हुए भी ज्ञान को हीन नहीं बताया है, बल्कि कुछ स्थलों पर तो ज्ञान को सर्वश्रेष्ठ बताया है, जिसका उल्लेख पूर्व हो चुका है । किन्तु तर्क द्वारा यह बताया है कि ज्ञान श्रेष्ठ होते हुए भी सबके लिए सम्भव नहीं है । यह विद्वानों और ज्ञानियों का

विषय है । अतः सर्वसाधारण के लिए सुविधाजनक गीता का सरल मार्ग भक्ति ही है । गीता के तीसरे साधन कर्म-मार्ग का समन्वय भावना से उल्लेख तुलसीदास ने अवश्य किया है, किन्तु इस मार्ग को अनुष्ठान न बताकर उपेक्षा की है । निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि तुलसीदास ने गीता के दो मार्ग भक्ति और ज्ञान को स्वीकार किया । दोनों को समान महत्व देतेहुए भी भक्ति को अपेक्षाकृत श्रेष्ठ कहा । किन्तु अपने पूरे साहित्य में कहीं भी ज्ञान को हीन अथवा उपेक्षा की दृष्टि से नहीं देखा है । कृष्ण-कवि भक्ति के क्षेत्र में तो तुलसीदास से पूर्ण साम्य रखते हैं, किन्तु गीता के दूसरे साधन ज्ञान मार्ग में वे तुलसी से ठीक विपरीत हैं । तुलसीदास भक्त और ज्ञानी दोनों सिद्ध होते हैं, किन्तु कृष्ण-कवि एकमात्र भक्त ही दिखाई पड़ते हैं ।

--०--

द्वितीय अध्याय

-0-

भक्ति

द्वितीय अध्याय

-o-

भक्ति

'भक्ति' शब्द की व्युत्पत्ति

'भक्ति' शब्द व्युत्पत्ति की दृष्टि से 'भज्' धातु में 'क्तिन्' प्रत्यय लगाकर बनाया गया है । भज्(सेवायाम्) धातु का अर्थ होता है भजना तथा 'भज्' धातु में 'क्तिन्' प्रत्यय लगाकर बनाए गए शब्द भक्ति का व्युत्पत्ति मूलक अर्थ होता है-- भजन या सेवा करने की विधि । 'भक्ति' का यह आरम्भिक व्युत्पत्त्यर्थ कालान्तर में 'उपासना', 'आराधना' शरण में जाना आदि अर्थों में परिवर्तित हो गया और आज भी हम 'भक्ति' शब्द का प्रयोग 'उपासना', 'आराधना' आदि के लिए ही करते हैं । भक्ति के स्वरूप का विवेचन संस्कृत भक्ति-शास्त्र का प्रमुख विषय रहा है । शास्त्रीय विवेचन की दृष्टि से पुराणों, महाभारत, भक्तिसूत्रों, दार्शनिक रचनाओं और साम्प्रदायिक भक्ति ग्रन्थों में भक्ति की सांगोपांग व्याख्या की गई है । अब हम संस्कृत भक्त्याचार्यों तथा भक्तिशास्त्रीय ग्रन्थों द्वारा विवेचित भक्ति के स्वरूप को विश्लेषित करने की चेष्टा करेंगे ।

भक्ति का स्वरूप

संस्कृत :-- भारतवर्ष के आदि ग्रन्थ वेद हैं । अनुसन्धाताओं ने भक्ति के बीज का मूल संकेत वेदों में भी बतलाया है, किन्तु तात्विक दृष्टि से

वैदिक देव-भक्ति और शास्त्रीय भगवद्भक्ति में मौलिक भेद है । वैदिक भक्ति कर्मकाण्ड के अन्तर्गत है, वह साधन रूपा है, साध्य रूपा नहीं है । उस भक्ति का साध्य स्वर्ग है । भक्तिपूर्वक सम्पन्न यज्ञ आदि द्वारा वेद-दृष्ट स्वर्ग प्राप्ति का उपाय है । इसके लिए आचार्यों द्वारा प्रतिपादित परम प्रेम आवश्यक नहीं है, किन्तु परवर्ती भक्ति मार्ग की भक्ति कर्म और ज्ञान से भिन्न है । वह साध्य और साधन दोनों ही है । इस भक्ति के अधिकारी पापी, ब्राह्मण, शूद्र, नर-नारी सभी हैं ।

भक्ति को सर्वोपरि सिद्ध करके उसका प्रचार पुराणों का मुख्य प्रतिपाद्य विषय रहा है । इन पुराणों में 'विष्णु-पुराण' के भक्ति-निरूपण में 'विशुद्धि' पर ही विशेष बल दिया गया है । जिस प्रकार अज्ञानी जीव का प्रेम विषय-वासना से होता है, उसी प्रकार जब जीव का आसक्तिपूर्ण प्रेम भगवान के प्रति होता है, तब वह भक्ति कहलाती है[1] । भक्ति-सिद्धांत के प्रतिपादक ग्रन्थों में तथा समस्त पुराणों में 'भागवतपुराण' का महत्व सबसे अधिक माना जाता है । उसकी महानता का सबसे प्रबल प्रमाण यह है कि मध्वाचार्य, वल्लभाचार्य चैतन्य आदि भक्ति सम्प्रदायों में इसे 'प्रमाण-चतुष्टयम्' की श्रेणी में रखा गया है । भागवत पुराण की भक्ति को स्पष्ट करने के लिए अनेक ग्रन्थ और उन ग्रन्थों पर भी टीकाएं लिखी गई हैं ।

'भागवत' में व्यास ने कपिल के मुख से देवहूति के प्रति भक्ति की सारगर्भित व्याख्या कराई है । उन्होंने बताया है कि

---

१ विष्णु० १।२०।१९

वेद विहित कर्मों में लगे हुए जनों की भगवान के प्रति अनन्य भावपूर्ण स्वाभाविक सात्विक प्रवृत्ति का नाम भक्ति है[1]। जिस प्रकार गंगा की धारा अखण्डरूप से समुद्र की ओर बहती है, उसी प्रकार सर्वान्त-र्यामी भगवान के गुण श्रवण से ही प्रादुर्भूत,उनके प्रति अविच्छिन्न मनोगति को भक्ति कहते हैं। इसी को भागवत में अहैतुकी भक्ति कहा गया है। भक्त का प्राप्य भगवान है। भगवान के बिना भक्त को कुछ भी अभीष्ट नहीं है। भागवतकार का मन्तव्य है कि भक्ति की वास्तविक तथा मानसिक स्थिति में है। बाह्य-विधान तो साधनमात्र हैं। किसी भी उपाय से भगवान में मन का स्थिरीकरण ही भक्ति है[2]। शाण्डिल्य ने अपने 'भक्तिसूत्र' में भक्ति का शास्त्रीय तथा सर्वांगीण विवेचन प्रस्तुत किया है। शाण्डिल्य के अनुसार ईश्वर में अत्यन्त अनुरक्ति ही भक्ति है[3]। भक्ति यज्ञ आदि की भाँति क्रियारूपा नहीं है, कारण यह है कि क्रिया में कर्ता के प्रयत्न की अपेक्षा होती है,किन्तु भक्ति में ऐसा नहीं है। गौणी भक्ति में क्रिया की आवश्यकता अवश्य अपेक्षित होती है और वह समस्त क्रियाओं में श्रेयस्कर है। भागवत में कहा गया है कि कर्म का प्रयोजन तभी तक है, जब तक निर्वेद या भक्ति का उदय न हो जाए[4]। किन्तु भक्ति को निष्क्रियता नहीं कहा जा सकता है,क्योंकि उसका स्वरूप भावरूप है,अभावात्मक नहीं। विधि रूप है,निषेध रूप नहीं। भक्ति ज्ञान रूपा भी नहीं है। इसके अनेक कारण हैं--(१) भक्ति निष्ठामूलक है किन्तु ज्ञान में निष्ठा या विश्वासघातक है।

---

१ भा०पु० ३।२५।३२

२ ,, ११।५।१४

३ सा परा नुरक्तिरीश्वरे। शांडिल्य भक्ति सूत्र, भक्ति चन्द्रिका,सम्पा०- श्री गोपीनाथ कविराज,पृ०५।

४ भा०पु०, ११।२०।९

(२) भक्ति रागरूपा है, किन्तु ज्ञान के लिए राग उपयुक्त नहीं। (३)भक्ति के उदय से ज्ञान का उदय हो जाता है। (४) ज्ञान भक्ति का साधन है, किन्तु भक्ति साध्य भी है और साधन भी है। (५)गीता आदि में ज्ञानी का प्रपन्न होना कहा गया है[१], इससे भी निष्कर्ष निकलता है कि ज्ञान और प्रपत्ति(भक्ति) में अन्तर है। भक्ति श्रद्धा रूपा भी नहीं है, क्योंकि श्रद्धा सभी कर्मों का अंग मानी गई है। भक्ति अंगी और स्वतन्त्र है। अतः श्रद्धा और भक्ति दोनों अभिन्न होकर अंगांगी हैं।

'नारदीय भक्ति सूत्र' में भी ईश्वर के प्रति परमप्रेम को भक्ति कहा गया है[२]। स्पष्ट है कि उनका यह परम प्रेम शाण्डिल्य का 'परानुरक्ति' का ही पर्याय है। नारदीय-भक्ति-सूत्र के अनुसार भक्ति अमृत स्वरूपा है, जिसको पाकर मनुष्य सिद्ध और तृप्त हो जाता है। जिसको पाकर मनुष्य किसी भी वस्तु की इच्छा नहीं करता है। न वह शोक करता है और न द्वेष करता है, न किसी संसारी वस्तु में आसक्त होता है। भगवान के प्रेम की व्याकुल अवस्था में भी माहात्म्य ज्ञान की विस्मृति न हो, क्योंकि उसके बिना भक्ति लौकिक जार प्रेम के समान हो जाती है। नारदीय भक्तिरूप इस प्रेमाभक्ति की ग्यारह आसक्तियाँ हैं, जो भक्ति की ग्यारह दशाएं कही जा सकती हैं।

पांचरात्र आगम[३] में भी भक्तिगत अनन्यता एवं तत्परता पर विशेष बल दिया गया है। योगसूत्र के भाष्यकार व्यास और वृत्तिकार भोज ने 'प्रणिधान' को भक्ति विशेष के रूप में स्वीकार

---

१ गीता ७।१९

२ सा त्वस्मिन परमप्रेम रूपा।

— ना०भ० सू० २

३ पांचरात्र सं०च०,पृ०६

किया है[१] । 'प्रणिधान' का अर्थ है ईश्वर के प्रति सभी कर्मों का समर्पण ।
शंकर अद्वैतवाद के विरोधी वैष्णव आचार्यों ने अपने-अपने साम्प्रदायिक
सिद्धान्तों के अनुसार भक्ति की विस्तृत मीमांसा की है । उन्होंने भक्ति
को ज्ञान से उच्चतर कोटि में प्रतिष्ठित किया है । सभी ने भक्ति को
प्रेम रूपा और आत्मनिवेदन की सर्वोत्कृष्ट अभिव्यक्ति स्वीकार किया है ।
इन सभी की कृतियों में सगुण भगवान की लीला एवं अनुग्रह का सिद्धान्त
प्रतिपादित किया गया है । इन वैष्णव आचार्यों का भक्ति सिद्धान्त वेद,
उपनिषद्,गीता,महाभारत तथा समस्त पुराणों के आधार पर निर्धारित
किया गया है । इन वैष्णव आचार्यों को हम दो श्रेणियों में सरलता से
रख सकते हैं-- प्रथम तो वे आचार्य हैं जो विष्णु के अथवा उनके अवतार
राम के उपासक हैं और जिनकी भक्ति दास्य भाव प्रधान है । इनमें
शठकोपाचार्य,रामानुज तथा रामानन्द आदि हैं । दूसरे वे आचार्य हैं जो
विष्णु के अवतार श्रीकृष्ण की रूप माधुरी एवं उनकी मधुर लीलाओं के
उपासक हैं । किसी ने बालरूप की लीलाओं को प्रधानता दी,किसी ने
यौवन की शृंगारिक लीलाओं को । इनमें माध्व,निम्बार्क, विष्णु स्वामी,
आचार्य वल्लभ आदि मुख्य हैं । प्रथम के भक्ति विषयक सिद्धान्त को हम
रामकाव्य के अन्तर्गत देखेंगे और द्वितीय के कृष्णकाव्य के अन्तर्गत । केवलाद्वैत
वेदान्तियों की दृष्टि में ज्ञान ही मोक्ष का केवल एक साधन था, भक्ति का
स्थान गौण था,भक्ति उन्हें ज्ञान के साधन रूप में मान्य थी । इसी दृष्टि
से शंकर आदि ने भक्ति को भ्रांति एवं अविद्या कहा,क्योंकि अद्वैतवादियों
के अनुसार ब्रह्म और आत्मा तत्व में किसी प्रकार का द्वैत नहीं है, किन्तु
भक्ति के लिए भक्त और भगवान में द्वैत का भाव होना अनिवार्य है, चाहे

---

१ योगसूत्र २।१

यह भाव आंशिक ही हो, किन्तु ईसा की पन्द्रहवीं और सोलहवीं शताब्दियों में भक्ति की धारा इतनी शक्तिशाली और व्यापक हो गई कि अद्वैतवादी वेदान्त भी इससे प्रभावित हो गया । तुलसीदास के समकालीन काशी निवासी मधुसूदन सरस्वती ने 'भक्ति रसायन' नामक ग्रन्थ में भक्ति की शास्त्रीय, मनोवैज्ञानिक एवं सर्वांगपूर्ण मीमांसा प्रस्तुत की । उनका भक्ति विवेचन साम्प्रदायिक आग्रह से रहित भक्ति सिद्धान्त तक पहुंचने के लिए एक निश्चित सोपान है । उनके अनुसार भगवद् धर्म के कारण द्रवचित्त की सर्वेश के प्रति धारावाहिक वृत्ति को भक्ति कहते हैं[1] । भक्ति की इस परिभाषा में चित्त की वृत्ति पर बल दिया गया है ।

<u>बंगाली</u>

बंगाली वैष्णवों की भक्ति विषयक मान्यताओं को भी देखना अनिवार्य है, क्योंकि हिन्दी पर चैतन्य आदि का स्पष्ट प्रभाव है । कृष्णकाव्य उनसे प्रभावित है । भक्ति का सर्वाधिक शास्त्रीय सांगोपांग तथा सूक्ष्म अध्ययन बंगाली वैष्णवों ने प्रस्तुत किया । रूपगोस्वामी तथा जीव गोस्वामी आदि ने भक्ति-रस की पूर्ण स्थापना करके भारतीय रस-शास्त्रियों द्वारा उपेक्षित इस भक्ति-रस को सभी रसों से श्रेष्ठ सिद्ध किया । रूप गोस्वामी ने सभी पूर्ववर्ती आचार्यों की भक्ति सम्बन्धी धारणाओं को एक में समेटने का प्रयास किया है । उन्होंने कहा है कि 'उत्तमा भक्ति' कृष्ण का वह अनुशीलन है, जो अनुकूलता से युक्त तथा अभिलाषा शून्य और ज्ञान, कर्म आदि से मुक्त हो[2] । 'हरिभक्ति रसामृत-सिन्धु' के इस लक्षण में 'अन्याभिलाषिता शून्यम्' शब्द भागवत, नारद पंचरात्र तथा वल्लभ आदि के द्वारा प

---

१ भ०र० १।३

२ ह०र०सि० १।१।११

स्वीकृत अनन्यता का द्योतक है । भक्ति की इस मान्यता का प्रचार चैतन्य देव के द्वारा हुआ और चूंकि चैतन्य देव एवं उनके शिष्यों की गद्दी कृष्ण की जन्मभूमि ब्रज में भी थी, अतः भक्ति के इस भाव का प्रभाव ब्रजस्थित आलोच्यकालीन हिन्दी कृष्ण कवियों पर भी प्रत्यक्षतः या अप्रत्यक्षतः पड़ा । अब तक जिन ग्रन्थों तथा ग्रन्थकारों (वेद, ब्रह्म सूत्र, नारद-भक्ति सूत्र, नारद-पांचरात्र, श्रीमद्भागवत, गीता, शाण्डिल्य भक्ति सूत्र, योग सूत्र, [illegible] वैष्णव आचार्यों के भक्ति विषयक जिन धारणाओं का विश्लेषण किया गया है, उनका प्रत्यक्ष प्रभाव तो उन भक्त्याचार्यों पर पड़ा जिनसे हिन्दी के कवियों को ने प्रेरणा ग्रहण की । किन्तु अप्रत्यक्ष प्रभाव आलोच्यकालीन हिन्दी-कवियों पर भी पड़ा । इसी सन्दर्भ में पृष्ठभूमि रूप से उन धारणाओं का उल्लेख किया गया है । अब हम उन मान्यताओं का विवेचन आलोच्य-काल के हिन्दी कवियों के साथ करेंगे, जिनसे विवेच्यकालीन कृष्ण एवं राम भक्ति प्रत्यक्षतः प्रभावित अथवा उन्हीं के अनुसरण पर विकसित हुई है ।

आलोच्यकालीन हिन्दी कृष्ण काव्य

आलोच्यकालीन हिन्दी कृष्ण भक्ति सम्प्रदायों की छाया में विकसित हुई है । ये सम्प्रदाय वैष्णव आचार्यों द्वारा प्रवर्तित थे, जिनका सुदृढ़ दार्शनिक आधार था । अतः उन आचार्यों की भक्ति विषयक धारणाओं को समझना अत्यन्त आवश्यक है । कृष्ण-भक्ति के प्रमुख प्रवर्तक मध्वाचार्य ने भगवान के माहात्म्य ज्ञान से उत्पन्न [illegible] परमानुरक्ति को भक्ति कहा है । वल्लभ सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य वल्लभ की भी मान्यता है कि भगवान के माहात्म्य ज्ञानपूर्वक उनके प्रति जो सुदृढ़ सर्वाधिक प्रेम होता है, उसी को भक्ति कहते हैं । भक्ति की

मुक्ति का एकमात्र साधन है[1]। भक्ति की इस परिभाषा में आचार्य जी ने दो प्रमुख बातों पर गौर किया है, प्रथम ईश्वर के प्रति सुदृढ़ और उत्कट प्रेम, दूसरे ईश्वर की महत्ता का निरन्तर ज्ञान और ध्यान। `अणुभाष्य` में आचार्य जी ने जिस भक्ति का वर्णन किया है, उसकी प्राप्ति किसी साधन अथवा पुरुषार्थ से नहीं है वह तो भक्त को केवल भगवान की कृपा के बल पर मिलती है। इस भक्ति को आचार्य जी ने `पुष्टिमार्गीय` भक्ति कहा है, जिसका आधार भगवद्-अनुग्रह ही है। भगवान का यह अनुग्रह ही पुष्टि-मार्गीय भक्ति के सम्पूर्ण कार्यों का नियामक है। `पुष्टि-प्रवाहमर्यादा` नामक ग्रन्थ में उन्होंने कहा है[2] कि पुष्टिमार्गीय जीवों की सृष्टि भगवान की स्वरूप-सेवा के लिए है। भगवान का प्रेम बिना अविद्या का नाश हुए नहीं मिल सकता। अविद्या, विद्या द्वारा नष्ट होती है और भक्ति का साधन विद्या है, क्योंकि विद्या प्राप्ति के बाद ही मन भगवान के अनुग्रह पर दृढ़ होता है। आचार्य वल्लभ ने संसार के जीवों की तीन श्रेणियां निर्धारित की हैं--पुष्टिमार्गीय जीव, मर्यादामार्गीय जीव और प्रवाहमार्गीय जीव। इन्हीं तीन वर्गों के आधार पर तीन प्रकार की भक्ति भी कही जा सकती है, पुष्टिपुष्ट भक्ति, मर्यादा पुष्टभक्ति तथा प्रवाही पुष्ट भक्ति। इनमें आचार्य जी के मत से सर्व श्रेष्ठ भक्त पुष्टि-पुष्टमार्गीय है। चौथे शुद्ध पुष्ट भक्त लोकातीत है। यह भक्त, जीव की सिद्ध अवस्था है। आचार्य जी ने अपनी सुबोधिनी टीका के `फल-प्रकरण` में भी भागवतकार के इस

---

१ माहात्म्य ज्ञान पूर्वस्तु सुदृढ़: सर्वतोऽधिक: ।
स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तया मुक्तिर्न चान्यथा ।।
— तत्त्वदीप १।४५

२ पुष्टि प्रवाह मर्यादा `षोडश ग्रन्थ, आचार्य वल्लभ, श्लोक १२

कथन की 'जो कोई भगवान में काम, क्रोध, भय, स्नेह ऐक्य अथवा सौहार्द भाव नित्य रखता है वह भगवान मय हो जाता है' व्याख्या करते हुए कहा है कि काम कान्ता भाव में, क्रोध शत्रुभाव में, भय वधिक भाव में, ऐक्य ज्ञान अवस्था में, सौहार्द सख्यभाव में होते हैं इनके अतिरिक्त भगवान किसी भी भाव से भजे जा सकते हैं ये भाव प्रत्येक समय भगवान में लगे होने के कारण भगवन्मय हो जाते हैं। यदि जीव अन्तःकरण, प्राण, इन्द्रिय, देह, वित्त गृह और प्रजादिकों में सदैव हरि का ही सम्बन्ध समझे तो ज्ञानियों की तरह उसके भी प्रपंच का क्षय हो जाता है। इस कथन से आचार्य जी ने यही सिद्ध किया है कि भगवान में मन किसी भी भाव से लगाना चाहिए।

श्री वल्लभाचार्य का मत है कि भक्त को दासभाव धारण कर भगवान की सेवा तीन प्रकार से करनी चाहिए, तन से, वित्त से तथा मन से। भक्त भगवान को अपना तन समर्पण कर उनके निमित्त ही उस शरीर का प्रयोग करे। पुत्र, स्त्री, धन, पशु आदि जितना भी भक्त का वैभव है, वह सब भगवान और उनके भक्तों की सेवा के निमित्त लगे। इन सेवाओं में मानसिक सेवा सर्वश्रेष्ठ है। 'सिद्धान्त मुक्तावली' में वे कहते हैं 'सबदुःखों को दूर करने वाले कृष्ण की मानसी सेवा ही करनी चाहिए। वह सेवा 'परा' है[1]। भगवान की श्रवणादि भक्ति तथा तनुजा वित्तजा और मनसा सेवा की महत्ता बताते हुए आचार्य जी का कथन है --
'ईश्वर की सेवा और उनकी तथा उनके भक्तों की चरितकथाओं में दृढ़ विश्वास और आसक्ति करने वाले भक्त की काया का नाश नहीं होता है[2]। भगवान की यह सेवा भक्ति के मार्ग को बतलाने वाला गुरु होता है।

---

१ 'सिद्धान्त मुक्तावली' षोडश ग्रन्थ आचार्य वल्लभ श्लोक1।
२ 'भक्ति वर्द्धिनी' षोडश ग्रन्थ' आचार्य वल्लभ, श्लोक ६

इसलिए उनके मतानुसार गुरु आज्ञा का पालन करना भी ईश्वर की सेवा का ही एक अंग है ।

"भक्ति वर्द्धिनी" ग्रन्थ में श्री वल्लभाचार्य जी ने हृदय में भक्ति भाव बढ़ाने के साधन क्रम का भी निर्देश किया है । वे कहते हैं कि त्याग से और श्रवण कीर्तनादि साधनों से प्रेम का बीज हृदय में बराबर जमता है, साथ ही मन में लोक से विराग और नवधा भक्ति में रुचि लाने के लिए भक्त इस प्रकार साधन करे । भक्ति की प्रथम अवस्था में गृहस्थाश्रम में धर्म का पालन करते हुए ईश्वर की प्रेमपूर्वक पूजा करे और उनके चरित्र और गुणों के श्रवण और कीर्तन से उनका भजन करे । यदि गृहस्थाश्रम और भक्ति साथ-साथ न बने, तब भी गृहस्थाश्रम न छोड़कर उन्हीं श्रवण-कीर्तन आदि साधनों से भक्ति ही करे, जिससे भगवान के प्रति प्रेम आसक्ति और व्यसन बढ़े ।

आचार्य वल्लभ ने ईश्वर के भजन और सेवा के अधिकारी भक्तों की भी श्रेणियां बताई हैं । उनका मत है कि भक्त तीन प्रकार के हैं-- उत्तम, मध्यम और हीन । भगवान ही सब कुछ है, सब कुछ उन्हीं से प्रकट हुआ है । ऐसा ज्ञान धारण कर जो भगवान की प्रेम से श्रवण कीर्तन आदि भक्ति के साधनों द्वारा सेवा करता है, वह भक्त उत्तम है । जो श्रवण कीर्तन आदि साधनों द्वारा सेवा तो करता है तथा ईश्वर की सर्वज्ञता और उसके सर्वेश होने का भी उसे ज्ञान है, परन्तु अभी प्रभु के प्रति उत्कट प्रेम उसके हृदय में उत्पन्न नहीं हुआ है, वह भक्त मध्यम अधिकारी है और जो भक्त श्रवणादि साधनों से भगवान की सेवा तो करता है, परन्तु उसके हृदय में ईश्वर के माहात्म्य का ज्ञान और उसके प्रति प्रेम उदित नहीं हुए, वह हीन है । महत्व तो उस हीन भक्त का भी है, क्योंकि उसके साधन से उसके पापों का नाश तो हो ही जाता है । यहां पर आचार्य जी ने भक्ति की प्रथमावस्था में ज्ञान की आवश्यकता को स्वीकार किया है । "तत्व दीप निबन्ध" शास्त्रार्थ प्रकरण में उन्होंने कहा है कि श्रवणादि भक्ति का साधन

ज्ञान, वैराग्य, योग, तप आदि साधनों के साथ भी होता है और इन सब साधनों की कतिपय अवस्थाओं में भी फल सिद्धि होती है । ज्ञान के अभाव में पुष्टिमार्गीय भक्त को भागवत में कहे हुए कीर्तन आदि पूजा के साधनों को करने का आदेश आचार्य जी ने दिया है ।

भगवान की कृपा के लिए हृदय में भगवान के प्रति अगाध प्रेम का होना आवश्यक है । प्रेम के उत्कर्ष के लिए ईश्वर से बिछुड़ने का ज्ञान और उससे मिलने की उत्कट अभिलाषा और विकलता का भी होना आवश्यक है । "किसी साधन समाधि द्वारा भगवान भक्त से सन्तुष्ट नहीं होते, परन्तु उसमें केवल एक दैन्य भाव से ही वे सन्तुष्ट होते हैं । जब भगवान सन्तुष्ट होते हैं, तब वे सब दुःखों का नाश कर देते हैं[1]।" इसलिए वल्लभ मत में प्रेम भक्ति की पुष्टि के लिए भगवान मिलन की विकलता और विरह भाव की स्थिति का बहुत महत्व स्वीकार किया गया है । आचार्य जी ने भागवत विषयक प्रेम भक्ति की तीन अवस्थाएं बताई हैं । उनका नाम क्रमशः प्रेम, आसक्ति और व्यसन है । प्रेम (स्नेह) की अवस्था में सांसारिक विषय वासनाओं के राग का नाश हो जाता है । आसक्ति दशा में गृह के प्रति अरुचि हो जाती है, घर बार मिथ्या एवं बाधक प्रतीत होने लगता है ।

व्यसन की अवस्था में भक्त पूर्णतः कृतार्थ हो जाता है । प्रेम के उत्कर्ष के लिए ईश्वर से बिछुड़ने का ज्ञान एवं उससे मिलने का अभिलाषा तथा विकलता का होना आवश्यक है इसलिए भक्त अतिशय विरह दुःख की कामना [2] करता है और उसके सामने यशोदानन्द और गोपियों का विरह आदर्शवत है । अनन्यता और शरणागति का स्थान वल्लभ मत में भी

---

१ "सुबोधिनी"--आचार्य वल्लभ फल प्रकरण अध्याय ४, प्रथम कारिका

२ यच्च दुःखं यशोदाया नन्दादीनां च गोकुले ।
गोपिकानां तु यद् दुःखं तद् दुःखं स्यान्मम क्वचित ।।
--"निरोध लक्षण"--आचार्य वल्लभ, पृ०५२४

बहुत ऊंचा है और इस अवस्था को भक्ति का आदर्श फलक माना गया है । वल्लभ सम्प्रदाय का सामान्य विश्वास है कि जीव व ब्रह्म का अर्थात् जीव और परमात्मा के साथ प्रेम भक्ति द्वारा ब्रह्म सम्बन्ध स्थापित होने से उस दोषों की निवृत्ति हो जाती है अन्यथा निवृत्ति नहीं होती । अतः भगवान को बिना समर्पण किए कोई वस्तु भक्त के ग्रहण करने योग्य नहीं है । वल्लभ सम्प्रदाय में ब्रह्म सम्बन्ध एक प्रकार का संस्कार है जो पुष्टिमार्ग में प्रवेश पाते समय भक्त को करना होता है । इस क्रिया में भक्त प्रथम तो अपने सर्वस्व का अर्पण कृष्ण को करता है और फिर गुरु द्वारा दिए हुए कृष्ण शरण के मन्त्र को ग्रहण करता है । श्री आचार्य जी का आदेश है कि जीव ब्रह्म के साथ अपना सम्बन्ध स्थापित करके हमेशा यह ध्यान करे कि मैं हर प्रकार से कृष्ण की ही सदैव शरण में हूं । वल्लभ सम्प्रदाय का वस्तुतः यही 'श्री कृष्ण: शरणं मम' भजनीय तथा अनुकरणीय मन्त्र है । मर्यादा पालन के सम्बन्ध में जो पुष्टि भक्ति की आरम्भिक अवस्था है, उसके लिए आचार्य जी की आज्ञा है कि मनुष्य को लौकिक और वैदिक कार्य इस प्रकार भगवान को अर्पण करके करना चाहिए जैसे लोक में सेवक सर्व कार्य अपने स्वामी के निमित्त करता है । भक्ति की साधनावस्था में हरि मूर्ति के ध्यान की भी आवश्यकता वल्लभाचार्य जी ने बताई है । 'निरोधलक्षण' ग्रन्थ में वे कहते हैं कि हरि के स्वरूप का सदा ध्यान करना चाहिए, भगवान का दर्शन और उनका स्पर्श, भावकी अवस्था में भी होते हैं । इस प्रकार आचार्य जी ने बाह्य और मानस प्रत्यक्ष हरिमूर्ति के ध्यान की आवश्यकता बताई । उनके सबसे बड़े सेवा-स्वरूप 'श्री गोवर्द्धननाथ जी' (श्रीनाथ जी) थे जिनका सौंदर्यगान और ध्यान अष्टछाप के कवि भी किया करते थे ।

श्री वल्लभाचार्य जी के भक्ति सम्बन्धी उपर्युक्त विचारों का परिचय उनके भिन्न-भिन्न ग्रन्थों में कहे हुए वाक्यों से

आधार पर किया गया है । आचार्य जी ने भक्तिशास्त्र पर कोई अलग ग्रन्थ नहीं लिखा, परन्तु उन्होंने भक्ति का जो व्यावहारिक रूप दिया उसका अनुसरण उनके अनुयायी भक्तों ने उनके जीवनकाल में ही किया । श्री गोवर्द्धननाथ जी का मन्दिर, जो आचार्य जी का स्थापित किया हुआ था, उनके द्वारा बताए हुए भक्ति के सिद्धान्तों को कार्यरूप में लाने वाले भक्तों का मुख्य स्थान था । आचार्य जी ने भगवान के स्थूल स्वरूप श्रीनाथ जी की जिस मनसा, तनुजा तथा वित्तजा सेवा की व्यवस्था की थी, वह बाल भाव की ही थी । सूरदास तथा परमानन्ददास की वार्ताओं को देखने से ज्ञात होता है कि आचार्य जी ने उनके शरणागति के समय उन्हें पहले बालभाव की भक्ति का ही उपदेश दिया था और उनसे उसी प्रकार के पद गाने के लिए भी कहा था । इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि आचार्य जी को कृष्ण के बालरूप की वात्सल्य भक्ति ही अभीष्ट थी । वल्लभ सम्प्रदाय में किशोर कृष्ण की युगल लीलाओं का तथा युगल स्वरूप की उपासना का समावेश वल्लभाचार्य के जीवन के उत्तरकाल में और निश्चितरूप से आचार्य जी के पुत्र एवं शिष्य गो० विट्ठलनाथ जी के समय में हुआ ।

वल्लभ सम्प्रदाय में वात्सल्य भाव के साथ माधुर्य भाव की भक्ति का समावेश, तत्कालीन प्रचलित अन्य कृष्ण भक्ति सम्प्रदायों के प्रभाव से माना जा सकता है । आचार्य जी का विशेष संपर्क चैतन्य महाप्रभु तथा उनके अनुयायियों से था । इसका प्रमाण भी वल्लभाचार्य की जीवनी `निज वार्ता` तथा `वल्लभ-दिग्विजय` आदि ग्रन्थों से मिलता है । इससे सम्भव है कि आचार्य जी को कृष्ण की मधुर भक्ति की प्रेरणा चैतन्य महाप्रभु से मिली हो । इस प्रकार यद्यपि सब भावों से कृष्ण की उपासना का समावेश तो आचार्य जी ने अपने

सम्प्रदाय में अपने ही जीवन में प्रवर्त कर लिया था, किन्तु राधा की अथवा युगल रूप की उपासना का समावेश गोस्वामी विट्ठलनाथ जी ने ही किया । सूरदास आदि भक्तों की रचना में युगलस्वरूप तथा राधा की स्तुति के जो अनेक पद मिलते हैं वे विट्ठलनाथ के समय के कहे जा सकते हैं । गोस्वामी विट्ठलनाथ जी के राधा-भाव संबंधी विचारों पर माध्व सम्प्रदाय, चैतन्य महाप्रभु जी तथा हितहरिवंश जी के विचारों का प्रभाव स्वीकार किया जा सकता है । क्योंकि चैतन्य महाप्रभु तथा हितहरिवंश जी के सम्प्रदाय में कृष्ण के साथ-साथ राधा की भक्ति की भी मान्यता थी । वल्लभ सम्प्रदाय में राधा स्वकीया है, किन्तु गौड़ीय सम्प्रदाय में राधा परकीया भाव रूपा है ।

श्री विट्ठलनाथ जी ने सिद्धान्त तथा साधन दोनों पक्षों में अपने पिता तथा गुरु श्री वल्लभाचार्य जी का अनुकरण करते हुए भक्ति के साधन मार्ग को बहुत विस्तार दिया । श्रीनाथ जी के स्वरूप पूजन में आठ पहर की भावना, शृंगार, [illegible] तथा कीर्तन आदि का विस्तार उन्होंने बहुत वैभव के साथ किया । उन्होंने नवधा भक्ति के साधन के हेतु आचार्य जी की तरह प्रेम प्राप्ति को माना और श्री गोकुलनाथ जी, श्री हरिराय जी आदि बाद के वल्लभ सम्प्रदाय के आचार्यों ने भी भक्ति का फल मोक्ष अथवा लौकिक वैभव प्राप्ति नहीं माना । उनके लिए भी भक्ति का साधन भगवान के अनुग्रह अथवा पुष्टि द्वारा प्राप्त प्रेमावस्था ही रहा ।

उपर्युक्त तथ्यों के विश्लेषण के अनन्तर हम निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि श्री वल्लभाचार्य जी, श्री विट्ठलनाथ जी, श्री गोकुलनाथ तथा श्री हरिराय आदि वल्लभ सम्प्रदाय के इन चार आचार्यों ने ब्रह्मसूत्र, श्री मद्भागवत, गीता, महाभारत, शाण्डिल्य भक्ति सूत्र, नारद-भक्ति सूत्र और नारद पांचरात्र आदि भक्ति-शास्त्रीय ग्रन्थों से प्रेरणा लेकर तथा तत्कालीन प्रचलित माध्व, गौड़ीय, राधावल्लभीय

तथा हरिदासी आदि कृष्ण भक्ति सम्प्रदायों से प्रभावित होकर जिस भक्ति का प्रचार किया, उसमें भक्ति के सभी व्यापक भाव वात्सल्य, दास्य, सख्य कान्ता तथा नारदभक्तिसूत्र में बताई गई ग्यारह आसक्तियों सभी का समावेश हो गया । किन्तु इस वल्लभ सम्प्रदाय में आचार्य वल्लभ द्वारा निर्दिष्ट वात्सल्यभाव और पुष्टिमार्गीय उपासना द्वारा मान्य भगवद्-अनुग्रह की ही प्रधानता अन्त तक बना रहा । यद्यपि अन्य कृष्ण सम्प्रदायों, माध्व राधा-वल्लभीय, गौड़ीय हरिदासी आदि में मधुर भाव की ही उपासना अन्त तक सर्वोपरि रहा ।

हिन्दी में कृष्ण भक्ति, उपर्युक्त सम्प्रदायों के अनुसरण पर विकसित हुई और जैसा कि पहले देख चुके हैं, इन सम्प्रदायों में सभी भावों की भक्ति का प्रचार था, किन्तु वल्लभ सम्प्रदाय में वात्सल्य भाव और सख्य भाव तथा अन्य कृष्ण संप्रदायों में माधुर्य भाव की उपासना की प्रधानता था । इसका कारण वल्लभ सम्प्रदाय में कृष्ण के बालरूप और किशोर रूप तथा अन्य सम्प्रदायों में कृष्ण के राधायुक्त युगल रसिक रूप की प्रतिष्ठा ही माना जा सकता है । सर्वप्रथम हम वल्लभ सम्प्रदाय के अष्टछाप के कवियों के भक्ति विषयक विचारों का विश्लेषण करेंगे :--

अष्टछाप के कवियों की भक्ति का जो स्वरूप तथा इस विषय में उनके जो विचार उनकी रचनाओं में हमें मिलते हैं, उनपर वल्लभ सम्प्रदाय के मत का ही स्पष्ट प्रभाव है । जहां इन कवियों ने अपने उपास्य देव, कृष्ण की लीलाओं का वात्सल्य, सख्य और

दास्य तथा कान्ता भाव से वर्णन किया है, वहां सर्वत्र उन्होंने कृष्ण के ईश्वरत्व के भाव की महत्ता को ध्यान में रखा है । कृष्ण की बाल चेष्टाओं अथवा अन्य भावों के स्वाभाविक चित्रण करते हुए वे उनके ईश्वर भावको प्रकट करना नहीं भूलते । विनय के पदों में तो ईश्वर की महत्ता का चित्रण है ही । ऐसा करने में उनका ध्येय यही है कि कहीं ईश्वर के लौक चरित्रों के चित्रण करने में भक्त की चित्तवृत्ति लौक में ही न फंसी रह जाय । इसीलिए वे बार-बार याद दिला देते हैं कि ये बालवत तथा किशोरवत लीला भगवान की है, मनुष्य की नहीं है ।

भक्ति की व्याख्या इन कवियों ने नहीं की किन्तु भक्ति की महिमा का वर्णन उन्होंने बड़े विस्तार से किया । श्री वल्लभाचार्य तथा भक्तिमार्ग के अन्य आचार्यों का समर्थन करते हुए उन्होंने कहा है कि संसार-दुःख से निवृत्ति का सरल मार्ग ज्ञान और योग की अपेक्षा प्रेम भक्ति का ही है और जहां उन्होंने भगवान की स्तुति की है, वहां उनसे उनकी प्रेम भक्ति ही मांगी है । एक स्थल पर प्रेम-भक्ति की महिमा में सूरदास जी कहते हैं कि भक्ति के बिना भगवान दुर्लभ हैं[१] । यहां पर सूरदास ने ज्ञान तथा योग के अन्य मार्गों का खण्डन नहीं किया, उन्होंने तो यही कहा है कि ज्ञान और योग मार्ग से भगवान कठिनता से मिलते हैं तथा भावमय प्रकृति रखने वाले

---

१ रे मन सुमिरन सौच विचार ।

भक्ति बिनु भगवन्त दुर्लभ, रहत निगम पुकारि ।

\+ \+ \+ \+

--सूरसागर, पद सं० २३५

जावों के लिए तो भक्ति का प्रेममार्ग ही सरल उपाय है । सूरसागर के 'गोपी उद्धव संवाद' में भी यही बात सूरदास ने सिद्ध की है । परमानन्ददास जी ने भी कई पदों में यही कहा है कि जो ज्ञान और योग के मार्ग पर लगे हैं, वे लगे रहें,परन्तु मैं गोपाल का उपासक हूं और मुझे उसी में सुखप्राप्ति है । अपनी स्तुतियों में भी उन्होंने कृष्ण के प्रति स्नेह ही मांगा है । ज्ञान योग मार्गों की कठिनता को बताते हुए वे कहते हैं--' इन मार्गों की कष्ट साधना में शरीर को क्यों कष्ट देते हो ? हरिभजन के सरल मार्ग में सर्वसिद्धि है ।'[१]
नन्ददास भक्ति की श्रेष्ठता बताते हुए कहते हैं--' हे प्रभु तुम्हारी भक्ति के बिना ज्ञानादि का जो लोग साधन करते हैं,उनको बहुत श्रम करना पड़ता है । अष्टांग योगी और कर्ममार्गी सब अपने-अपने मार्गों में अत्यन्त क्लेश जानकर उन्हें छोड़ देते हैं और अन्त में वे आपकी ही

---

१ हरि के भजन में सब बात ।
  ज्ञान कर्म सो कठिन करि कत देत हो दुःख गात ।
  बदत वेद पुरान स्मृति सिंधु सां मधु परभात ।
  सन्त जन मुख श्रवत हरि जसु नन्दलाल पद अनुरात ।
  नाहिन सब जलधि कोउ औरौं विघन के सिर लात ।
  दास परमानन्द प्रभु पै मारि मुख पै बात ।
        -- डा० दीनदयाल गुप्त : 'अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय'
        पृ०५३२

शरण लेते हैं और आपकी भक्ति पाकर और आपकी कथा सुनकर सहज में मुक्ति और परमगति पाते हैं[1]। गोविन्द स्वामी प्रेमभक्ति की महिमा के विषय में कहते हैं--" प्रीतम प्रेम से ही मिलते हैं, बिना स्नेह किए भगवान को पाने की लालसा सेमर फल से निराश हुए तोते की लालसा की तरह होती है[2]। चतुर्भुजदास जी ने भगवान के प्रति अपनी स्नेहमयी भक्ति का भाव अपने पद में बड़े सुन्दर ढंग से प्रकट किया है[3]।

राधा वल्लभ सम्प्रदाय के प्रवर्तक स्वामी हितहरिवंश मनुष्य शरीर की सार्थकता भक्ति से ही मानते हैं[4]। उनके मत से कृष्ण की भक्ति के आगे ग्रहों की गति अर्थात् भाग्य रेखा का भी कोई महत्व नहीं है। हितहरिवंश के शिष्य दामोदर दास ने

---

१ अब विधि कहत ज्ञान है जोई, भक्ति बिना सोउ सिद्धि न होई।
सुन्दरी भक्ति अमीरस सार मोक्ष आदिक जाके बस निर्भर ।

+ + + +

त्रिविधि अष्टांग जोग अनुसरे, ग्यानहेतु बहु तप करे ।
अतिश्रम मानि कहां ते फिरे, तुम कहुं कर्म समर्पन करे ।
तिनकर शुद्ध भयो मन मर्म, तब जाने प्रभु तुम्हरे कर्म ।।

--नन्ददास, 'दशम स्कन्ध' अध्याय १४, पृ० २५१

२ प्रीतम प्रीति ही ते पैयें ।
यद्यपि रूप गुण सील सुघरता इन बातन न रिझैये ।
सतकुल जन्म करम शुभ लक्षण वेद पुराण पढ़ैये ।
गोविन्द बिना स्नेह सुवा लौं रसना कहा नचैये ।

--डा० गुप्त के गोविन्दस्वामी पद संग्रह, पद सं०७८

३ स्याम सुन नियरे आये मेहु
भीजैगी मेरी सुरंग चूनरी ओटपीत पर देहु ।
दामिनि ते डरपित हौं मोहन निकट आपुने लेहु ।
दास चतुर्भुज प्रभु गिरिधर सौं बांध्यो अधिक सनेहु ।

--डा०गुप्त के परमानन्ददास पद संग्रह से पद नं०८१)

४ (अगले पृष्ठ पर)

अपनी वाणी में अन्य सभी साधनों की अपेक्षा भक्ति को श्रेष्ठ स्वीकार किया है[1]। ध्रुवदास मन को सम्बोधित करके कहते हैं-- रे मन, अन्य विचार छोड़कर राधाकृष्ण से प्रेम कर, राधावल्लभ के भक्तों की चरण सेवा कर[2]। हरिराम व्यास ने भक्ति को भवसागर से पार जाने का एकमात्र उपाय कहा है तथा भक्ति के अतिरिक्त अन्य सभी वस्तुओं को असत्य माना है[3]। व्यास जी का दृढ़ विश्वास था कि यदि भक्ति की व्यापक लोकप्रियता न होती तो धर्म, विद्या आदि सब कुछ नष्ट हो गया होता। इसीप्रकार

(पूर्व पृष्ठ की टिप्पणी सं०४)

मानुष को तन पाइ भजौ रघुनाथको।

-- श्री हित०स्फुट वाणी, पृ०१

---

१ साधन सकल कहे अविरुद्ध। वेद पुरान सु आगम शुद्ध।
बुद्धि विवेक के जानहिं दास। समुझौं सबनि सुभक्ति उजास।

-- श्री हित चौरासी सेवक वाणी, पृ०४६

२ जिनके हिय में बसत हैं राधा वल्लभ लाल।
तिनकी पद रज लेहु ध्रुव पिवत रहौ सब काल।

-- ध्रुवदास : 'ब्रजमाधुरी सार' सं०श्री वियोगी हरि, पृ०२४५

३ भव तरिवे को एक उपाउ। -- व्यास वाणी, पृ०६६
सांचो भक्ति और सब झूठ। -- ,, ,, पृ०६७

गौड़ीय सम्प्रदाय ह के कवि गदाधर भट्ट ने भी भक्ति को कलि-काल तारिनी, मंगल विधायिनी आदि अनेकानेक विशेषणों से विभूषित किया है । हरिदासी सम्प्रदाय के प्रवर्तक स्वामी हरिदास कहते हैं--"हरि का नाम लेने में आलस्य क्यों करते हो ? किसी समय भी यम[1] काल के फंदे में पड़ जाओगे । मृत्यु के समय हमारी सहायता कोई नहीं करेगा । इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वामी हरिदास ने भयानक संसार समुद्र को पार करने हेतु जीव के लिए श्रीकृष्ण के चरणों का आश्रय ही समर्थ साधन बताकर भक्ति की श्रेष्ठता प्रतिपादित की है । इसी प्रकार निम्बार्क मतानुयायी श्री भट्ट जी ने जन्म-जन्मान्तर के दुःखों का मूल कारण जीव का गोविन्द से विमुख होना अर्थात् भक्तिहीन होना स्वीकार किया है और भक्ति[2] को अभय पद प्राप्त होना एवं भव पाश से मुक्ति पाना सम्भव मानते हैं । अभी तक मैंने उन कवियों के भक्ति विषयक विचारों का विवेचन किया जो किसी न किसी सम्प्रदाय से संबंधित हैं, किन्तु सम्प्रदाय निरपेक्ष मीराबाई का भी भक्ति के विषय में वही विचार है जो उपर्युक्त कवियों का है । मीराबाई ने संसार की असारता दिखाते हुए भगवान के चरणों की भक्ति के लिए मन को प्रबोध दिया है-- "रे मन जो कुछ तू देखता है वह सब नष्ट हो जायगा। काशी जैसे तीर्थस्थानों में जाने से क्या लाभ ? --

---

१ हरि के नाम को आलस क्यों करत है रे काल फिरत सर साँधें ।
हीरा बहुत जवाहर संचे, कहा भयो हस्ती दर बाँधे ।
कर कुबेर कछु नाहिं जानत, चढ़ा फिरत है काँधे ।
--कवि स्वामी हरिदास ब्रजमाधुरी सार, सं० श्री वियोगी हरि, पृ० १२८

२ मि०मा०, पृ० ११

अपने सुन्दर शरीर पर गर्व करने की आवश्यकता नहीं । ये सब मिट्टी में मिल जायेंगे । अतः अविनाशी भगवान के चरणारविन्दों का सेवा कर ले[१] ।

उपर्युक्त तथ्यों के प्रकाश में हम यही कह सकते हैं कि सभी कृष्ण कवियों ने अपने- अपने ढंग से भक्ति की महिमा का गुणगान किया है और सभी ने एक स्वर से मुक्ति के अन्य साधनों -- ज्ञान,योग तथा कर्म से भक्ति को श्रेष्ठ माना है । बहुतों ने तो मुक्ति को भक्ति से हीन बताकर भगवान से मोक्ष न मांगकर केवल उनकी भक्ति को ही मांगा है । इस प्रकार भक्ति को मोक्ष का साधन न मान कर मोक्ष से भी श्रेष्ठ और साध्य माना है,जिसका परिचय मोक्ष के प्रसंग में दिया जा चुका है । वास्तव में भक्ति की श्रेष्ठता का प्रतिपादन ही पुराणों एवं वैष्णव-आचार्यों का मूल स्वर था ,जिसके परिणाम-स्वरूप हिन्दी के आलोच्यकालीन कवियों के भी काव्य में वही स्वर यथावत् स्थान प्राप्त कर लिया ।

आलोच्यकालीन हिन्दी रामकाव्य

आलोच्यकालीन रामकवियों में केवल तुलसीदास की ही रचनाओं में शुद्ध और सर्वांगपूर्ण भक्ति का स्वरूप मिलता है ।

---

१ भज मन चरण कमल अविनासी ।

\+ \+ \+

इण देही का गरब न करणा, माटी में मिल जायगी ।

सं० परशुराम चतुर्वेदी : `मीराबाई की पदावली`

पद संख्या १६४

अन्य कवियों में जैसे केशव में भक्ति का आभास मात्र भी नहीं है, क्योंकि केशव का दृष्टिकोण भक्ति निरूपण न होकर पाण्डित्य प्रदर्शन और चमत्कार प्रयोग ही था । अग्रदास, नाभादास, प्राणचन्द चौहान, हृदयराम आदि भक्त अवश्य थे, किन्तु भक्ति की व्याख्या और निरूपण न करके केवल वर्णनात्मक ढंग से राम-कथा का गायन किया । इस प्रकार जब हम भक्ति की व्याख्या करने बैठते हैं, तब हमारे दृष्टि-पथ में अकेले तुलसीदास ही दिखाई पड़ते हैं । तुलसीदास की भक्ति विषयक मान्यताओं पर किन सम्प्रदायों का प्रभाव पड़ा, स्पष्टरूप से कहना कठिन है, क्योंकि तुलसीदास किसी भी सम्प्रदाय से बंधकर नहीं चले हैं, बल्कि उन्होंने सभी सम्प्रदायों के मान्य तत्वों को समन्वय की भावना से ग्रहण किया है और उन्होंने अपना मत स्थिर करने के लिए वेद, उपनिषद्, गीता, भागवत शांडिल्य भक्तिसूत्र, नारद-भक्तिसूत्र, नारद पांचरात्र आदि उन मूल ग्रन्थों से सीधे प्रेरणा ग्रहण की है, जिनसे सभी भक्ति सम्प्रदायों एवं व्याख्याचार्यों ने प्रभाव ग्रहण किया था । यह बात अवश्य है कि तुलसीदास ने उसी प्रकार की भक्ति को स्वीकार किया अथवा उन्हीं सिद्धांतों का समर्थन किया जिस प्रकार की भक्ति रामानुजाचार्य एवं रामानन्द को मान्य थी, किन्तु यह कहना कि तुलसीदास रामानुज अथवा रामानन्द के सम्प्रदाय में दीक्षित अथवा सम्प्रदायबद्ध थे, असंगत है, बल्कि जैसा कि हम ऊपर की पंक्तियों में कह चुके हैं, तुलसीदास का विचार साम्य रामानुज और रामानन्द से और प्रेरणा मूल ग्रन्थों से मिली है और चूंकि मूलग्रन्थों के भक्ति सिद्धांतों को हम पहले देख चुके हैं, अब केवल रामानुज तथा रामानन्द का भक्ति विषयक दृष्टिकोण समझना चाहिए । अतः हम पहले आचार्य रामानुज और रामानन्द के भक्ति विषयक विचारों को

समझने की चेष्टा करेंगे, तत्पश्चात् तुलसी के विचारों का विश्लेषण करेंगे। रामानुज वैष्णव आचार्यों में कालक्रम की दृष्टि से प्रथम आचार्य हैं। उन्होंने अपने विशिष्टाद्वैत में जिस दार्शनिक सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की, उसका उद्देश्य शंकर के मायावाद का खण्डन करके भक्ति की महत्ता का प्रतिपादन करना था। रामानुज ने ही सर्वप्रथम जीव और ईश्वर में अंश और अंशी सम्बन्ध बताया आत्म तत्व तथा भगवद् तत्व में पूर्ण साम्य न बताकर आंशिक भेद स्थापित किया, जो भक्ति की भावना के लिए परम आवश्यक था। आचार्य शंकर ने मोक्ष का साधन केवल ज्ञान को स्वीकार किया था और भक्ति को अविद्या या भ्रान्ति कहकर उसकी पूर्ण अवहेलना की थी, किन्तु रामानुज ने शंकर की बात उलटकर भक्ति को ही मोक्ष का एकमात्र साधन स्वीकार किया और ज्ञान को भक्ति का साधन माना। भक्ति के समस्त भेदों में रामानुज ने दास्य-भाव अथवा सेव्य सेवक भाव की भक्ति को सर्वश्रेष्ठ कहा और वैकुंठवासी विष्णु को अपना आराध्य स्वीकार किया। आराध्य विष्णु को प्रसन्न करने के लिए पूर्ण शरणागति अथवा पूर्ण प्रपत्ति का सिद्धांत स्थिर किया। इस प्रपत्ति के लिए ध्यान और उपासना अनिवार्य है। ध्यान और उपासना के स्वरूप की व्याख्या रामानुज के अनुसार इस प्रकार है-- 'ध्यान और उपासना शब्दों का व्यवहार स्मृति(चिन्तन) के प्रवाह रूप ज्ञान के लिए किया जाता है, जो दर्शन के समान आकार वाला हो जाता है। उपासना वह चिन्तन प्रवाह है, जिसके कारण आत्मा परमात्मा के द्वारा वरणीय हो जाता है। स्मर्यमाण विषय की अत्यन्त प्रियता के कारण यह स्मृति प्रवाह भी अत्यन्त प्रिय रूप है। स्नेहपूर्वक किए गए अनवरत ध्यान को भक्ति कहते हैं[१]।

---

१ गीता पर रामानुजभाष्य, अध्याय ७ की अवतरणिका।

भगवान में तैलधारा सदृश अविच्छिन्न मनोनिवेश ही भक्ति का स्वरूप है । 'श्री भाष्य' में उन्होंने स्थापित किया है कि ध्रुवानुस्मृति[१] ही भक्ति है । 'भक्ति' और 'उपासना' पर्यायवाची हैं । वेदान्तदेशिक का भक्तिस्वरूप निरूपण भी रामानुज की परिभाषा से मिलता जुलता है । उन्होंने भक्ति को प्रीतिरूपा 'धी' कहा है । यहां पर 'धी' शब्द का प्रयोग ज्ञानविधा से विरोध प्रतिपादित करने के लिए किया गया है । सामान्यत: प्रीति आदि भाव ज्ञान विशेष ही है, किन्तु भगवद्विषय प्रीति(भगवदनुरक्ति) भक्ति है । भक्ति के फल में ज्योतिष्टोम अग्निहोत्र आदि कर्मों के फलों की भांति कोई तारतम्य नहीं है । उपनिषद्, गीता आदि में जिस भक्ति को ज्ञान का हेतु कहा गया है, वह सामान्या(साधनरूपा) भक्ति है, प्रेमरूपा भक्ति नहीं है । रामानुज दर्शन के अनुयायी रामानन्द ने अपनी भक्ति परिभाषा में भक्ति की जाति और व्यावर्तक धर्मों का ही नहीं, अपितु उसके साधनों, अवयवों और उपलक्षणों का भी समावेश किया है । मुख्य महर्षियों के वचनों के आधार पर उन्होंने बतलाया है कि मानस का नियमन करके अनन्य भाव से भगवद्परायण होकर की गई उपाधि निर्मुक्त परमात्म सेवा-भक्ति है । वह ईश्वर के प्रति परानुरक्ति है, स्मृति-सन्तानरूपा है । तैलधारा की भांति अविच्छिन्न है । विवेक आदि उसकी सात भूमियां और यम आदि आठ अवयव हैं[२] ।

---

१ ब्रह्मसूत्र १।१।१ पर रामानुजभाष्य ।

२ आचार्य रामानन्द : वै०म०भा०, पृ०६५-६६

इस प्रकार संक्षेप में कहा जा सकता है कि आचार्य रामानुज और रामानन्द दोनों ने भक्ति को ज्ञान से श्रेष्ठ कहा और भक्ति को साधन और साध्य दोनों माना । उन्होंने भक्ति के लिए उपासना, ध्यान, अनन्यभाव पूर्ण प्रपत्ति आदि को अनिवार्य बतलाया और उपासना पर इतना जोर दिया कि रामानुज ने उपासना को भक्ति का पर्याय बतलाया । भक्ति का सम्यक् विवेचन करने के बाद निष्कर्ष रूप में यही कहा जा सकता है कि उक्त दोनों आचार्यों की भक्ति दास्यभाव प्रधान थी, जिसका समर्थन या प्रभाव हमें तुलसीदास में मिलता है । अब हम तुलसी के भक्ति विषयक विचारों का विश्लेषण करेंगे ।

भक्ति का स्वरूप, भक्ति के अर्थ की व्यंजना करने के लिए तुलसी ने अनेक शब्दों का व्यवहार किया है--अनुराग, प्रीति, प्रेम, रति, स्नेह आदि[1] । अनुराग, राग, प्रीति, प्रेम[2] आदि शब्दों का प्रयोग सामान्य लौकिक प्रीति के अर्थ में भी हुआ है । भगवद् विषयक होने पर यही भाव भक्ति कहलाता है । यह प्रेम राम के प्रति भी हो सकता है और नाम के प्रति भी । दोनों ही समान है । अतएव तुलसी ने नाम प्रेम को भी गौरव दिया है । इस प्रकार उनकी भक्ति प्रेम रूपा है । 'प्रेम भगति' 'भगति प्रेम' या 'भाव भगति' आदि दूसरे शब्दों का व्यवहार उन्होंने साधनभक्ति की तुलना में साध्य भक्ति के प्रेमस्वरूप को अधिक महत्व देने के लिए ही किया है ।

तुलसीदास ने भक्ति का स्वरूप विवेचन करते हुए कहा है कि क्रोध और सांसारिक राग को जीत कर नीतिपथ

---

१ रा०च०मा०, बाल० १०४।३

२ ,, अयो०, ८।१

पर चलने वाले जन की राम के प्रति की गई प्रीति भक्ति है । भक्ति की इस परिभाषा में राग-विजय और नीति पालन भक्ति के उपलक्षण मात्र हैं । रागादि मुक्त चित्त में ही भक्ति का उदय संभव है ।

राग से तुलसी का अभिप्राय लौकिक पदार्थों के प्रति चित्त की आसक्ति से है । नीति-पालन भक्ति के उदय का साधक और उदित भक्ति का पोषक होता है । अनीति पथ पर जाने वाले कल्पित भक्ति मार्गों का त्याग भी इसका प्रयोजन है । रामविषयक प्रीति को ही तुलसी ने भक्ति का स्वरूप लक्षण माना है । 'प्रीति' भक्ति की जाति या सामान्य है । यह प्रीति कनक-कामिनी आदि के सम्बन्ध से सांसारिक राग के रूप में भी हो सकती है । किन्तु वह भक्ति नहीं कहला सकती है । भक्ति की अधिकारिणी वही प्रीति है, जो राम से अनन्यभाव से सम्बद्ध हो और सांसारिक विषयों से रहित हो । इस लक्षण में 'प्रीति' शब्द से तुलसी का वही तात्पर्य है जो शाण्डिल्य का 'परानुरक्ति' से या नारद का 'परम-प्रेम' से । एक अन्य स्थल पर भी तुलसीदास ने कहा है कि विश्वनाथ के चरणों में निश्छल स्नेह ही रामभक्त का लक्षण है[1] । इसमें तुलसीदास ने राम-भक्ति और शिव-भक्ति का समन्वय करते हुए दास्यभाव से 'निश्छल स्नेह को भक्ति कहा है ।

तुलसी के अनुसार ऊपर वर्णित प्रेम में वह शक्ति है कि वह पत्थर से भी परमेश्वर को प्राप्त कर लेता है[2] । इस भागवद् प्रेम

---

१ बिनु छल विश्वनाथ पद नेहू । राम भगत कर लच्छन एहू ।।

--रा०च०मा०,बाल० १०४।३

२ प्रेम बदौं प्रह्लादहि को जिन पाहन तें परमेस्वर काढ़े ।

-- कवि० ७।१२७

का आनन्द काव्य के नौ रसों एवं रसना के छः रसों से कहीं अधिक मधुर है । भक्तिभाव भी लौकिक प्रेम की भाँति विरहावस्था में अधिक उत्कर्ष को प्राप्त होता है । आदर्श भक्त भरत का चरित्र उनकी भक्ति की विरहासक्ति के उत्कर्ष का द्योतक है । तुलसीदास ने अपने भक्तिमार्ग को हरि-भक्ति-पथ भी कहा है । डा०बलदेव प्रसाद मिश्र ने 'हरि' शब्द के ग्रहण के अनेक कारण बतलाए हैं[1]-- (१) तुलसीदास को बाल्यकाल से ही हरि भक्ति की शिक्षा मिली थी । (२) लोकसंरक्षा का भाव हरि के साथ ही विशेषरूप से सम्बद्ध है । (३) पुराण आदि ग्रन्थों में हरि-भक्ति का ही सर्वाधिक विस्तृत एवं आकर्षक वर्णन हुआ है । (४) आराध्य की त्रिविधता (निराकारता, सुराकारता और नराकारता) का श्रेष्ठरूप हरि में ही है । (५)अपनी विविधता एवं लोकरंजकता के कारण हरि के अवतारों का ऐतिहासिक महत्व है । (६) हरि का शाब्दिक अर्थ भी आराध्य की मंगलकारिता और व्यापकता का ज्ञापक है ।(७) हरि के अन्तर्गत राम और कृष्ण दोनों श्रेष्ठ अवतारों का समावेश हो जाता है[2] । मिश्र जी का यह मत उचित है, परन्तु यह ध्यान रखने की बात है कि हरि भक्ति में हरि का व्यवहार परम विष्णु राम के लिए हुआ है । राम ही हरि हैं और तुलसी की दृष्टि में राम भक्ति का मार्ग ही रामभार्ग है[3] । तुलसी के आराध्य रामानन्द की

---

१ डा० बलदेवप्रसाद मिश्र : 'तुलसी दर्शन',पृ०२४४-२४५ ।
२ ,, : ' ,, ',पृ०२३६-२४२ ।
३ विनय० १०३।५

भाँति सगुण राम ही हैं । तुलसी ने धार्मिक उदारता तथा समन्वय की भावना के कारण निर्गुण राम,सगुण राम, कृष्ण ,विष्णु तथा उनके अन्य अवतारों एवं शिव आदि अन्य देवों को राम का ही रूप मानकर उनके प्रति भी विभिन्न स्थलों पर अपनी भक्ति का निवेदन किया है । स्मार्त वैष्णव होने के कारण तुलसी ने आचार-विचार तथा बहुदेवोपासना पर जोर दिया है,किन्तु उन्होंने अन्य देवोपासना की तुलना में रामभक्ति की वरीयता के अनेक कारण बतलाए हैं -- १- इन्द्र,ब्रह्मा आदि देवता स्वार्थी हैं । वे इतने चतुर हैं कि जितना देते हैं,उसका करोड़ गुना ले लेते हैं । वे लेना अधिक लेते हैं,किन्तु मुक्ति नहीं देते हैं[१] । २- केवल राम ही ऐसे कृपालु हैं,जो एक बार नमस्कार करने से ही द्रवीभूत होकर शरणागत की कामनाओं को पूर्ण कर देते हैं[२] । ३- रामभक्त होने के पहले तुलसीदास ने दूसरों की शरण में जाकर,उनकी वन्दना करके देख लिया कि दुख ही दुख है । दूसरा कोई भी आराध्य भवक्लेश को दूर नहीं कर सकता । तुलसीदास के पास इस बात के प्रमाण भी हैं । शिव,ब्रह्मा,इन्द्र,लोकपाल आदि सभी उपस्थित थे,परन्तु शोकमग्न गजराज को कोई भी नहीं बचा सका । ४- राम का स्वभाव यह है कि भक्ति का उद्रेक होते ही वे भक्त पर अविलम्ब कृपा करते हैं । ५- अपने सुयश की अवहेलना करके भी भक्तों के लिए देहधारण करके उनके कष्ट को दूर करते हैं । पाषाण बनी अहिल्या,निषाद,वृद्ध गृद्ध,शबरी,बन्दरों आदि के प्रति किया गया उनका अनुग्रह पूर्ण व्यवहार उनकी दयालुता का प्रमाण है । ६- राम ही ऐसे स्वामी हैं, जो भक्त के प्रति आभार का अनुभव करते हैं

---

१ विनय० १६३।२

२ रा०च०मा०, अयो० २९६।२

यह उनकी विशालता है । ७- भगवान राम की अहैतुकी कृपा सभी पर होती है, जो भी उनकी शरण में चला जाता है, चाहे धनी या गरीब हो चाहे ज्ञानी हो अथवा मूर्ख हो, बलशाली हो या निर्बल हो सभी का समानभाव से उद्धार करते हैं । ८- राम की सर्वोपरि दानशीलता भी उनकी श्रेष्ठता का प्रमाण है[१] । ९- निराकार रूप में राम के नाम का महत्व निर्गुण संतों को भी मान्य है । स्वयं तुलसी की मान्यता है:--

> जो करि लौकिक कामना, पूजै बहु देव ।
> तुलसिदास तेहि सेइये, संकर जेहि सेव ।
> ते मतिमन्द जो राम तजि, भजहिं जाइ प्रभु आन[२] ।

यद्यपि तुलसीदास के भक्तिमत में वात्सल्य,सख्य आदि भावों का भी महत्व है तथापि उनका अभीष्ट भक्ति मार्ग दास्य-भक्ति का ही है । उनका दास शब्द भक्त का ही पर्याय है । उन्होंने अपना स्वयं अपने काव्य में चित्रित भक्त जनों की भाँति भगवान राम के ही चरणों में अर्पित की है । दूसरों से भी उन्होंने राम के प्रति इसी प्रकार की भक्ति के वरदान की ही याचना की है । उस याचना में चरण,पद आदि शब्दों का व्यवहार दास्य भक्ति का ही सूचक है ।

तुलसीदास को निर्गुण मत की अभेद भक्ति अमान्य नहीं है । तथापि उनकी दृष्टि में भेद-भक्ति ही श्रेष्ठ और

---

१ जो संपति दससीस अरपि करि रावन सिव पहँ लीन्हीं ।
सो सम्पदा विभीषन कहँ अति सकुच सहित हरि दीन्हीं ।
--वि०प०,पद १६२।३

२ रा०च०मा०,लंका० ३

विशेष मान्य है, जहां वे भेदकारिणी भक्ति के परिहार का कथन करते हैं वहां भी उनका तात्पर्य भेदभक्ति ही है। उन स्थलों पर भेद का तात्पर्य है जीवों का परस्पर भेद, जीव तथा ब्रह्म का स्वरूप भेद और विश्व तथा विश्वरूप भगवान का भेद।

भक्ति की महिमा : रामकाव्य

इष्टदेव और भक्त का अनन्य सम्बन्ध ही भक्ति है। इसकी सर्वश्रेष्ठता एवं महिमा का गुणगान रामकवि तुलसी ने बड़े विस्तार से किया है। भक्ति की महत्ता के बारे में तुलसीदास का विचार है कि भक्ति के बिना कोई भी साधन अभीष्ट फल और सुख नहीं दे सकता है। एकमात्र भक्ति ही सर्वफलदात्री है। वह स्वतन्त्र है और अत्यन्त प्रबल है। कर्मयोग और ज्ञान उसके अधीन हैं और इस भक्ति की साधना में सहायक हैं। जप,तप,नियम,योग,श्रुति में वर्णित नाना शुभ कर्म,ज्ञान, दया,दम, तीर्थाटन और स्नान इत्यादि जितने धर्म बताए गए हैं उन सब का और वेद,पुराण सुनने आदि का एकमात्र फल है-- भगवान के चरणों में प्रीति। इस प्रकार ज्ञान इत्यादि का महत्त्व भक्ति के सामने तुच्छ है,क्योंकि ज्ञान का पंथ अत्यन्त कठिन है,उसके साधन और कठिन हैं। बड़े-से-बड़ा कष्ट उठाने पर ही लोग उसे पाते हैं,किन्तु भक्ति हीन होने पर वह ज्ञानी भी भगवान को प्रिय नहीं है। ज्ञानी समझता है कि उसने मोक्ष पा लिया है, किन्तु यह उसका भ्रम है। भक्ति के बिना जीव की बुद्धि शुद्ध नहीं होती है। अत: ज्ञान भक्ति के सामने तुच्छ है और बेकार भी है। जितने भी भक्त हैं, उनकी भक्ति के कारण भगवान वश में हो जाते हैं। भक्ति वेद से युक्त

---

१ वि०प०,पद संख्या ७।५, पद १०१६

नीच से नीच प्राणी भी भगवान को प्रिय है[1]।

भक्तिहीन प्राणी को अन्य किसी भी साधन से सुख नहीं मिलता है। चारों प्रकार के वर्ण एवं चारों आश्रम अपने धर्म का पालन करते हुए यदि भगवान को नहीं भजते तो वे नरक के भागी होते हैं। भक्ति अनुपम सुखों की मूल है। अविद्या का बन्धन कर्म के साधनों से नहीं छूटता और भी दृढ़ हो जाता है। मोह में पड़कर मनुष्य नाना प्रकार के पाप करते हैं। उन पापों का फल मनुष्य को भोगना पड़ता है, इसलिए जो चतुर भक्त हैं, वे शुभाशुभ कर्मों का त्याग करके भगवान की भक्ति करते हैं। विधि-धर्म (कर्म) छोड़कर भगवान का भजन करने से भक्त का मन बुरे कर्मों तथा पापाचार की ओर कभी नहीं जाता है। यदि अज्ञान के कारण कभी पापाचार हो भी जाय तो भगवान भक्त को क्षमा करके उसे अपनी शरण में [illegible] कर लेते हैं और भक्त की उसी प्रकार रखवाली करते हैं, जिस प्रकार माता अपने बालक की रक्षा करती है[2]। इस प्रकार भक्ति में कर्मकाण्ड और ज्ञान की कुछ भी आवश्यकता नहीं है। भगवान की प्राप्ति का सर्वश्रेष्ठ उपाय भक्ति है, इसमें न योग-साधन की आवश्यकता है, न यज्ञ, न तप, न उपवास आदि किसी भी साधन की आवश्यकता नहीं है। इसमें तनिक भी प्रयास नहीं करना पड़ता है। यह तो अत्यन्त सुगम पथ है, जिससे राम मिलते हैं और भगवान राम के मिलते ही भक्त का माया बन्धन दूर हो जाता है। भक्ति की तुलना में ज्ञान और कर्मकाण्ड की हीनता से तुलसीदास बतलाते हैं, परन्तु स्पष्ट रूप से उनकी निन्दा नहीं करते हैं। अकेली भक्ति भगवान की प्राप्ति करा सकती है, किन्तु अकेले ज्ञान या कर्म भगवान की प्राप्ति करने में असमर्थ है। दूसरे ज्ञान अत्यन्त कठिन और सर्वसुलभ नहीं, किन्तु भक्ति सर्वसुलभ नहीं

1 रा०च०मा०, उ० ८६

2 ,, उ० ४३।३-५

किन्तु भक्ति सर्व सुलभ और सरल है ।

तुलना और निष्कर्ष

ऊपर कृष्ण एवं रामकवियों के विवेचित तथ्यों के प्रकाश में यही कहा जा सकता है कि भक्ति की परिभाषा, लक्षण या स्वरूप का विवेचन कृष्ण कवियों की रचनाओं में नहीं मिलता है । भक्ति की परिभाषा करना कृष्ण कवियों को अभीष्ट नहीं था, क्योंकि इस कार्य को उनसे सम्बन्धित सम्प्रदायों के आचार्य पर्याप्त मात्रा में कर चुके थे, जैसा कि हम पहले देख चुके हैं । अतः आलोच्यकालीन हिन्दी के कृष्ण कवियों ने भक्ति का विवेचन नहीं किया, बल्कि कृष्ण भक्ति की महिमा बताकर उसका प्रचार और प्रसार ही पूर्णरूप से किया । इस प्रचार कार्य में कृष्ण भक्त पूर्णतः सफल है । राम कवि तुलसीदास किसी भी सम्प्रदाय से पूर्णतः संबंध नहीं थे । उन्होंने अपनी समन्वय-बुद्धि से भक्ति के सर्वमान्य लक्षणों का दोहन करके एक अलग भक्ति रसामृत तैयार किया, जिसका स्वरूप या लक्षण बताना आवश्यक था, क्योंकि तुलसीदास एक नया भक्ति-पथ तैयार कर रहे थे जो सब का समन्वय होते हुए भी सर्वथा नवीन था और अभी तक किसी भी आचार्य ने पूर्णतः भक्ति की ऐसी परिभाषा नहीं की थी, जैसा कि तुलसीदास ने किया । अतः अपने भक्ति के स्वरूप को विद्वानों और जनता में स्पष्ट करने के लिए तुलसीदास को भक्ति का स्पष्ट लक्षण बताना पड़ा । ऐसी परिस्थिति कृष्ण कवियों के सम्मुख नहीं थी, क्योंकि वे लोग तत्सम्बन्धित सम्प्रदायों की भक्ति विषयक मान्यता में परिवर्तन या परिवर्द्धन नहीं कर सके यथावत् उसे स्वीकार कर

लिया । फलतः भक्ति की परिभाषा करने से विश्लेषण मात्र समझकर उन लोगों ने भक्ति का स्वरूप विवेचन नहीं किया, केवल आचार्यों द्वारा विवेचित भक्ति का प्रचार किया । तुलसीदास ने जिस हरि-भक्ति-पथ का विवेचन किया है वह वेद शास्त्र सम्मत है, उसका विरोधी नहीं । यह भक्ति पथ ज्ञान और वैराग्य से युक्त है । ज्ञान और वैराग्य से युक्त जो प्रेम या प्रीति भगवान के प्रति होता है, वही भक्ति है । इस प्रीति में लौकिकता का पूर्ण नाश और भगवान के प्रति आसक्ति का पूर्ण भाव रहता है । इस भक्ति के लिए ध्यान,उपासना,तप,जप नियम संयम आदि आवश्यक है । साथ ही भगवान के प्रति पूर्ण प्रपत्ति,शरणागति,अनन्यता,उनकी विशालता सर्वशक्तिमत्ता,दयालुता,अहैतुकी कृपा आदि का स्थायीभाव होना अनिवार्य है । यह भक्ति सभी के लिए समानरूप से सुलभ है,केवल भगवान के प्रति निश्छल प्रीति चाहिए । गृहस्थ, ऊँच-नीच,मूर्ख-ज्ञानी,धनी-निर्धन,स्त्री-पुरुष सभी भक्ति के अधिकारी हैं । तुलसी की भक्ति जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, तत्कालीन सभी भक्ति मार्गों का समन्वित रूप है । आचार्य रामानुज ने वैकुण्ठ निवासी लक्ष्मीपति विष्णु की भक्ति को स्वीकार किया । रामानन्द ने विष्णु के अवतार नर-शरीर धारी सगुण राम की भक्ति को ग्रहण किया । आचार्य वल्लभ ने लोकरंजन कारी कृष्ण की परम प्रेमरूपा भक्ति का उपदेश दिया जिसका अनुसरण समस्त आलोच्यकालीन कृष्ण-भक्तों ने किया,किन्तु तुलसीदास ने राम और कृष्ण तथा विष्णु में अभिन्नता स्थापित की, साथ ही राम-भक्ति के लिए शक्ति या दुर्गा की पूजा और शिव-पार्वती भक्ति को अनिवार्य बताया । शिव-भक्ति के बिना साधक राम की भक्ति नहीं पा सकता । इसकी स्पष्ट छाप तुलसी ने

अपने साहित्य में [illegible] लगा दी है । यह तुलसी का अनोखा नवीन
भक्ति-पथ है, जिसमें विष्णु, कृष्ण, राम, शिव आदि मूर्तियों तथा
की भक्ति मिलकर एक नवीन राष्ट्रीय भक्ति का विशद प्रासाद का
निर्माण सभी प्राणियों के लिए समान रूप से तैयार किया है । इस
प्रकार की भक्ति का निर्माण तुलसी के पूर्व किसी ने भी नहीं किया था ।

भक्ति की महिमा का गुणगान कृष्ण एवं
राम दोनों धाराओं के कवियों ने बड़े विस्तार से किया है और भक्ति की
महिमा के बहाने भगवान की महिमा का वर्णन किया है, क्योंकि दोनों
धाराओं के कवियों ने भक्ति को सर्वश्रेष्ठ सिद्ध किया है । भक्ति भगवान से
अलग नहीं है, बल्कि भक्ति और भगवान दोनों एक ही हैं । भक्ति मिलते
ही भगवान स्वतः मिल जाते हैं, ऐसा विचार दोनों धाराओं के कवियों
का है । दोनों धाराओं के कवियों ने भक्ति को भगवान की कृपा भी
माना है और इसे सांसारिक दुःख निवृत्ति का सरलतम मार्ग सिद्ध किया है।
सांसारिक दुःख से निवृत्ति अथवा मोक्ष प्रदान करने के तीन साधन हैं--ज्ञान,
कर्मयोग और भक्ति । इनमें भक्ति सर्वश्रेष्ठ और सर्वसुलभ तथा सरलतम साधन है।
ज्ञान और कर्मयोग को दोनों धाराओं के कवियों ने भक्ति की तुलना
में हीन बतलाया है, किन्तु राम कवि तुलसी ने भक्ति और ज्ञान की
तुलना में भक्ति को भले ही सर्वश्रेष्ठ बतलाया हो, किन्तु स्पष्टरूप से
वे ज्ञान को भी महत्व देते हैं और सांसारिक दुःख निवृत्ति अथवा मुक्ति
का सफल साधन ज्ञान को भी उसी प्रकार मानते हैं, जिस प्रकार भक्ति
को और ज्ञान तथा भक्ति दोनों को अलग-अलग समान महत्व देते हैं,
किन्तु जब तुलसीदास साधनों की तरफ दृष्टि डालते हैं, तब वे अवश्य
ही भक्ति को सर्वसुलभ और श्रेष्ठ तथा सरल बताकर ज्ञान को सर्वग्राह्य
नहीं मानते हैं, क्योंकि ज्ञान समझने, गुनने पाने में अत्यन्त कठिन है ।

केवल विद्वान् और ज्ञानी पुरुष ही ज्ञानमार्ग के अधिकारी हैं और ऐसे लोगों की संख्या बहुत ही कम है, किन्तु उसकी तुलना में मूर्ख अज्ञानी व्यक्ति ही अधिक है, जिनका जीवन ज्ञान मार्ग से सम्पन्न नहीं है, अतः ऐसे अज्ञानी सरल निर्धन स्त्री-पुरुष सभी के लिए भक्ति ही सरल मार्ग है । इस प्रकार तुलसीदास के अनुसार ज्ञान और भक्ति स्वतन्त्र रूप से दोनों ही महत्वपूर्ण हैं, किन्तु एक कठिनता के कारण सर्वग्राह्य नहीं, अतः संकीर्ण किन्तु सरलता के कारण सर्वग्राह्य है, अतएव व्यापक और विस्तृत है । कृष्ण -कवियों ने भक्ति की तुलना में ज्ञान को हीन तो सिद्ध ही किया है, साथ ही स्वतंत्ररूप से भी ज्ञान को निम्नकोटि का बतलाया है । कृष्ण-कवियों ने ज्ञान का महत्व कहीं भी नहीं स्वीकार किया है, उल्टे उसकी हंसी उड़ाई है । ज्ञान को हीन सिद्ध करने के लिए ही कृष्ण-काव्य में भ्रमरगीत की रचना की गई है । वस्तुतः कृष्ण-कवियों की भक्ति रागानुगा भक्ति थी । जिसके लिए तर्क और ज्ञान की आवश्यकता नहीं थी, बल्कि आत्मसमर्पणपूर्ण समर्पण की भक्ति ही अनिवार्य थी और अच्छे-बुरे सभी भाव कृष्ण को समर्पित थे, किन्तु राम-भक्ति वैधी भक्ति थी, जिसके लिए मर्यादा और ज्ञान का होना आवश्यक ही था, अतः रामकाव्य में ज्ञान की अवहेलना नहीं की गई है, बल्कि भक्ति के लिए उसे सर्वश्रेष्ठ साधन के रूप में स्वीकार किया गया है ।

<u>भक्ति के प्रकार</u>

आलोच्यकालीन हिन्दी के कृष्ण एवं राम कवियों ने भक्ति का विभाजन करके उसके वर्गीकरण आदि की कोई क्रमबद्ध शास्त्रीय विवेचना नहीं की है, क्योंकि वे भावुक भक्त कवि थे और भक्ति के व्यावहारिक साधक थे । भक्ति शास्त्र प्रणेता अथवा भक्ति सिद्धांत मीमांसक

नहीं थे,फलत: भक्ति के वैज्ञानिक एवं शास्त्रीय वर्गीकरण की इन्हें अपेक्षा नहीं थी,किन्तु कुछ उल्लेख यत्र-तत्र उनकी रचनाओं में मिल जाते हैं,जिनका विश्लेषण हम आगे करेंगे । जो कुछ वर्गीकरण का अन्त:सूत्र मिलता है, वह संस्कृत के भक्तिशास्त्रीय ग्रन्थों के आधार पर या उनसे प्रभावित है,अत: प्रासंगिक ढंग से उन मान्य ग्रन्थों का भी उल्लेख अभीष्ट होगा । इन ग्रन्थों में कृष्ण काव्य श्रीमद्भागवत एवं रामकाव्य आध्यात्म रामायण से विशेषतया प्रभावित है और शाण्डिल्य भक्ति-सूत्र तथा नारद-भक्ति सूत्र आदि ग्रन्थों का समान प्रभाव दोनों पर है । इन दोनों कृष्ण एवं रामधाराओं में कृष्ण-कवियों ने वर्गीकरण पर अपेक्षाकृत कम ध्यान दिया है । किन्तु रामकवि तुलसीदास भक्ति की व्याख्या और वर्गीकरण के प्रति सैद्धान्तिक दृष्टि से भी कुछ सचेष्ट दिखाई पड़ते हैं । तुलसीदास की यह भक्ति विषयक सैद्धान्तिक व्याख्या `राम लक्ष्मण संवाद` और `राम शबरी-मिलन` के प्रसंग में अधिक स्पष्ट है । जिसका विवेचन आगे करेंगे ।

प्रेमाभक्ति ही वस्तुत: भक्ति है । श्रवण-कीर्तन आदि भक्ति के साधन मात्र हैं, उनके लिए `भक्ति` शब्द का प्रयोग लाक्षणिक है । प्रस्तुत वर्गीकरण के सन्दर्भ में `भक्ति`शब्द का व्यवहार अपने अति व्यापक अर्थ में हुआ है । भक्ति ग्रन्थों में भक्ति के विभिन्न वर्गीकरण प्रस्तुत किए गए हैं । भागवतकार ने अनेक अवसरों पर भक्ति के स्वरूप,साधन,साध्य,साधक आदि की दृष्टियों से भक्ति के अनेक भेद किए हैं-- त्रिधा चतुर्धा,पंचधा,नवधा । भागवत के अनुसार मुक्ताफल के सप्तम अध्याय में भागवत के सन्दर्भोल्लेख सहित उद्धरण

लेकर भक्ति के अंगों का उन्नीस प्रकार से वर्गीकरण किया गया है ।
यह वर्गीकरण वैज्ञानिक न होने पर भी भक्ति सम्बन्धी आवश्यक बातों का उल्लेख करता है । रूपगोस्वामी ने 'हरि-भक्ति रसामृत-सिन्धु' के पूर्व विभाग की अंतिम तीन लहरियों में भक्ति के बारह भेदों का विस्तार पूर्वक निरूपण किया है । शाण्डिल्य कृत भक्ति सूत्र की टीका 'भक्ति-चन्द्रिका' में नारायण तीर्थ ने भक्ति के समस्त भेदों की चर्चा की है । आध्यात्म रामायण में भागवत की भांति नौ प्रकार की नवधा भक्ति का विवेचन आध्यात्मिक शैली में किया गया है । ऊपर उल्लिखित ग्रन्थों के भेदों का प्रभाव प्रत्यक्षतः अथवा परोक्षतः कृष्ण एवं राम-कवियों की रचनाओं में यत्र-तत्र स्फुट रूप में मिलता है । अतः पृष्ठभूमि रूप में इन भेदों का उल्लेख मात्र किया गया है ।

नवधा भक्ति

भक्ति के विभिन्न वर्गीकरणों में नौ प्रकार की नवधा भक्ति की प्रसिद्धि सर्वाधिक है । भक्ति के शास्त्रीय ग्रन्थों में अनेक प्रकार की नवधा भक्तियों का निरूपण किया गया है । इनमें अध्यात्म रामायण और भागवत की नवधा भक्ति का विशेष व आदर हुआ । इन दोनों ग्रन्थों में से आलोच्यकालीन कृष्ण कवियों ने भागवत की नवधा भक्ति का-क्रम और राम-कवि तुलसी ने आध्यात्म रामायण की नवधा भक्ति का क्रम ग्रहण किया है ।

कृष्ण काव्य

आलोच्यकालीन हिन्दी के कृष्ण कवियों ने भागवत की जिस नौ प्रकार के भक्ति का अनुसरण किया है । वह इस

प्रकार है -- श्रवण[1],कीर्तन,स्मरण,पादसेवन, अर्चन, वंदन, दास्य,सख्य तथा आत्मनिवेदन । इन नौ भक्ति में से श्रवण,कीर्तन और स्मरण भगवान के नाम से सम्बन्ध रखने वाली क्रियाएं हैं । पाद सेवन, अर्चन और वन्दन इन कार्यों का भगवान के रूप से सम्बन्ध है तथा दास्य, सख्य और आत्म-निवेदन ये भाव हैं, जिनका अर्पण भगवान को होता है । पीछे कहे तीन भावों के अतिरिक्त वात्सल्य और माधुर्य आदि भाव भी भगवान के साथ सम्बन्धित है । श्री वल्लभाचार्य जी ने नवधा भक्ति को भक्ति का साधन माना है और साध्य प्रेमा भक्ति को स्वीकार किया है तथा इस साध्य प्रेमा भक्ति को नवधा भक्ति के अतिरिक्त दसवीं 'प्रेम लक्षणा भक्ति' कहा है । यहां प्रेम लक्षणा भक्ति वल्लभ सम्प्रदाय में मुख्य है, जिससे भगवान के स्वरूपानन्द की प्राप्ति होती है । वल्लभ सम्प्रदाय के अष्टछाप के कवियों ने वल्लभ मतानुसार नवधा भक्ति को भक्ति प्राप्त करने का साधन स्वीकार किया है और भक्ति का साध्य प्रेमा भक्ति को माना है । सूरदास ने नवधा भक्ति और दसवीं प्रेम लक्षणा भक्ति का उल्लेख इस प्रकार किया है --

----

१ श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पाद सेवनम् ।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यात्मनिवेदनम् ।
इति पुंसार्पिता विष्णौ भक्तिश्चेन्नव लक्षणा ।
क्रियते भगवत्यद्धा तन्मन्ये धीतमुत्तमम् ।

-- भागवत सप्तम स्कन्ध, अध्याय ५, श्लोक २३,२४।

श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादरत, अरचन, बन्दन, दास ।
सख्य और आत्म निवेदन प्रेमलक्षणा जास ॥[1]

परमानन्ददास ने भी एक पद में इन्हीं दस प्रकार की भक्तियों का उल्लेख करके दसवीं प्रेम लक्षणा भक्ति को सर्वश्रेष्ठ बताया है और इस भक्ति की साधक गोपियों की भूरि-भूरि प्रशंसा की है[2]। नन्ददास ने भी अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ रास-- पंचाध्यायी का महत्त्व बताते हुए कहा है, " यह कृति मेरे[3] श्रवण, कीर्तन स्मरण आदि भक्ति साधनों का फलस्वरूप सार है। इस कथन में उन्होंने नवधा भक्ति को साधन रूप में स्वीकार किया है। 'रूप मंजरी' में नन्ददास ने नवधा भक्तियों को क्रियाओं के आधार पर वर्गीकृत किया है। जो क्रियाएं भगवान के नाम लीला और रूप से सम्बन्ध रखती हैं, उनको भी दो-दो मार्गों में विभाजित किया गया है। एक भक्ति का नाद मार्ग है, दूसरा रूप मार्ग। नाद के अन्तर्गत श्रवण कीर्तन और स्मरण आते हैं तथा रूप-मार्ग में पादसेवन अर्चन और बन्दन हैं। स्पष्ट है कि यह वर्गीकरण भागवत की नवधा भक्ति के विभाजन से प्रभावित होते हुए भी पर्याप्त मौलिक भी कहा जा सकता है, जिसमें नादमार्ग तथा रूपमार्ग के आधार पर समस्त भेदों को एक नवीन ढंग से विभाजित करने का सफल प्रयास, किया गया है।

----

१ सूर सारावली सूरसागर, वें०प्रे०, पृ०५ तथा पृ०६६

२ सातें नवधा भक्ति भली ।

\+ \+ \+

अविरल प्रेम भयी गोपिन को बाढ़ि परमानन्ददास ।

डा०दीनदयाल गुप्त के परमानन्ददास पद संग्रह से पद सं०३१५

३ रास पंचाध्यायी : 'नन्ददास', पृ०१८२

नन्ददास ने रूपमंजरी में जहाँ रूपमाँ की उपासना का उल्लेख किया है वहाँ उन्होंने दास्यभाव से भगवान के पाद सेवन, अर्चन, वन्दन के स्थान पर रूपासक्ति गुण और भाव को सर्व त्यागमयी और सर्व अर्पणमयी भक्ति में आने वाली अर्चना का रूप दिया है । इस प्रकार हम कह सकते हैं कि नन्ददास ने भी अन्य अष्टछाप के कवियों--सूरदास और परमानन्ददास की भांति भागवत और आचार्य वल्लभ द्वारा मान्य नवधा भक्ति को मानते हुए सर्व साधनों का फल प्रेम भक्ति प्राप्ति को माना है । सूरदास, परमानंद-दास तथा नन्ददास को छोड़कर अन्य अष्टछाप के कवियों की रचनाओं में इस प्रकार के भेद और विभाजनों का वर्णन करने वाले पद नहीं मिलते हैं, किन्तु उनकी रचनाओं से साधन-भक्ति तथा साध्य प्रेमाभक्ति का रूप अवश्य ही प्रकट हुआ है ।

रामकाव्य

राम काव्यान्तर्गत आलोच्यकालीन कवियों में केवल तुलसीदास की ही रचनाओं में भक्ति का वर्गीकरण प्राप्त होता है । यह वर्गीकरण विभिन्न दृष्टियों से किया गया है । जिससे प्रतीत होता है कि तुलसीदास की दृष्टि में तत्कालीन भक्ति शास्त्रीय ग्रन्थों एवं भक्ति सम्प्रदायों के मान्य भेद मौजूद और उन सभी मान्य भेदों को ध्यान में रखते हुए तुलसीदास ने समन्वय भावना से सभी भेदों का उल्लेख किया है और इसी कारण तत्कालीन अति प्रसिद्ध भक्ति का नवधा भेद भी उनसे नहीं छूटा है । इस नवधा भक्ति की चर्चा उन्होंने रामचरित मानस में की है[1] । किन्तु जब तुलसीदास नौ प्रकार की भक्तियों का

[1] रा०च०मा०, अरण्य का०, ३०।४

वर्णन करते हैं तब उनकी सूची भागवत की सूची से भिन्न हो जाती है, क्योंकि इस विषय में उन्होंने अध्यात्म रामायण का अनुसरण किया है । अध्यात्म रामायण में राम के मुख से शबरी के प्रति नवधा भक्ति का उपदेश कराया गया है[1] । रामचरितमानस के राम ने भी इसी प्रकार की नवधा भक्ति का उपदेश देते हुए शबरी से कहते हैं--" मैं तुमसे अपनी नवधा भक्ति कहता हूं, तू सावधान होकर सुन और मन में धारण कर । प्रथम है संतों का सत्संग, दूसरी है, मेरे कथा प्रसंग में प्रेम, तीसरी है, अभिमान रहित गुरु चरणों की सेवा, चौथी है, कपट रहित गुणों का गान, पांचवी है मेरे मंत्रों का जाप और मुझमें अटल विश्वास । छठीं है इन्द्रियों का निग्रह, शीलता, व वैराग्य और धर्मरति, सातवीं है सम्पूर्ण जगत को मुझमें समभाव से ओतप्रोत देखना आठवीं स्वप्न में भी पराए दोषों को न देखना और नवीं है सरलतापूर्वक सब के साथ छल रहित बर्ताव करना, हृदय में मेरा भरोसा रखना और किसी भी अवस्था में हर्ष और दैन्य का न होना[2] । यही एक नवधा भक्ति है जिसका व्यवस्थित क्रम से

---

१ अ०रा० ३ अरण्य का० १०।२२-३१

२ नवधा भगति कहौं तोहि पाहीं । सावधान सुनु धरु मन माहीं ॥
प्रथम भगति संतन्ह कर संगा । दूसरि रति मम कथा प्रसंगा ॥
गुरु पद पंकज सेवा तीसरि भगति अमान ।
चौथी भगति मम गुन गन करइ कपट तजि गान ॥
मंत्र जाप मम दृढ़ बिस्वासा । पंचम भजनु सो बेद प्रकासा ॥
छठ दम सील बिरति बहु कर्मा । निरत निरंतर सज्जन धर्मा ॥
सातव सम मोहि मय जग देखा । मो ते संत अधिक करि लेखा ॥
आठव जथा लाभ संतोषा । सपनेहु नहिं देखइ पर दोषा ॥
नवम सरल सब सन छल हीना । मम भरोस हियँ हरष न दीना ॥
नवमहुँ एको जिन्ह के होई । नारि पुरुष सचराचर कोई ॥
सोइ अतिसय प्रिय भामिनि मोरें । सकल प्रकार भगति दृढ़ तोरें ॥

— रा०च०मा०, अरण्य का०, ३५।४, ३६।४

प्रतिपादन तुलसीदास ने किया है । उनकी दृष्टि में भक्ति विधाओं या साधनों के इस वर्ग का विशेष महत्वपूर्ण स्थान है । यह बात ध्यान आकृष्ट किए बिना नहीं रहती कि तुलसी ने भागवत प्रतिपादित भक्ति की श्रवण आदि नव विधाओं का उस प्रकार व्यवस्थित उपस्थापन नहीं किया, जिस प्रकार भागवतकार या उनके अनुवर्ती आचार्यों ने किया है । एक स्थान पर उन्होंने भगवान राम के मुख से लक्ष्मण के प्रति श्रवणादिक नव भांति कहलाकर उसकी अभिव्यंजना की है । तथा अन्य स्थलों पर विभिन्न सन्दर्भों में प्रकारान्तर से श्रवण-कीर्तन आदि नव प्रकारों की श्रेष्ठता, साधनता आदि का अभिधा या व्यंजना द्वारा कथन किया है ।

डा० बद्रीनारायण श्रीवास्तव ने रामचरितमानस के ऊपर वर्णित 'शबरी भक्ति योग' में प्रतिपादित नवधा भक्ति को तुलसीदास की मौलिक कल्पना माना है । भागवत प्रतिपादित नवधा भक्ति का उल्लेख करते हुए उन्होंने कहा है— 'वस्तुत: इस नवधा भक्ति का प्रचार मध्ययुग में उत्तरभारत के सभी भक्ति सम्प्रदायों में सामान्य-रूप से हो गया था और तुलसीदास का इससे प्रभावित होना नितांत ही स्वाभाविक था । यह अवश्य है कि तुलसीदास ने उपर्युक्त नवधा भक्ति की चर्चा करने के साथ ही अपने ढंग पर भी नव नये विभाग किए हैं उनके राम ने शबरी से इस नवधा भक्ति की चर्चा की है[१] । ऊपर विश्लेषित तथ्यों के प्रकाश में निष्कर्ष रूप में यही कहा जा सकता है कि तुलसीदास का मानस में प्रतिपादित 'शबरी-भक्तियोग' भले भागवत की नवधा भक्ति से अप्रत्यक्षरूप से प्रभावित रहा हो किन्तु प्रत्यक्षत: वह आध्यात्मिक रामायण की नवधा भक्ति का रूप ही है । उसके कुछ

---

१ 'रामानन्द सम्प्रदाय तथा हिन्दी साहित्य पर उसका प्रभाव' पृ०४०५-६
— डा० बद्रीनारायण श्रीवास्तव

भावयुक्त या भावयांश तक अध्यात्म रामायण के अनुवाद मात्र हैं और भक्ति का क्रम तथा भक्ति के वक्ता श्रोता भी उभयनिष्ठ हैं। दोनों में इतना पर्याप्त साम्य होते हुए भी तुलसी के भक्ति निरूपण में मौलिकता का भी पर्याप्त अंश है, जिसका विवेचन हम भक्ति के साधन प्रकरण में अध्यात्म रामायण की नवधा भक्ति और तुलसी के शबरी भक्तियोग की नवधा भक्ति के साम्य और वैषम्य के अन्तर्गत देखेंगे।

साधक भेद से भक्ति के प्रकार

श्रीमद्भागवत में साधक के स्वभावानुसार भक्ति चार प्रकार[1] की कही गई है-- निर्गुणा, सात्विकी, राजसी और तामसी। प्रथम निर्गुणा भक्ति निष्काम है, शेष तीनों भक्ति सकाम हैं। तीनों गुणों से ऊपर उठे हुए साधक की सर्वान्तर्यामी पुरुषोत्तम में लगी हुई अहैतुकी एवं गंगा प्रवाह की भांति अविच्छिन्न चित्त वृत्ति निर्गुण भक्ति है। यह साध्य रूपा निष्काम भक्ति है। पाप-प्रक्षालन के लिए अथवा कर्तव्य बुद्धि से की गई भेद-भाव युक्त भक्ति सात्विकी है। हर्ष अथवा सत्वगुण की प्रधानता के कारण इसको सात्विकी कहते हैं। भोग-लोलुप यशोभिलाषी ऐश्वर्यार्थी नित्य सकाम हृदय साधक के द्वारा भेद बुद्धि से की गई भक्ति राजसी है। क्रोधी, मत्सरी, हिंसक और दम्भी द्वारा पर पीड़न के लिए की गई भक्ति तामसी है[2]। भागवत के इस वर्गीकरण को वल्लभ सम्प्रदाय में भी स्वीकार किया गया है।

---

१ भागवत, तृतीय स्कंध, २९, अध्याय श्लोक ७-१०

२ ,, ,, ,, ,, ११-१२

कृष्ण काव्य

भागवत के उक्त वर्गीकरण का कृष्ण-कवियों ने पूर्णत: अनुकरण किया है। वल्लभ सम्प्रदाय के कवि सूरदास ने भागवत को आधार मानकर इन चार प्रकार की भक्ति का विवरण अपनी रचनाओं में किया है। ये चारों भक्ति भागवत के ही अनुकरण पर तामसी, राजसी, सात्विकी तथा निर्गुण हैं। प्रथम तीन प्रकार की भक्ति काम्य हैं और चौथी निर्गुण भक्ति निष्काम है। सूरदास ने इस चौथी भक्ति को 'सुधा-सार' भक्ति भी कहा है और उक्त चारों भक्ति का श्रीमद्भागवत सम्मत विवेचन करते हुए वर्णन किया है-- सात्विकी भक्त मुक्ति चाहता है, राजसी व्यक्ति धन और कुटुम्ब चाहता है, तामसी भक्त पर-अपकार 'मेरा बैरी मर जाय' इस भाव से चाहता है। परन्तु सुधा भक्ति का करने वाला भक्त मुक्ति को भी नहीं चाहता है। यह अनन्य भक्त कुछ नहीं मांगता है। इसका न कोई शत्रु होता है न कोई मित्र। इसको संसार की माया का संताप नहीं होता है। यह केवल ईश्वर के दर्शनमात्र से ही परम सुख का अनुभव करता है[1]। इसप्रकार सूरदास

१ भाखामक्ति चार परकार, सत रज,तम गुण ,सुधा सार ।
भक्ति सात्विकी चाहति मुक्ति, रजोगुणी धन कुटुम्ब अनुरक्ति ।
तमो गुणी चाहै या भाई मम बैरी क्यों हो मर जाई ।
सुधा भक्ति मोहि को चाहै, मुक्तिहु को नहिं अवगाहै ।
मन क्रम वच मम सेवा करै, मनते सब आशा परिहरै ।
ऐसो भक्त सदा मोहि प्यारो, इक छिन जाते रहौं न न्यारो ।
त्रिविधि भक्त मेरे हैं जोई, जो मांगे तिहि देहुं मैं सोई ।
भक्त अनन्य कछु नहिं मांगे, ताते मोंहि सकुच अति लागे ।
ऐसो भक्त जानि है जोई, जाके शत्रु मित्र नहिं कोई ।
हरि माया सब जग सन्तापै, ताको माया मोह न व्यापै ।

--सूरसागर, तृतीय स्कन्ध, सं०प्र०, पृ०४२

ने भागवत के विभाजन का पूर्ण अनुसरण करते हुए भक्तों के भी दो भेद कर दिए हैं । एक सकाम भक्त, दूसरा निष्काम भक्त ।

भक्ति को साधन रूप से कर्म, ज्ञान और योग के साथ भी आध्यात्मिक साधकों ने जोड़ा है । भक्ति के साथ कर्म और ज्ञान का योग करते हुए सूर ने तीन तरह के भक्त और कहे हैं--कर्मयोगी भक्त, भक्तियोगी भक्त तथा ज्ञानयोगी भक्त । सूरदास का कथन है--कर्मयोगी भक्त वर्ण और आश्रम की मर्यादा का पालन करते हुए भगवद्-भक्ति करता है । वह अधर्म कभी नहीं करता और इस आचरण से वह संसार से निस्तार पा जाता है । वे भक्त भक्तियोगी हैं, जो विधिपूर्वक भगवान का स्मरण उनकी पूजा कर तथा उनके चरण कमलों में सदा प्रीति करते हैं । ये भक्ति योगी भक्त क्रम-क्रम करते मुक्ति का लाभ करते हैं तथा क्रम-क्रम से ही ईश्वर के चरणों में सायुज्य लाभ करते हैं[१] ।

---

१ भक्त सकामी हूं जो होई, क्रम-क्रम करिकै उधरै सोई ।
शनै शनै विधि पावै सोई कबहु हरि पदहिं समाई ।
निष्काम बैकुण्ठ सिधावै, जन्म-मरन तिहि बहुरि न आवै ।
त्रिविधि भक्ति अब कहौं सुनु सोई, जाते हरिपद प्रापति होई ।
एक कर्मयोग को करै वर्णाश्रम धरि निस्तरै ।
अरु अधर्म कबहुं नहिं करैं ते नर याही विधि निस्तरैं ।
एक भक्तियोग को करैं, हरि सुमिरन पूजा विस्तरैं ।
हरि पद पंकज प्रीति लगावै, क्रम-क्रम करि हरि पदहि समावै ।
एक ज्ञान योग विस्तरै, कृष्ण जानि सब सौं हित करै ।
-- सूरसागर, तृतीय स्कन्ध, वे०प्रे०, पृ०७४

क्रममुक्ति विधिपूर्वक ज्ञान के साधकों को अथवा ज्ञान भक्ति के उपासकों को भी मिलती है, किन्तु सद्योमुक्ति भगवान की कृपा से पुष्टि भक्तों को ही मिलती है । ऊपर सूर ने इसी क्रम मुक्ति का संकेत किया है । तीसरे भक्त ज्ञानी हैं, जो सम्पूर्ण जगत को कृष्ण जान-कर सबके हित करते हैं ।

रामकाव्य

रामकाव्यान्तर्गत तुलसीदास की रचनाओं में उपर्युक्त चारों प्रकार की भक्ति के उदाहरण मिल जाते हैं, किन्तु तुलसी की किसी भी रचना में कहीं भी सूर की तरह स्पष्ट निर्गुणा, सात्विक, राजसी और तामसी इस प्रकार का चारों विभाजन एक ही स्थल पर सोद्देश्य स्पष्ट नहीं मिलता है । यह अवश्य है कि इन चारों प्रकार की भक्तिय के साधक भक्तों के उदाहरण अवश्य ही स्फुट रूप में तुलसी की रचनाओं में जगह-जगह मिल जाते हैं । तुलसी साहित्य में भरत और हनुमान जैसे भक्तों का निष्काम भक्ति निर्गुणा अथवा सूर की `सुधासार` भक्ति का ज्वलन्त उदाहरण है । क्योंकि ये दोनों भक्त भगवान राम की सेवा बिना किसी फल की कामना से केवल उनकी भक्ति अथवा सेवा के लिए ही करते हैं । उनके सामने मुक्ति तुच्छ है, सांसारिक यश आदि की इन्हें किंचित्मात्र भी इच्छा नहीं है । केवल आराध्य भगवान राम जिस साधन से सन्तुष्ट और प्रसन्न रहे वही साधन इन भक्तों को अभीष्ट है और भगवान राम की प्रसन्नता या भक्ति ही इनका परम काम्य है । अतः ये दोनों भक्त भरत और हनुमान बड़ी सरलता से बिना तर्क-वितर्क के निर्गुण भक्ति की श्रेणी में रखे जा सकते हैं । ऐसे भक्तों को भगवान राम अंततुकी कृपासे उदार इसी भक्ति दे देते हैं अथवा भक्ति वारियांई ऐसे भक्तों के साथ उनके बिना

चाहे भी उनके पास आ जाती है :--

सगुनोपासक मोच्छ न लेहीं । तिन कहं राम भगति निज देहीं[1] ।

राम भगति सोइ मुकुति गुसाईं । अनइच्छित आवइ बरियाईं[2] ।।

दूसरी भक्ति सात्त्विक है,जिसके उदाहरण मानस में भरे पड़े हैं । सुतीक्ष्ण का अविरल भक्ति[3], इसी प्रकार शरभंग,लोमश,भरद्वाज,याज्ञवल्क्य,कागभुशुण्डि तथा गरुड़ अन्यान्य ऋषियों की भक्ति सात्त्विक भक्ति का अनुपम आदर्श है । ये ऋषिगण भगवान की भक्ति शुद्धिसम्पन्न साधनों से करते हैं और सांसारिक विषयों की कामना न रखते हुए कर्त्तव्य बुद्धि से भगवान की सात्त्विक भक्ति का ही भरोसा रखते हैं । ये भक्तगण भक्ति और मुक्ति को पर्याय समझते हैं । भक्त की दृष्टि से भक्ति का तीसरा विभाजन राजसी भक्ति का है, जिसमें भक्त भगवान की सेवा,धन,राज्य,ऐश्वर्य पुत्रादि सांसारिक वैभव की प्राप्त करने की कामना से करता है,चूंकि इस भक्ति में भक्त का ध्यान भगवान की प्राप्ति की कामना न होकर सांसारिक सुख का वैभव प्राप्त करना होता है । इस प्रकार सांसारिक वैभव साध्य और भगवान की अनुरक्त भक्ति उसके प्राप्ति का साधन हुआ । इसीलिए यह भक्ति निम्न कोटि का मानी जाती है । रामचरितमानस में सुग्रीव की भक्ति इसी श्रेणी की भक्ति कही जा सकती है,क्योंकि सुग्रीव ने भगवान राम की भक्ति अपना राज्य और अपनी स्त्री प्राप्त करने के लिए किया और भगवान राम उसकी भक्ति से प्रसन्न होकर उसको मनोवांछित फल दिए ।

इस वर्गीकरण का चौथा और अन्तिम भेद तामसी भक्ति का है । यह भक्ति का दुरुपयोग परपीड़न,नरसंहार,[illegible],

---

१रामचरितमानस, सुन्दर० १३८।४

२ रा०च०मा०, उत्तर० ७।२०३।२

३ रा०च०मा०, अरण्य० ३।१५।१३

नरसंहार जैसे हिंसक बर्बर कार्यों के लिए किया जाता है । इस भक्ति का साधक भक्त दम्भी, क्रोधी दुष्ट होता है और उसके भक्ति के साधन भी अमर्यादित, अमानवीय एवं हिंसात्मक होते हैं । वास्तव में यह भक्ति नहीं कही जा सकती है, क्योंकि इस भक्ति का प्रयोजन जीव-कल्याण, मानव-कल्याण एवं आत्म कल्याण है, किन्तु व्याख्याकारों ने भक्ति को व्यापकता प्रदान करने के लिए समस्त अच्छे बुरे भावों को भक्ति के अन्तर्गत समाविष्ट कर लिया है और इस प्रकार बुरी भावना एवं दुष्ट भावना से की गई भगवान की सेवा भी भक्ति के अन्तर्गत मान ली गई है और भगवान को समदर्शी सिद्ध करने के लिए ऐसे दुष्ट भक्त का भी उद्धारक सिद्ध किया गया है । रामचरित मानस में रावण की शिव-भक्ति, तामसी भक्ति कही जा सकती है, क्योंकि रावण ने देवताओं को कष्ट पहुंचाने, ऋषियों को दण्ड देने एवं नरसंहार करने के लिए शंकर जी की तन्मयता से सेवा की थी । शिव की इस सेवा के लिए उसने अपना सर काटकर हिंसात्मक साधनों का प्रयोग किया था, जिसके फलस्वरूप उसे मनोवांछित शक्ति प्राप्त हो गई थी और नरसंहार करके उसने समस्त भूमण्डल पर अपना आतंक फैला दिया था ।

उपर्युक्त तथ्यों के प्रकाश में हम निष्कर्ष रूप में यही कह सकते हैं कि साधकों की स्वाभाविक वृत्तियों के आधार पर भागवतकार ने निर्गुण (शुद्धा या साध्या) सतोगुणी, रजोगुणी तथा तमोगुणी जिन चार भक्ति का विभाजन किया उसका पूर्ण अनुसरण कृष्ण भक्ति सम्प्रदायों ने किया और इन सम्प्रदायों के फलस्वरूप तत्सम्बन्धित आलोच्यकालीन हिन्दी के कृष्ण भक्त कवियों पर भी उनका अक्षरशः प्रभाव पड़ा । अतः सूर आदि कृष्ण कवियों ने सोद्देश्य

भागवत की भांति उनके चार स्पष्ट भेद करके उनका विवेचन भी किया किन्तु राम कवि तुलसीदास सम्प्रदाय निरपेक्ष समन्वयकारी भक्त कवि थे । उनकी रचनाओं में किसी भी सम्प्रदाय का अनुकरण या अनुसरण नहीं है, बल्कि सभी सम्प्रदायों में मान्य तत्वों का सार उनकी रचनाओं में अपनी मौलिकता लिए हुए प्रकट होता है । यह बात अवश्य है कि भागवत की भक्ति का प्रभाव मध्य युग में उत्तरभारत की समस्त भक्ति साधनों एवं भक्ति सम्प्रदायों पर था और तुलसीदास भी भागवत की भक्ति से अप्रभावित नहीं थे, अत: भागवत की इस भक्ति-विभाजन के उदाहरण न चाहते हुए भी तुलसीदास की रचनाओं में यत्र तत्र प्रसंगवश आ ही गए, किन्तु उन्होंने उस प्रकार सोद्देश्य विभाजन और विवेचन नहीं किया, जिस प्रकार कृष्ण भक्त कवि सूर आदि ने किया ।

साध्य और साधनकी दृष्टि से भक्ति-भेद

भक्त के साध्य और साधन की दृष्टि से भक्ति के दो प्रकार हैं-- साध्य रूपा और साधन रूपा । दोनों क्रमश: मुख्या और गौणी कहलाती है । भक्त का एकमात्र साध्य या प्राप्य होने के कारण ही इसे साध्य रूपा या मुख्या कहा गया है । इसी को नारद ने `भगवत्परम् प्रेम रूपा`, शांडिल्य ने ईश्वर `परानुरक्ति` और वल्लभाचार्य ने `प्रेम रूपा भक्ति` कहा है । भक्त के लिए सबसे उच्च वस्तु होने के कारण यह परा भक्ति दो प्रकार की मानी गई है-- साधन जन्या और कृपा जन्या । जब भक्ति की सिद्धि विहित या अविहित साधनों के द्वारा होती है, तब यह साधनजन्या कहलाती है, जब बिना किसी स्पष्ट साधन के केवल भगवान की कृपा से परम भक्ति की प्राप्ति होती है, तब इसे कृपा जन्या कहते हैं ।

साध्य साधन दृष्टि से भक्ति का दूसरा भेद साधन रूपा भक्ति है। इसमें 'भक्ति' शब्द का प्रयोग लाक्षणिक है, क्योंकि साध्या भक्ति के साधनों को ही साधन रूपा भक्ति कह दिया जाता है। वस्तुत: यह भक्ति नहीं है बल्कि प्राप्त करने के साधनमात्र हैं। शास्त्रीय दृष्टि से यह गौणी अथवा साधन रूपा भक्ति दो प्रकार की है-- वैधी (विहिता) और रागानुगा (अविहिता)। भगवान के प्रति परम भक्ति भाव की प्राप्ति के पूर्व शास्त्र के शासनानुसार जो प्रवृत्ति होती है, वह वैधी या विहिता भक्ति है। इसी को मर्यादा मार्ग भी कहा जाता है। इस भक्ति का अधिकारी वह श्रद्धावान साधक है जो न अतिविरक्त है और न अति आसक्त। इस वैधी भक्ति के अन्तर्गत भागवत या अध्यात्मरामायण की नवधा भक्ति है, जिसका संक्षेप विवेचन पहले हो चुका है और इसका विस्तार से विवेचन भक्ति के साधन प्रकरण में किया जायगा। दूसरी साधन रूपा भक्ति रागानुगा या अविहिता है। इष्ट विषयक स्वाभाविक प्रेममयी तृष्णा को राग कहते हैं। इस राग के द्वारा निष्पन्न परमप्रेम रूपा भक्ति का साधनभूत यह राग ही रागानुगा भक्ति है। यह भक्ति दो प्रकार की होती है-- काम रूपा तथा सम्बन्ध रूपा। काम (दाम्पत्यरति) से प्रेरित भक्ति काम रूपा है। गोपियों की भक्ति इसी प्रकार की है। अन्य प्रकार के रागात्मक सम्बन्धों से अनुप्राणित भक्ति सम्बन्ध रूपा है जैसे दास, सखा, माता-पिता, पुत्र पति, आदि के सम्बन्ध में जो काम रहित प्रेम है वह सम्बन्ध स्वरूपा रागात्मिका भक्ति के है।

कृष्णकाव्य

आलोच्यकालीन कृष्ण-कवियों की रचनाओं में भक्ति शास्त्रीय ग्रन्थों की भाँति परा या मुख्या, गौणी या साधन भक्ति अथवा वैधी और रागानुगा इन प्रकार के भेदों उपभेदों का वर्गीकरण नहीं मिलता है। उपर्युक्त प्रकार की भक्ति के उदाहरण अवश्य ही इनकी रचनाओं में सर्वत्र मिलते हैं, केवल भक्ति का वर्गीकरण[1] नवधा या दशधा[2] के रूप में अवश्य ही मिलता है। वल्लभ सम्प्रदाय में साध्य भक्ति या पराभक्ति तथा साधन भक्ति के दोनों प्रकारों-- वैधी तथा रागानुगा को स्वीकार किया गया है। वल्लभ सिद्धान्तानुयायी अष्टछापी भक्त-कवियों में भी वैधी रागानुगा तथा पराभक्ति का विवेचन मिलता है। भाव भक्ति द्वारा पराभक्ति या निष्काम प्रेम भक्ति को प्राप्त करना कृष्ण भक्तों का ध्येय है। इन कवियों के अनुसार पराभक्ति अहैतुकी है। उसमें भक्त को भगवान के प्रेम के अतिरिक्त कोई अन्य काम्य पदार्थ-- धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष नहीं चाहिए। वल्लभ सिद्धांतानुसार सूरदास का विचार है कि प्रभु अनुग्रह के सहारे प्रेम भक्ति अथवा पराभक्ति की अवस्था प्राप्त करने के बाद फिर भक्त को किसी साधन नियम तथा मोक्षादि की आवश्यकता नहीं होती है। इसीलिए इस भक्ति को प्रेम लक्षणाभक्ति, अनुग्रह या पुष्टि भक्ति अथवा निस्साधन भक्ति कहा गया है। प्रेम भक्ति की भाव समाधि में भगवान के नाम और लीला द्वारा जिस परम आनन्द का तथा ईश्वर की रूप-सुधा के

---

१ सूर सारावली सूरसागर, वें०प्रे०, पृ०५

२ तातें दसधा भक्ति भली।

\+ \+ \+

अविरल प्रेम भयौ गोपिन को बाढि परमानन्ददास।

आस्वादन का अनुभव प्राप्त करता है उसी को कृष्ण-भक्तों ने `भजनानन्द` कहा है । कृष्ण कवियों के अनुसार साधन अथवा रागानुगा भक्ति की सिद्ध अवस्था में आकर भक्त प्रेमोन्मत्त होकर विधि-निषेध को भूल जाता है और प्रेम भक्ति की तन्मयता में उसके सब पाप कर्म भस्म हो जाते हैं । अष्टछाप भक्तों ने इस प्रेम भक्ति की बहुत महिमा गाई है । इस प्रेम का दर्शन उनके अनेक पदों में होता है । सूरदास जी का दृढ़ विश्वास है कि बिना प्रभु अनुग्रह के ईश्वर की प्रेम भक्ति नहीं मिलती है । `मन-प्रबोध` के प्रसंग में प्रथम स्कन्द सूरसागर में उन्होंने प्रेम की महिमा अनेक दृष्टांत देकर कही है और भी सूरसागर के अन्य स्कन्धों में भी प्रेमाभक्ति का महत्त्व निरूपित किया गया है ।

सूर की तरह परमानन्द दास भी प्रेम लक्षणा भक्ति की महत्ता बताते हुए उसको करने तथा उसी भगवान कृष्ण का सामीप्य लाभ प्राप्त करने का भाव कई पदों में प्रकट किया है ।[1] परमानन्द-दासके प्रगाढ़ प्रेम भक्ति का रूप उनके `परमानन्द-सागर` में मिलता है । सूरदास तथा परमानन्ददासके भांति नन्ददास भी प्रेम-भक्ति को संसार की सभी वस्तुओं ~~एवं सभी वस्तुओं~~ एवं सभी प्रकार की भक्ति में सर्वश्रेष्ठ बताते हैं । उनका विचार है कि इस जगत में स्वभाव एवं वस्तुएं तुलित हैं, परन्तु प्रेम भाव अतुलित है भगवान प्रेम के ही वश में होते हैं ।[2] नंददास

---

१ प्रीति तौ कमल नयन सौ कीजै ।

\+ \+ \+

डा० दीनदयाल गुप्त के परमानन्ददास पद संग्रह से पद नं० २७६

२ ज्ञान तुलित विज्ञान प्रति तुलित तुलित कमनेय ।

सबै वस्तु जग में तुलित, अतुलित एकै प्रेम ।।

— `दशम स्कन्ध` — नन्ददास, २६ वां अध्याय, पृ० ३२६ ।

के विचार से भी भगवान के नाम और लीला के गुणगान की साधन भक्ति से प्रेमाभक्ति मिलती है, जिसके मिलते ही स्वयं भगवान मिल जाते हैं। अन्य अष्टछाप के कवियों ने भी इसी प्रेमाभक्ति को भक्त का परम-काम्य और परम साध्य मानकर अनेक पदों की रचना की है, जिनका ध प्रमाण देने से अनावश्यक विस्तार होगा । निम्बार्क सम्प्रदाय के कवि हरिव्यास ने वैधा भक्ति के इस विशिष्ट प्रकार को परा भक्ति कहा है और राधा को पराभक्ति प्रदायिनी माना है । इस पराभक्ति की उपलब्धि के लिए हरिव्यास देव द्वादश लक्षण तथा दस पैड़ीका विधान किया है । द्वादश लक्षणों में तो सामान्य नैतिक बातों का ही समावेश किया गया है, किन्तु दस पैड़ी में भक्ति के विकास का अनुक्रम निर्धारित करने का प्रयास किया गया है, जो बहुत कुछ अस्पष्ट है[1] ।

वैधी भक्ति के अन्तर्गत कृष्ण काव्य में भागवत की नवधा भक्ति का महत्वपूर्ण स्थान है । वल्लभाचार्य ने इस नवधा भक्ति को भक्ति प्राप्ति का साधन माना और उससे प्राप्त होने वाली दशधा प्रेम लक्षणा भक्ति को साध्य । समस्त आलोच्यकालीन कृष्ण कवियों की रचनाओं में यह वैधी नवधा भक्ति साधन के ही रूप में स्वीकृत है ।

इस साधन स्वरूपा वैधा नवधा भक्ति से प्राप्त होने वाली भक्ति को सूर, परमानन्द आदि ने वल्लभाचार्य के अनुसरण पर दशधा प्रेम लक्षणा भक्ति कहा है । जिसका विवेचन पहले हो चुका है । वैधी साधन भक्ति में वल्लभाचार्य एवं गोस्वामी विट्ठलनाथ जी के

---

१ निम्बार्क माधुरी, सं० वियोगी हरि, पृ०३५

आदेशानुसार अष्टछाप के कवियों ने पूजा, अर्चा सेव्य स्वरूप (मूर्ति) का ध्यान, नाम-स्मरण आदि तथा आठ प्रहर की स्वरूप-सेवा विधि को स्थान दिया है । यह स्पष्ट है कि यह सेवा विधि भागवत के नवधा भक्ति के आधार पर ही है और इस नवधा भक्ति को अष्टछाप के कवियों के अतिरिक्त अन्य कृष्ण सम्प्रदाय के कवियों ने भी स्वीकार किया, किन्तु उन लोगों ने भी इस नवधा भक्ति को भक्ति प्राप्ति का साधन ही माना । फलत: यह भक्ति का साध्य न होकर साधन स्वरूपा होने के कारण हीन प्रकार की भक्ति के रूप में कृष्ण सम्प्रदायों में प्रतिष्ठित हुई और इस भक्ति के साधक ज्ञानी एवं वेदशास्त्रज्ञ लोगों की कृष्ण साहित्य में खिल्ली उड़ाई गई और उनकी तुलना में रागानुगा अथवा प्रेम लक्षणा भक्ति की साधिका गोपियों का महत्व स्थापित किया गया । इसप्रकार की वैधी भक्ति के ऊपर रागानुगा भक्ति को विजय दिखाने के लिए ही भ्रमरगीत की कृष्ण साहित्य में अवतारणा की गई, जिसका कृष्ण साहित्य में सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान हो गया और आलोच्यकालीन अधिकांश कृष्ण कवियों ने इस भ्रमरगीत साहित्य की सर्जना बड़ी रुचि एवं तन्मयता से की ।

रागानुगा भक्ति

गौणी भक्ति के दो भेदों-- वैधी और रागानुगा में वैधी का विवेचन ऊपर हो चुका है । अब हम रागानुगा भक्ति का स्वरूप कृष्ण काव्यान्तर्गत देखेंगे । रागानुगा भक्ति के वेदशास्त्रोक्त विधि-विधानों की अवहेलना करके केवल भगवान के शुद्ध प्रेम पर आधारित

होता है । वल्लभाचार्य ने सम्भवत: इसी रागानुगा भक्ति को दलपा प्रेम लक्षणा भक्ति कहा है । यह रागानुगा भक्ति, भक्ति प्राप्ति का साधन भी है और अपनी चरम अवस्था में साध्य होकर प्रेम लक्षणाभक्ति की संज्ञा प्राप्त करती है, जैसा कि हम कृष्ण कथान्तर्गत परा या प्रेम लक्षणा भक्ति के अन्तर्गत देख चुके हैं । सभी कृष्ण कवियों ने एक स्वर से इस रागानुगा भक्ति को सर्वश्रेष्ठ कहा है और इस भक्ति के दो भेदों कामरूपा और सम्बन्ध रूपा में काम रूपा की चरम अवस्था को जब कि पूर्ण गोपी भाव या राधाभाव भक्त को प्राप्त हो जाता है तब यह साध्या भक्ति हो जाती है । अष्टछाप के कवियों की रचनाओं में यह रागानुगा भक्ति प्रेम के विविध संबंधों के रूप में प्रकट हुई है, परन्तु इन सब सम्बन्धों में उनकी मानसिक वृत्ति मधुर पैम की भक्ति में अधिक रमी है और मधुर प्रेम की जितनी अवस्थाएं होती हैं,उन सब का स्पष्टीकरण उन्होंने किया है । समस्त कृष्ण-भक्तों का वास्तव में चरम लक्ष्य भी यही है कि गोपी भाव से वह भगवान के सहवास में अखण्ड आनन्द लाभ करें । अष्टछाप के कवि भी इसके अपवाद नहीं हैं । अष्टछाप के कवियों ने वियोग और संयोग की अवस्थाओं में जो भी प्रेमानुभूति की है वह प्राय: स्वकीया भाव की है । परकीया भाव का चित्रण बहुत ही कम है । इन भक्तों की रचनाओं में व्यक्त राधा और गोपियों के प्रेम के भीतर इन्हीं भक्तों की अन्तरात्मा छिपी है । कृष्ण के संयोग में जब गोपी आनन्दमग्न होती है तब उनका हृदय इष्ट के संयोग सुख में गोते लगाता है और जब वे कृष्ण वियोग में छटपटाती हैं तब भी इन्हीं का मन प्रिय मिलन को व्याकुल होता है । इन अष्टछाप कवियों की रचनाओं में

राधाकृष्ण अथवा गोपीकृष्ण की जो मधुर भक्ति मिलती है, वह निम्बार्क चैतन्य तथा राधावल्लभीय सम्प्रदायों का प्रभाव कहा जा सकता है, चाहे यह प्रभाव प्रत्यक्ष रूप से इन सम्प्रदायों के द्वारा सीधे-सीधे इन अष्टछाप के कवियों पर पड़ा हो, क्योंकि उक्त सम्प्रदायों की गद्दियां भी ब्रज में थीं। जिनमें इन सम्प्रदायों में दीक्षित भक्त और कवि रहते थे। तथा इनका सत्संग इन वल्लभ सम्प्रदाय के कवियों से होता था अथवा परोक्ष रूप से वल्लभ सम्प्रदाय के ही द्वारा इन अष्टछाप के कवियों पर प्रभाव पड़ा हो, क्योंकि वल्लभाचार्य जी के जीवन के अंतिम भाग में तथा श्री विट्ठलनाथ जी के आचार्यत्व काल में ही वल्लभ सम्प्रदाय में मधुर भक्ति का प्रवेश उक्त सम्प्रदायों की प्रेरणा से हो गया था। इस प्रकार संक्षेप में वल्लभ सम्प्रदाय भी जो भगवान के बाल स्वरूप का उपासक था, अन्य सम्प्रदायों के प्रभाव से मधुर भक्ति का उपासक हो गया।

वल्लभ सम्प्रदाय के अतिरिक्त अन्य कृष्णोपासक सम्प्रदायों माध्व, निम्बार्क, चैतन्य एवं राधा वल्लभीय तथा हरिदासी आदि में तो राधाकृष्ण की मधुर भक्ति को ही एकमात्र भक्ति का साध्य माना गया तथा सखी भाव से राधाकृष्ण की निकुंज सेवा की साधना का विधान किया गया। राधा वल्लभीय सम्प्रदाय तो राधा को कृष्ण से भी श्रेष्ठ किया और कृष्ण भक्ति की प्राप्ति कृष्ण के अनुग्रह से न करके राधा भाव को मधुर भक्ति ~~से उपासक~~ माना है। इनका अधिक विश्लेषण करना अभीष्ट विस्तार होगा।

राम काव्य

कृष्ण कवियों की तरह राम कवियों ने भी भक्ति का विभाजन सैद्धान्तिक रूप से परा, वैधी और रागानुगा के ढंग पर नहीं किया है । केवल इस प्रकार की भक्तियों के उल्लेख या उदाहरण मात्र उनकी रचनाओं में मिल जाते हैं । राम काव्यान्तर्गत तुलसीदास की रचनाओं में सभी प्रकार की भक्ति मिलती हैं, किन्तु प्रधानता वैधी भक्ति की है और कृपादास, नाभादास आदि की रचनाओं में रागानुगा भक्ति की काम रूपा भेद की मधुर भक्ति का वर्णन होता है । तुलसीदास की रचनाओं में पराभक्ति या साध्याभक्ति का उदाहरण पग-पग पर मिलता है । वास्तव में तुलसीदास ने जिस भक्ति का विवेचन किया है या उदाहरण प्रस्तुत किया है, वह परा या साध्या भक्ति ही है । उनकी भक्ति गौणी या साधन भक्ति नहीं है । जो साधन भक्ति वैधी के रूप में भी प्रकट है । उसका भी विवेचन तुलसीदास ने इस प्रकार किया है कि वह स्वयं में साध्य बन गई है, साधन रूप में नहीं रह गई है । फिर भी 'रामचरनरति' अथवा 'राम-पद-अनुराग' उनकी सर्वश्रेष्ठ भक्ति है, जिसको केवल परा भक्ति ही कहा जा सकता है । यह किसी भी प्रकार साधन भक्ति की श्रेणी में नहीं रखी जा सकती है । शास्त्रीय शब्दावली में भगवान राम के चरणों की यह रति या प्रेम भक्ति दास्य-भक्ति कही जा सकती है । तुलसी के अनुसार यही भक्ति सर्वश्रेष्ठ है जो भक्त का परम काम्य या परम साध्य है । इस भक्ति के सामने मुक्ति भी हेय है । भक्त जन्म जन्मान्तर में इसी दास्य की कामना करता है[1] । यह निर्हेतुकी और अनुतस्वरूपा है[2] । भक्त इस भक्ति को

---

1 जेहि जोनि जनमउँ कर्म बस तहँ राम पद अनुरागऊँ ।

रा०च०मा०,कि०का०६,११

2 सुनु राम तुम्हें सिखावन । .... (अगले पृष्ठ पर)

बिना किसी कामना के केवल भगवान के चरणों की सेवा करने के लिए ही करता है । भगवान ऐसे भक्त के वश में अकारण ही हो जाते हैं और उसे 'अनपायिनी' भक्ति दे देते हैं । ऐसा भक्त तुलसीदास के अनुसार मुक्ति की कामना ही नहीं करता, बल्कि मुक्ति मिलने पर भी ठुकरा देता है । वह केवल 'भगति में लुभाया' रहता है । यह 'भगति' पद कमल की भक्ति है--

(अ) अस बिचारि हरि भगति सयाने ।
मुकुति निरादरि भगति लुभाने ॥[1]

(ब) जाके पद कमल लुब्ध मुनि-मधुकर,
विरत जो परम सुगतिहुं लुभाहिं ।[2]

परा भक्ति को प्राप्त करने वाला भक्त आनन्द की अनुभूति करता है । दुःख से उसका छुटकारा हो जाता है । तुलसीदास जी ने इसी भाव को ध्यान में रखकर इस परा भक्ति या अनन्य भक्ति को स्थल-स्थल पर 'अनुपम सुख मूला' 'सब सुख खानि' 'सुखदायिनी' आदि बताया है और उसे अन्तःकरण के नाना विकारों का उन्मूलक ठहराया है । वासनाओं का पूर्ण विनाश हो जाने के कारण यह अनन्य भक्ति

(पूर्व पृष्ठ की टिप्पणी का अवशेषांश)

राम भगत अब अमिय अघाहुं । कीन्हेहु सुलभ सुधा बसुधाहु ॥
रा०च०मा०, अयो० २०७।५

---

१ रा०च०मा०, उत्तर० ११८।७
२ विनय०पत्र २०७

निर्हेतुकी होती है और सच्चा भक्त तुलसीदास के अनुसार निष्काम प्रेम का ही इच्छुक रहता है[1]। वह अनन्य भक्त न किसी वस्तु में आसक्त होता है न उसे विषय भोगों की प्राप्ति का किंचिद्मात्र भी ध्यान होता है। वह भक्त अपने प्रेम की पराकाष्ठा में स्थित होकर उन्मत्त हो जाता है, स्तब्ध हो जाता है और आत्माराम बन जाता है[2]। अनन्य प्रेमी के इसी स्वरूप का चित्रण तुलसीदास ने भरत के, हनुमान के एवं सुतीक्ष्ण के चरित्रों में किया है। गोस्वामी जी ने मानस के उत्तरकाण्ड में 'भक्ति और ज्ञान' का भेद निरूपित करते हुए इसी परा या साध्या भक्ति को चिन्तामणि कहा है[3]। इस प्रकार तुलसीदास ने अनन्य भक्ति, भक्ति चिन्तामणि या रामचरणों की दास्य भक्ति को परा भक्ति या साध्या भक्ति की कोटि में ही निरूपित किया है।

गौणी भक्ति के अन्तर्गत वैधी भक्ति का रामकाव्य में महत्वपूर्ण स्थान है। राम साहित्य में भक्ति के इस भेद

---

१ विनय० पद १०३

२ रा०च०मा०, अरण्य० ६

३ परम प्रकास रूप दिन राती। नहिं कछु चहिय दिया घृत बाती ॥

+ + + +

ब्यापहिं मानस रोग न भारी। जिन्ह के बस सब जीव दुखारी ॥

राम भगति मनि बस उर जाकें। दुःख लवलेस न सपनेहुँ ताकें ॥

—रा०च०मा०, उत्तरका०, ११९।८,६

को रागानुगा भक्ति से श्रेष्ठतर माना गया है, क्योंकि जिस प्रकार राम का चरित्र मर्यादापूर्ण है, उसी प्रकार उनकी भक्ति भी मर्यादा-पूर्ण होनी चाहिए । यद्यपि कुछ रसिक सम्प्रदाय के राम कवियों ने राम को रसिक-शिरोमणि सिद्ध करने की चेष्टा की, किन्तु वे सफल नहीं हो सके । राम कवि तुलसीदास की वैधी भक्ति राम के मर्यादित चरित्र के अनुकूल थी । फलतः भक्ति क्षेत्र में राम कवियों में तुलसीदास की यह वैधी भक्ति "विरति-विवेक संयुत, श्रुति-सम्मत है । अतएव उन्होंने रूपक के माध्यम से ज्ञान-विराग रूपी नयनों की भक्ति रूपी मणि की प्राप्ति का साधन बतलाया है[१] । रामचरित मानस के सात सोपान राम भक्ति के ही सोपान हैं । वे ज्ञान-नेत्रों द्वारा देखे जा सकते हैं । इस प्रकार वैराग्य और ज्ञान वैधी भक्ति के साधन हैं । विरति का साधन धर्म है और ज्ञान का साधन योग है । अतः साधन के साधन होने के कारण धर्म और योग भी वैधी भक्ति के साधन हैं । "लक्ष्मण-भक्ति योग" में तुलसीदास ने बतलाया है कि वेद शास्त्रानुसार वर्णाश्रम धर्म पालन का फल है-- विषय-वैराग्य । उससे भागवत धर्म में अनुराग उत्पन्न होता है । उससे श्रवणादिक नवधा भक्ति दृढ़ होती है । उससे राम की लीला के प्रति परम प्रेम का उदय होता है[२] ।

विनयपत्रिका में तुलसीदास ने बतलाया है कि योग साधन के द्वारा समाधिस्थ योगी परम भक्ति सुख का अनुभव करता है[३] ।

---

१ रा०च०मा०, उत्तरका० १२०।७-८

२ ,, , अरण्य० १६।३-४

३ सकल दृश्य निज उदर मेलि सोवै निद्रा तजि जोगी ।
सोइ हरिपद अनुभवै परम सुख अतिशय द्वैत वियोगी ।।
विनय० १६७।४

इस प्रकार ज्ञान,धर्म,वैराग्य,योग आदि वैधी भक्ति के ही साधन हैं, क्योंकि भगवान की कृपा और उनकी रागानुगा भक्ति के अतिरिक्त जितने भी भक्ति साधन हैं वे सब भक्ति ग्रन्थों में वैधी या विहित भक्ति के साधनों के अन्तर्गत कहीं न कहीं रख दिए गए हैं । उपर्युक्त भक्ति-साधनों के अतिरिक्त वैधी भक्ति में नवधा भक्ति का सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान है । इस नवधा भक्ति में भागवत की नवधा भक्ति और अध्यात्म रामायण प्रतिपादित नवधा-भक्ति का सर्वश्रेष्ठ स्थान है । तुलसीदास की वैधी नवधा भक्ति भागवत से अप्रत्यक्ष रूप से तथा अध्यात्म रामायण से प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित होते हुए भी मौलिकता से पर्याप्त पूर्ण है, जिसका विवेचन नवधा प्रकार की भक्ति के भेद में हो चुका है और विस्तार से भक्ति के साधन प्रकरण में होगा । यहां इतना ही कहना अभीष्ट है कि तुलसीदास ने अपनी भक्ति में वैधी भक्ति को ही सर्वश्रेष्ठ स्थान दिया । उस वैधी भक्ति में नवधा भक्ति को तथा नवधा भक्ति में दास्य भाव की भक्ति को ही सर्वोत्तम माना । यह दास्यभाव भक्ति साध्य और साधन दोनों है ।

साधन रूपा भक्ति का दूसरा भेद रागानुगा भक्ति है, जिसके अनुसार साधक भगवान के साथ रागात्मक सम्बन्धों की स्थापना द्वारा उनकी भक्ति या कृपा प्राप्त करता है । मानव-मन का यह स्वभाव है कि वह अपने सम्बन्धियों में विशेष अनुरक्त रहता है। रागात्मक वृत्तियों के उदात्तीकरण के लिए यह उपाय श्रेयस्कर है । इसलिए भक्तों ने भगवान को अपने पिता, माता, गुरु, प्रिय, सखा, इष्टदेव, कुलपति,

रक्षक, स्वामी आदि अनेक रूपों में अंकित किया है । वैदिक साहित्य, उपनिषद्, पुराण आदि में आराधक एवं आराध्य के बहुविध सम्बन्धों की कल्पना की गई है । तुलसीदास ने भी राम को पिता, माता, प्रभु, पति, गुरु, हित-मित्र, बन्धु-सुहृद-सखा आदि रूपों में चित्रित किया है[1] । उन्होंने राम के प्रति उन सभी सम्बन्धों की कल्पना की जो उन्हें वांछनीय लगे । राम को ही नहीं, उनके नाम को भी तुलसीदास अपना अभीष्ट आराध्य, स्वामी, गुरु, सखा और माँ बाप मानते हैं[2] । रामभक्त भवानी, शंकर और हनुमान भी तुलसी के लिए माता-पिता हैं[3] । लक्ष्मण को सखा, सुबन्धु हित आदि कहने में भी तुलसी का यही अभिप्राय है[4] । शंकर और राम के बीच भी इसी प्रकार के सम्बन्ध की स्थापना की गई है । इस प्रकार की भक्ति साधना का कारण यह है कि भगवान के साथ भक्त के इस रागात्मक सम्बन्ध भाव में उन्हें प्रसन्न करने की अनुपम शक्ति है । 'सर्वभाव भज कपट तजि मोहिं परम प्रिय सोइ'[5] कहकर राम ने वैधी भक्ति की तुलना में रागानुगा भक्ति को अधिक गौरवान्वित किया है । इसीलिए भक्त जन्म-जन्मान्तर तक इन रागानुगा सम्बन्धों को अक्षुण्ण रखने की अभिलाषा करता है । लोक के समस्त सम्बन्धों का तिरस्कार करके एकमात्र राम से ही नाता मानने वाला भक्त किस प्रकार राम से निवेदन करता है--

---

१ विनय० ७७।२, ११३।४, २५२।१

२ ,, २२०।२, २२६।५, २५४।१

३ रा०च०मा० १ बालका० १५।२, विनय० २८।६

४ ,, लंका० ४।६

५ ,, उत्तर० ८७

(अ) गुरु पितु मातु न जानौं काहु । कहौं सुभाउ नाथ पतिआहु ॥
जंह लगि जगत सनेह सगाईं । प्रीति प्रतीति निगम निजु गाईं ॥
मोरे सबइ एक तुम्ह स्वामी । दीनबन्धु उर अंतरजामी ॥[1]

(ब) कामिहिं नारि पिआरि जिमि, लोभिहिं प्रिय जिमि दाम ।
तिमि रघुनाथ निरन्तर, प्रिय लागो मोहिं राम ॥[2]

उसी प्रकार भगवान राम भी भक्त के सभी सम्बन्धों को अपने साथ स्वीकार करते हैं--

जननी जनक बंधु सुत दारा । तनु धन भवन सुहृद परिवारा ॥
सबकै ममता ताग बटोरी । मम पद मनहिं बांध बरि डोरी ॥
समदरसी इच्छा कछु नाहीं । हरष सोक भय नहिं मन माहीं ॥
अस सज्जन मम उर बस कैसे । लोभी हृदय बसै धनु जैसे ॥[3]

विभिन्न प्रकार के रागात्मक सम्बन्धों के द्वारा भक्त और भगवान का सान्निध्य भक्ति भाव को दृढ़ एवं पुष्ट बनाता है । राधा-वल्लभ सम्प्रदाय के कृष्ण भक्तों की माधुर्य भक्ति की भावना इसी सिद्धान्त की पराकाष्ठा है । परन्तु तुलसीदास को भगवान के प्रति दाम्पत्य भाव मान्य नहीं है । उनकी दृष्टि में सेव्य-सेवक सम्बन्ध ही सर्वोपरि है । वस्तुतः दास्य भाव ही उनके सारे भक्ति मार्ग की आधारभूमि है । जहां वात्सल्य, शान्त आदि भक्ति का निरूपण किया गया है, वहां भी दास्य भक्ति को ही महत्वपूर्ण स्थान दिया के गया है । इसका विवेचन ~~विस्तार से~~ भावों के

---

१ रा०च०मा०, अयो० ७२।२-३
२ ,, उत्तर० १३०ख
३ ,, सुन्दर० ४८।२-४

अनुसार भक्ति प्रकरण में आगे करेंगे । तुलसी के अतिरिक्त राम-काव्यान्तर्गत रागानुगा भक्ति का दर्शन अग्रदास और नाभादास की रचनाओं में भी होता है । ये दोनों कवि रामशाखा में रसिक संप्रदाय के प्रवर्तक माने जाते हैं । इन्होंने भगवान राम को श्रीकृष्ण के अनुकरण पर रसिक-शिरोमणि सिद्ध करने की चेष्टा की और भगवान राम की उपासना सखी भाव से करने की विधि बताई । इन दोनों कवियों ने रागानुगा भक्ति के कामरूपा सम्बन्ध के आधार पर माधुर्य भाव या दाम्पत्य भाव की भक्ति को ही एकमात्र और सर्वश्रेष्ठ भक्ति कहा तथा सखी भाव से भगवान को भजने का उपदेश दिया ।

<u>तुलना और निष्कर्ष</u>

उपर्युक्त कृष्ण एवं राम-कवियों की रचनाओं में प्राप्त तथ्यों के प्रकाश में तुलनात्मक ढ दृष्टि से संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि दोनों धाराओं के कवियों की रचनाओं में शास्त्रीय दृष्टि से भक्ति का मुख्या या गौणी अथवा वैधी या रागानुगा इस प्रकार का वर्गीकरण नहीं मिलता है । यह बात अवश्य है कि दोनों धाराओं के कवियों की रचनाओं में उपर्युक्त प्रकार की भक्ति के स्वरूप और उदाहरण पर्याप्त मात्रा में भरे पड़े हैं । जैसा कि ऊपर से स्पष्ट है । आलोच्यकालीन कृष्ण धारा के कवियों ने इन भक्ति के लिए विशेषतया भागवत पुराण और सम्बन्धित सम्प्रदायों से अनुप्रेरित हैं, जब कि रामकवि तुलसीदास ने किसी भी एक ग्रन्थ या किसी भी संप्रदाय विशेष का अन्धानुकरण नहीं कियाहै, बल्कि सभी भक्ति शास्त्रीय ग्रन्थों का सार लेकर समन्वय भावना से मौलिकता के रूप में प्रकट कियाहै ।

कृष्ण कवियों ने पराभक्ति के रूप में प्रेमलक्षणा भक्ति को और वैधी भक्ति के अन्तर्गत नवधा भक्ति को महत्व दिया है । कृष्ण भक्तों ने दशधा भक्ति को 'प्रेम लक्षणा' या 'प्रेम रूपा' भक्ति की संज्ञा दी है और इस प्रकार दशधा भक्ति को साध्य मानकर उसकी प्राप्ति का साधन नवधा भक्ति को स्वीकार किया है । यह दशधा भक्ति ही रागानुगा भक्ति है जो भक्ति का साधन भी है और स्वयं साध्य भी है । निम्बार्क सम्प्रदाय में यह रागानुगा भक्ति साध्य दशा की भक्ति के रूप में मान्य है किन्तु अन्य कृष्ण संप्रदायों में साधन रूपा भी है और अपनी चरम अवस्था में साध्य भक्ति या परा भक्ति में भी परिणत हो जाती है । वास्तव में कृष्ण संप्रदायों में रागानुगा भक्ति, प्रेम लक्षणा भक्ति, दशधा भक्ति, परा या मुख्या भक्ति सबका एक ही अर्थ में प्रयोग है । इनमें मौलिक अन्तर नहीं है । इनमें जो भेद है वह वस्तुगत न होकर नामगत ही है, क्योंकि सभी कृष्ण भक्तों का उद्देश्य एक ऐसी भक्ति का स्वरूप निर्धारित करना था जो वैधी के विरुद्ध समस्त बन्धनों से मुक्त विशुद्ध व प्रेम पर आधारित हो । इसी के लिए सभी कृष्ण कवियों ने अपनी अपनी रुचि एवं परम्परा के अनुसार विभिन्न नामों का प्रयोग किया है, किन्तु प्रेम सब में उभयनिष्ठ है । इस प्रकार हम कह सकते हैं कि शास्त्रीय दृष्टि से परा या मुख्या भक्ति तथा रागानुगा भक्ति में जो मौलिक अन्तर है वह अन्तर व्यावहारिक दृष्टि से कृष्ण कवियों की रचनाओं में मिट गया है और प्रेम की अतिशय तन्मयता के आधार पर रागानुगा भक्ति ही साधन और साध्य अवस्था परा भक्ति के रूप में परिणत हो गई है ।

कृष्ण कवियों ने वैधी भक्ति का विवेचन नवधा भक्ति के अन्तर्गत अवश्य किया, किन्तु उसमें उनकी रुचि उस प्रकार नहीं रही जिस प्रकार रागानुगा भक्ति में। उनकी रचनाओं में यह वैधी भक्ति, भक्ति का साधन मात्र होकर रह गई है। साध्य का स्थान नहीं प्राप्त कर सकी है, क्योंकि एक तो कृष्ण का चरित्र मर्यादा और नियमों की सीमा में न बंधकर विशुद्ध प्रेम या राग पर निर्भर है व दूसरे कृष्ण सम्प्रदायों में प्रेम-लक्षणा भक्ति को साध्य का स्थान प्राप्त था। इसी के अनुकरण पर सम्प्रदायगत कृष्ण कवियों ने कृष्ण-चरित्र के अनुकूल रागानुगा भक्ति को ही भक्त का चरम साध्य बतलाया। इसकी तुलना में रामकवियों में दो प्रकार की विचारधारा मिलती है। एक रसिक सम्प्रदाय के कवि अग्रदास और नाभादास की माधुर्यभाव या सखाभाव की भक्ति है, जो कृष्ण कवियों के अनुकरण पर रागानुगा भक्ति है। इन कवियों ने वैधी भक्ति की तुलना में कृष्णभक्तों की भक्ति रागानुगा भक्ति को श्रेष्ठ सिद्ध किया है और साध्या भक्ति के रूप में चित्रित किया। दूसरी विचारधारा रामकवि तुलसीदास की है। यद्यपि तुलसीदास ने सभी प्रकार की भक्ति का विवेचन किया है, किन्तु उन्हें दाम्पत्य या मधुर भाव की भक्ति मान्य नहीं है, इस प्रकार तुलसीदास की रचनाओं में रागानुगा भक्ति की कामरूपा भक्ति को मान्यता नहीं मिली केवल रागानुगा भक्ति की सम्बन्ध रूपा भक्ति को ही महत्व मिला, क्योंकि तुलसीदास भगवान राम से दाम्पत्य सम्बन्ध छोड़कर अन्य सभी मर्यादित सम्बन्ध — माता, पिता, गुरु, सेवक, मालिक सभी मानने को तैयार थे और इन सभी सम्बन्धों का भगवान के साथ जोड़ने के उदाहरण

उनकी रचनाओं में पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं । वैधी भक्ति तो तुलसी साहित्य का मुख्य प्रतिपाद्य विषय ही है । क्योंकि उनकी स्पष्ट घोषणा है कि श्रुति-सम्मत,हरिभक्ति पथ, संजुत विरति विवेक' इसके अतिरिक्त तुलसी ने वैधी नवधा भक्ति का मौलिकता पूर्वक 'शबरी भक्तियोग' में प्रतिपादन किया है,जो तुलसी का सर्वाधिक मान्य भक्ति योग कहा जा सकता है । इसमें कवि ने सभी प्रकार की भक्ति में श्रेष्ठ वैधी नवधा भक्ति को ही बताया है । इसका कारण यह कहा जा सकता है कि तुलसीदास ने राम के जिस चरित्र का अंकन किया वह मर्यादित और श्रुति सम्मत नियमबद्ध था । वह वैधी भक्ति के ही अनुकूल था । उनके लिए कृष्ण चरित्र की मधुर रागानुगा भक्ति सर्वथा त्याज्य थी,इसीलिए जिन राम कवियों ने भगवान राम की मधुर रागानुगा भक्ति के साथ उपासना की विधि बताई, वे पूर्णत: असफल रहे और उनकी यह मधुर उपासना वह महत्व या व्यापकता न पा सकी जो तुलसी की वैधी भक्ति को मिली । उस वैधी भक्ति के अन्तर्गत नवधा भक्ति का दास्य भाव तुलसीदास को सर्वाधिक मान्य है । यह दास्य भक्ति ही व तुलसी की परमकाम्य भक्ति है, जिसको परा, मुख्या या साध्या भक्ति कहा जा सकता है । इस प्रकार कृष्ण कवियों में रागानुगा या प्रेम लक्षणा भक्ति को भक्ति का साध्य स्वीकार किया गया, जब कि रामकवियों में इसके ठीक विपरीत दास्य भक्ति को ही भक्ति का परम काम्य या परम साध्य माना गया । इसका कारण दोनों धाराओं के इष्टदेवों के स्वरूप में अन्तर है ।

इसके अतिरिक्त विभिन्न आधारों पर भक्ति के वर्गीकरण किए गए हैं, जैसे रतिभेद या भावों के आधार पर भक्ति के पांच भेद किए गए हैं-- वात्सल्य, सख्य,मधुर,दास्य और शान्त । इन सब भावों का अन्तर्भाव उपर्युक्त विभिन्न प्रकार का भक्तियों में हो गया है, जैसे वात्सल्य, सख्य और दास्य का रागानुगा भक्ति के सम्बन्ध रूपा भेद में तथा मधुर का कामरूपा भेद में अन्तर्भाव है । इसी प्रकार इसी भक्ति भक्तभेद के आधार पर सतोगुणी,रजोगुणी,तमोगुणी तथा शुद्धा के अन्तर्गत निष्काम,निर्गुण शुद्धाभक्ति में अन्तर्भुक्त है । उसका पुनः विवेचन पिष्टपेषण मात्र होगा । इसके अतिरिक्त साध्य या भजनीय के स्वरूप दृष्टि से भक्ति दो प्रकार की मानी गई है -- सगुण और निर्गुण । इसका विवेचन दर्शन अध्याय में इस प्रकरण में हो चुका है । अतः विस्तार से पुनः उसका विवेचन असंगत होगा ।

भक्ति के साधन

भक्ति-शास्त्रीय दृष्टि से भक्ति के दो भेद मुख्या और गौणी किए गए हैं । मुख्या या पराभक्ति साध्यावस्था की भक्ति है और गौणी साधन भक्ति है । यह भक्ति मुख्याभक्ति को प्राप्त करने का साधन है । इस गौणी भक्ति के साधन दो प्रकार हैं-- एक विहित साधन जिन्हें वैधी भक्ति कहते हैं,दूसरा अविहित साधन, जिसे रागानुगा भक्ति कहते हैं । वास्तव में भक्ति प्राप्ति के साधन इन्हीं दोनों प्रकार की भक्ति-- वैधी और रागानुगा के आधार पर विहित साधन या अविहित साधन के ही वर्गों में रखे जा सकते हैं । विहित साधनों में या वैधी भक्ति के अन्तर्गत नवधा भक्ति के नव साधन महत्वपूर्ण हैं । भक्ति साधन के दूसरे वर्ग में रागानुगा या अविहित साधन हैं । भगवान के साथ जिन रागात्मक सम्बन्धों की स्थापना

द्वारा साधक उनकी भक्ति या कृपा प्राप्त करता है वे रागानुगा साधन हैं । इन रागानुग साधनों के द्वारा भक्त भगवान के साथ माता, पिता, सखा, पति, पुत्र, इष्टदेव, कुलपति, रक्षक, स्वामी आदि सम्बन्ध स्थापित करके उनकी कृपा प्राप्त करना चाहता है । आलोच्यकालीन कृष्णकवियों ने वल्लभाचार्य के मतानुसार भागवत की नवधा भक्ति को भक्ति के नौ साधन माना और इन नौ साधनों से दसधा प्रेमाभक्ति या रागानुगा भक्ति की प्राप्ति स्वीकार किया । वास्तव में कृष्ण कवियों में रागानुगा भक्ति को साधन रूप में स्वीकार नहीं किया है । उनका विचार है कि यह भक्ति प्रयत्न या क्रिया से नहीं मिलता है, बल्कि इसके लिए भगवान का अनुग्रह या कृपा की आवश्यकता है । भगवान जब भक्त पर अनुग्रह करते हैं तब वह स्वयं भगवान से आत्यन्तिक रागात्मक सम्बन्ध स्थापित कर लेता है । इसके विपरीत भक्त चाहे जितनी साधना या क्रिया करे, किन्तु भगवान की कृपा उसे नहीं मिल सकती है । फलतः रागानुगा भक्ति साधन स्वरूपा नहीं है, बल्कि भगवान के अनुग्रह पर आश्रित साध्य स्वरूपा है । राम कवियों में तुलसीदास ने वैधी भक्ति के अन्तर्गत नवधा भक्ति को सर्वाधिक महत्वपूर्ण साधन माना । इसके अतिरिक्त अन्य अनेक स्थलों पर उन्होंने भक्ति के विविध साधनों की भी चर्चा की है, जैसे राग, विराग आदि । रागानुग सम्बन्धों में मर्यादित सम्बन्धों को ही उन्होंने मान्यता दी । रागरूपा दाम्पत्य या मधुर सम्बन्ध को तुलसीदास ने अमान्य ठहराया । चूंकि कृष्ण एवं राम दोनों धाराओं के कवियों ने नवधा भक्ति के नौ साधनों को महत्वपूर्ण साधन के रूप में स्वीकार किया और रागानुगा भक्ति के साधनों को कृष्ण कवियों ने साधन के रूप में नहीं बल्कि साध्य माना और

राम कवियों ने उन साधनों को महत्व नहीं दिया, फलत: नवधा भक्ति के नौ साधनों का ही विस्तार से विवेचन होगा और अन्त में रागानुगा भक्ति के साधनों का उल्लेखमात्र कर दिया जायगा ।

वैधी भक्ति के अन्तर्गत नवधा भक्ति का विवेचन अनेक भक्ति-शास्त्रियों ने अनेक प्रकार से किया है, किन्तु उनमें सर्वाधिक महत्व भागवत एवं अध्यात्म रामायण की नवधा भक्ति को प्राप्त हुआ । कृष्ण कवियों ने भागवत की नवधा भक्ति के नौ साधनों का ही अनुसरण किया, उनपर अन्य किसी नवधा भक्ति का प्रभाव नहीं है, किन्तु रामकवि तुलसीदास की रचनाओं में भागवत की नवधा भक्ति तथा अध्यात्म रामायण की नवधा भक्ति दोनों के दर्शन होते हैं । इन दोनों में तुलसीदास अध्यात्म रामायण की नवधा भक्ति के अधिक निकट हैं, साथ ही उनकी नवधा भक्ति उक्त दोनों ग्रन्थों की नवधा भक्ति से कुछ अन्तर रखते हुए मौलिक प्रयोग भी कहा जा सकता है । अत: पहले हम तुलसी की रचनाओं में भागवत के अनुसार प्राप्त नवधा भक्ति का कृष्ण कवियों के साथ तुलनात्मक अध्ययन करेंगे तत्पश्चात् उनकी मौलिकता के रूप में अध्यात्म रामायण के साथ उनकी नवधा भक्ति का सापेक्षिक अध्ययन भी प्रस्तुत करेंगे ।

भागवत की नवधा भक्ति के नौ साधन

भागवत पुराण की नवधा भक्ति को आचार्यों ने भक्ति प्राप्ति के नौ साधन माना है वे नौ साधन निम्न हैं :—

> श्रवणं कीर्तनं विष्णो: स्मरणं पादसेवनम् ।
> अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ॥[1]

---

1 भा०पु० 7।5।23

उपर्युक्त श्लोक में नौ साधनों का क्रम इस प्रकार है-- श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन। ईश्वर सम्बन्धी कथाओं का श्रवण करके उनका कीर्तन करना चाहिए, फिर उनका स्मरण करके ईश्वर के प्रति मन में श्रद्धा पैदा करनी चाहिए। पादसेवन, अर्चन और वंदन द्वारा विश्वास को दृढ़ करना चाहिए, तत्पश्चात् धीरे-धीरे दास्य सख्य और आत्मनिवेदन द्वारा रागात्मिका भक्ति का सच्चा आनन्द भक्त पा सकेगा। अब हम उपर्युक्त क्रम से इन साधनों का विवेचन कृष्ण एवं राम दोनों धाराओं के कवियों के अनुसार करेंगे --

श्रवण -- भगवान के यश, गुण उनका पावन नाम तथा उनकी लीलाओं का श्रद्धापूर्वक सुनना और सुनाना श्रवण भक्ति है[1]। श्रवण भक्ति की उच्च अवस्था वह है जब बिना भगवान के गुण और चरित्र के सुने भक्त को चैन नहीं पड़ता है। इसका उसको व्यसन हो जाता है। यह साधन तीन प्रकार से होता है-- गुरु के वचनों को श्रद्धापूर्वक सुनने से, संतों के प्रवचनों के श्रवण से तथा भगवान के नाम, यश तथा लीला कीर्ति के श्रवण से।

कृष्ण काव्य

अष्टछाप भक्तों की सम्पूर्ण वाणी भगवान के नाम और लीला के सुनने सुनाने से सम्बन्ध रखती है। सूरदास तथा

---

१ श्रवणं नामचरित्रगुणादीनां श्रुतिर्भवेत्।
'श्रीहरिभक्ति रसामृत सिन्धु', पूर्व विभाग
लहरी २ श्लोक ३२

सूरदास तथा परमानन्द की भाँति नन्ददास ने भी अपने कई ग्रन्थों की समाप्ति में उन ग्रन्थों के विषय के श्रवण की महिमा तथा उनकी श्रवण भक्ति का वर्णन किया है । 'रास - पंचाध्यायी' की समाप्ति पर वे श्रवण भक्ति की महिमा का वर्णन करते हुए कहते हैं--

जो यह लीला गावै, चित दै, सुनै सुनावै ।
प्रेम भक्ति सो पावै, अरु सब के जिय भावै ।।
श्रवण कीर्तन सार, सार सुमिरन कौ है पुनि ।
ग्यान सार हरिध्यान सार, श्रुतिसार गुथी गुनि[1] ।

नन्ददास ने भक्ति के दो साधन मार्ग कहे हैं-- एक नाद मार्ग दूसरा रूप मार्ग, इसका विवेचन पहले हो चुका है, उन्होंने नाद मार्ग के अन्तर्गत श्रवण और कीर्तन भक्ति साधनों का समावेश किया है । कृष्णदास ने भी गोवर्द्धनधर की लीला का गान किया तथा उसके श्रवण को परम सुखदाई बताया है । गोपीरूप से वे एक सखी से कहते हैं-- हे सखी मुझे श्रीकृष्ण का 'मोहन' नाम बहुत अच्छा लगता है । इसलिए तू मुझे यही नाम बार बार सुना[2] । मीरा ने स्पष्ट कहा है कि गोविन्द के गुणगान और श्रवण का प्रभाव इतना है कि चाहे सारा संसार शत्रु हो जाए, कोई भी भक्त का बाल

---

१ नन्ददास : 'रासपंचाध्यायी', पृ०१८२

२ लीला लाल, गोवर्द्धन-धर की
गावत सुनत अधिक सुख उपजै, रसिक कुंवरप्रिय राधावर की ।
+ + +
कृष्णदास हरि बलिहारै, मांगत जूठनि बाबा नन्द जू के घर की ।
— डा० दीनदयालु गुप्त : 'अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय', पृ०५५१

बांका नहीं कर सकता है । उनके अपनों द्वारा दी गई यातनाओं का मर्मस्पर्शी वर्णन करने के बाद वे कहती हैं कि मैं श्यामसुन्दर के प्रेम में पागल हो गई हूँ[1] ।

रामकाव्य

राम काव्यान्तर्गत तुलसी के साहित्य में पग-पग पर राम के नाम, रूप और गुण की महिमा ब गाई गई है । तुलसीदास ने राम चरितमानस में राम के चौदह निवासस्थान बतलाते[2] हुए श्रवण को ही प्राथमिकता दी है । रामकथा का श्रवण सकल मनोरथ साधक, कलिमलनाशक, भवभयहारी और भक्तिदायक है[3] । ऐसी रामकथा के लिए मानस के चारों घाटों पर तुलसी ने आदर्श श्रोताओं पार्वती, भरद्वाज, गरुड़ तथा अन्य सन्तों की सुन्दर योजना की है । उनकी मान्यता है कि जिन्होंने हरिकथा का श्रवण नहीं किया, उनके श्रव कान सर्पों के बिल हैं । उनकी छाती कुलिश-कठोर है । जो रामचरित सुनकर तृप्त हो जाते हैं, वे रस विशेषज्ञ नहीं हैं । जिन्हें रामकथा में रुचि नहीं है, वे जीव जड़ हैं और आत्मघाती हैं[4] ।

१ मैं गोविन्द गुण गाणा ।

राजा रूठै नगरी ण राखै, हरि रूठयां कहं जाणा ।

\+ \+ \+

मीरा तो अब प्रेम दिवाणी, सांवलिया वर पाणा ।

— मीराबाई की पदावली, सं० परशुराम चतुर्वेदी, पृ० १८

२ रा०च०मा०, अयोध्या० १२८।२-३

३ ,, ,बालका० १५।६,७।१२४।१

४ जिन्ह हरि कथा सुनी नहिं काना । श्रवण रन्ध्र अहि भवन समाना ।।

कीर्तन

नवधा भक्ति का दूसरा साधन कीर्तन है । सगुण अथवा निर्गुण भगवान के बोधक शब्द का उच्चारण कीर्तन है । इस कीर्तन के लिए बारम्बार उच्चारण अनिवार्य नहीं है । वह एक बार भी हो सकता है, अनेक बार भी । भक्तिशास्त्र के आचार्यों ने कीर्तन को भी परमानन्द का एक उपाय कहा है और इसकी बहुत प्रशंसा की है । भागवत में कीर्तन की महिमा बताते हुए भागवतकार ने कहा है-- दोष-निधि कलियुग में एक ही महान गुण है कि भगवान कृष्ण के कीर्तन से मनुष्य लौकिक आसक्ति से छूट जाता है[1] । वल्लभाचार्य ने भगवान के गुणगान को मोक्ष अवस्था से श्रेष्ठ बताया है । उनका विचार है--"जब तक भगवान अपनी कृपा भक्तों को दें, तब तक साधन दशाएं ईश्वर गुण-नाम के कीर्तन का आनन्द देने वाले होते हैं । ईश्वर के गुणगान में जो आनन्द है वह लौकिक पुरुषों के गुणगान में नहीं तथा जो सुख भक्तों को भगवान के गुणगान में होता है वह सुख भगवान के स्वरूप-ज्ञान की मोक्ष अवस्था में भी नहीं होता । इसलिए सदानन्द ईश्वर में भक्ति करने वाले भक्तों को सब लौकिक साधन छोड़कर भगवान के गुणों का गान करना चाहिए । इस प्रकार हम कह सकते हैं कि भक्ति शास्त्र में कीर्तन का साधन के रूप में बहुत बड़ा महत्व है ।

कृष्ण काव्य

कृष्ण-भक्तों की भक्ति का मुख्य साधन भगवान के गुणों का कीर्तन करना था । अष्टछाप के कवियों का मुख्य कार्य श्रीनाथ

---

१ भागवत द्वादश स्कन्ध, अध्याय ३, श्लोक ५१

जी की मूर्ति के सामने समय-समय पर उनकी लीलाओं का गान हो करता था । इसके लिए सम्प्रदाय में आठ पहर की सेवा का विधान था । इन आठों पहर की सेवा में कीर्तन को मुख्य स्थान दिया गया था और आठों सेवाओं में अष्टछाप भक्त के कीर्तन के समय नियत थे । इस कीर्तन भक्ति के फलस्वरूप वल्लभ सम्प्रदाय के तथा अन्य सम्प्रदाय के कृष्ण भक्तों ने अपनी मधुर स्वर लहरी से भक्ति रस का अपूर्व भंडार भरा । कीर्तन भक्ति से सम्बन्ध रखने वाला यह पद साहित्य हिन्दी भाषा और साहित्य का एक अपूर्व अंग है । अष्टछाप भक्तों का संपूर्ण काव्य भक्ति के कीर्तन साधन और उसका एक बड़ा अंश प्रेमभक्ति के 'पद' रूप में ही लिखा गया है । इसलिए उनकी कीर्तन भक्ति का उदाहरण उनका सम्पूर्ण काव्य ही है ।

अष्टछाप के भक्त केवल पद रचयिता कवि ही न थे, वे उच्चकोटि के गवैये भी थे, क्योंकि उनकी स्वर लहरी की संगीत साधना भगवान के समक्ष कीर्तन के रूप में होती थी । इसका उल्लेख किया जा चुका है । एक पद में सूरदास जी ने स्वयं कहा है -- 'मैं सगुण ईश्वर की लीला के पद गाता हूं'[1] । कीर्तन रूप में भगवान के यश, गुण, लीला और नाम के प्रकाशन के साथ इन अष्टछाप भक्तों ने कीर्तन की महिमा तथा उसमें अपने मन की तल्लीनता का भी वर्णन किया है । इनकी रचनाओं में कीर्तन भक्ति के प्रभाव और उसकी महिमा को व्यक्त करने वाले पद भरे पड़े हैं । कीर्तन भक्ति की महिमा और

---

१ सू०सा०, प्रथम स्कन्ध, वे०प्रे०, पृ०१

प्रभाव का वर्णन करते हुए सूरदास ने लिखा है--[1] गोपाल के गुण-गान से जो आनन्द मिलता है, उसके आगे जप तप तथा तीर्थाटन तुच्छ चीज है। हरिकीर्तन से पुरुषार्थ मिलता और तीन लोक का सुख तुच्छ प्रतीत होता। मीरा ने कहा है कि भगवान के नाम लेने और गुणगान से पाप कट जायेंगे और जन्म सफल होगा[2]। परमानन्द दास के मत में श्रीकृष्ण भगवान की कथा का श्रवण करना गुणों का कीर्तन करना और स्मरण करना आदि जितने भक्ति के साधन हैं वे सब मंगलकारी हैं[3]। नन्ददास का मत है कि भगवान की लीला कीर्तन और श्रवण करना ही ज्ञान कथा का सार है[4]। इस प्रकार ऊपर के विवेचन के आधार पर यही कहा जा सकता है कि समस्त कृष्ण-भक्तों ने कीर्तन को सर्वप्रधान स्थान दिया।

---

१ जो सुख होत गोपालहिं गाये

सो नहिं होत जप तप के कीने कोटिक तीरथ न्हाये।

\+ + +

सूरदास हरि को सुमिरन करि बहुरि न भव जल आये।

--सू०सा०,प०सं०३४१

२ सम्पा० परशुराम चतुर्वेदी : 'मीरा बाई की पदावली' पद सं० २००

३ मंगल माधो नाम उच्चार।

\+ + +

मंगल कर्म गोवर्धनधारी, मंगल भेष जसोदानन्द।

--डा० गुप्त के परमानन्ददास संग्रह से पद सं०३०५

४ 'रास पंचाध्यायी'-- नन्ददास, पृ०८२

राम काव्य

राम कवि तुलसीदास के अनुसार रामकथा का लिखना, पढ़ना या कहना भी कीर्तन है । राम के गुण, रूप और नाम का उच्चारण भी कीर्तन है । अतएव उनके द्वारा रामचरितमानस की रचना, पाठकों द्वारा व्यक्तिगत रूप से या सामूहिक रूप से उसका वाचन, शंकर आदि वक्ताओं द्वारा रामलीला का बखान, कवि और उसके निबद्ध पात्रों द्वारा भगवान के रूप, गुण तथा नाम का कथन ही है । इस कीर्तन शब्द के अर्थ की अतिव्यापक परिभाषा है कि यह चित्त को शुद्ध करके अभ्युदय तथा निःश्रेयस् सम्बन्धी समस्त मनःकामनाओं को सिद्ध करता है[१] । राम का यश-कीर्तन करने वाले जन का हृदय ही राम का निवासस्थान है इसके विपरीत जो भगवान राम का गुणगान नहीं करता है उसकी जीभ दादुर की तरह व्यर्थ टर्र टर्र[२] करने वाली है जो नहिं करै राम गुन गाना । जीह सो दादुर जीह समाना[३] । इसके माध्यम से तुलसीदास ने भगवान का कीर्तन करना ही मानव वाणी का एकमात्र कार्य निर्धारित करके कीर्तन की अपूर्व महिमा का प्रतिपादन किया है ।

स्मरण

नवधा भक्ति का तीसरा सोपान स्मरण है । भगवान के नाम, रूप, गुण और लीला की स्मृति स्मरण भक्ति है । इसके लिए 'चिन्तन' 'ध्यान' आदि शब्दों का भी प्रयोग हुआ है ।

---

१ कवि० ७।७६

२ रा०च०मा० ६ बाल०,३१।२

३ ,, बाल०,११३।३

सुरसुरानन्द के तृतीय प्रश्न का उत्तर देते हुए रामानन्द ने बतलाया है कि ध्येय का चिन्तन ही वैष्णवों का श्रेष्ठ ध्यान है[1]। जीव गोस्वामी ने `स्मरण` के पांच भेदों का निरूपण किया है-- स्मरण, धारण, ध्यान, ध्रुवानुस्मृति और समाधि[2]। नामादिविषयक कोई अनुसन्धान `स्मरण` है। सब विषयों से चित्त का निरोध करके सामान्याकार से भगवान का स्मरण `धारण` है। विशेष रूप से भगवान के रूप आदि का चिन्तन ध्यान है। भगवान के रूपादि की वह दशा जिसमें ध्येय मात्र का स्मरण होता है `समाधि` कहलाती है। भक्ति का यह अंग (स्मरण) श्रवण एवं कीर्तन की अपेक्षा दुःसाध्य और सुसाध्य भी है। यह पूर्णतः मानसिक वृत्ति है। चंचल तथा दुर्निग्रह मन को भगवान के स्मरण में लगाए रखना कठिन है। अतः यह भक्ति दुःसाध्य है। दूसरी ओर बाह्य या भौतिक उपाय प्रथम दो को प्रायः बाधा पहुंचाते हैं, किन्तु स्मरण को कम बाधा पहुंचा पाते हैं। इसलिए इसकी साधना सरल भी है। भागवत में स्मरण का भी विशेष महत्व बतलाया गया है कि जो कोई विषयों का चिन्तन किया करता है, उसका मन विषय कर्मों में लीन रहता है और जो व्यक्ति निरन्तर भगवान का स्मरण करता है उसका मन भगवान में ही लीन हो जाता है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि स्मरण भक्ति पूर्णरूप से मानसिक क्रिया है, जिसमें भक्त भगवान के गुण, माहात्म्य, लीला आदि की याद में लीन रहता है।

---

१ आचार्य रामानन्द : `वै०म०भा०, पृ०५४

२ जीव गोस्वामी : `षट् सन्दर्भ`, पृ०६२२

कृष्ण काव्य

कृष्ण भक्त कवियों ने 'स्मरण' भक्ति के अन्तर्गत नाम-जाप एवं गुण चिन्तन पर विशेष बल दिया है और नाम की महिमा प्रदर्शित करने वाले अनेक पद उनकी रचनाओं में भरे पड़े हैं। सूरदास स्मरण, कीर्तन, श्रवण, गुरुसेवा, नाम-भजन आदि भक्ति साधनों की महत्ता का वर्णन करते हुए भगवान से प्रार्थना करते हैं-- 'आप मुझे नाम रूपी नौका में बिठाकर भवसागर से पार करा दें।'[1] एक अन्य स्थल पर सूरदास ने स्मरण भक्ति के सम्बन्ध में इस प्रकार लिखा है-- 'हरि के स्मरण से परमानन्द का अनुभव होता है। श्रुति - स्मृति आदि उत्तम ग्रन्थ पुकार पुकार कर कहते हैं कि हरि-स्मरण के समान दूसरी उत्तम वस्तु कोई भी नहीं है। इसी से मुक्ति प्राप्त होती है। ऊँच-नीच भावना के बिना जो हरि का स्मरण करते हैं, उनको भगवान मोक्ष देते हैं। अतः दिन रात हरि का स्मरण करने में विलम्ब न करें। सौ बातों से यदि कोई अच्छी बात है तो वह ही स्मरण है। हरि स्मरण के बिना कहीं भी चलो, आनन्द नहीं मिलेगा और हमारा जन्म भी बेकार हो जायगा।[2]

---

1 सूरसागर, प्रथम स्कन्ध, वे०प्रे०, पृ० १५

2 हरि हरि हरि सुमिरो सब कोई।
हरि हरि सुमिरन सब सुख होई।
-+ + +
सौ बातन की एकै बात, सूर सुमिरि हरि हरि दिन रात।
--सूरसागर, द्वि० स्कन्ध, वे०प्रे०, पृ० ३६

परमानन्ददास निरन्तर हरि स्मरण करने का उपदेश देते हैं-- हे भगवान आपकी लीला का स्मरण मुझे बार-बार होता है और मेरे मन में अनेक चित्र बन जाते हैं। जिसने भगवान की मीठी मुस्कान का आनन्द लिया है वह उन्हें कभी भूल नहीं सकेगा। आपका स्मरण कभी प्रगाढ़ आलिंगन का सुख देता है तो कभी मन आपके मधुर स्वर में मिलकर गाने लगता है। जब आप अप्रत्यक्ष होते हैं, तब मेरा मन विकल हो जाता है। आँखें बन्द करने पर कभी मेरी आत्मा आपको सर्वस्व अर्पण करती हुई वनमाला पहनाती है। वे कहते हैं कि कभी मुझे नन्दलाल के ध्यान से वियोग की व्याकुलता का अनुभव होता है[1]। सूर और परमानन्ददास की ही भाँति नन्ददास का भी विचार है " कलियुग में भव रोग को मिटाने के लिए केशव के नाम के अलावा अन्य कोई शक्तिशाली औषधि नहीं है[2]।

सम्प्रदाय निरपेक्ष मीराबाई नाम की अपार महिमा का वर्णन उदाहरण देते हुए करती है --" हे भगवान! आपके नामों पर मैं मुग्ध हो गई हूं। वेश्या, गजेन्द्र और अजामिल आदि को नाम की महिमा से ही मोक्ष मिला है। उपदेश देते हुए आगे वे कहती हैं--" हे महान जनो, यदि आप भगवान की कृपा और उनके रूप का स्मरण करें तो इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि वे शीघ्र आपके दुःख दूर कर देंगे और आपका कल्याण कर देंगे। किसी भी भावना से, चाहे सख्य भाव से हो या शत्रु भाव से, भगवान का स्मरण करें तो भगवान अवश्य उनको मोक्ष देंगे[3]। इस प्रकार ऊपर के तथ्यों के

---

१ हरि तेरी लीला की सुधि आवति।

+ + +

परमानन्द प्रभु स्याम ध्यान करि ऐसे विरह गंवावति।

डा० गुप्त के परमानन्ददास संग्रह से, पद सं०२२४

२ नन्ददास : "अनेकार्थ मंजरी", पृ०६८

३ थिया तेरे नाम लुभाणी हो।

नाम लेत तिरता सुण्या, जैसे पाहण पाणी हो।

गणिका कीर पढ़ावतां, बैकुंठ बसाणी हो।

+ + +

नाम महातम गुरु दियो, परतीत पिछाणी हो।

मीरा दासी रावली, अपणी कर जाणी हो।

सं०परशुराम चतुर्वेदी : मीराबाई की पदावली, पद सं० १३८पृ०५६

प्रकाश में यही कहा जा सकता है कि कृष्ण कवियों ने स्मरण भक्ति के अन्तर्गत नाम-जप,सुमिरन और ध्यान की महत्ता का बहुत विस्तार से वर्णन किया है ।

रामकाव्य

राम काव्यान्तर्गत तुलसी की रचनाओं में स्मरण भक्ति की अतिशय महत्ता का दर्शन होता है । तुलसीदास ने स्मरण को इतना महत्वपूर्ण स्थान दिया कि भगवान ही नहीं,भक्त के नाम स्मरणमात्र से भी पाप मिट जाते हैं,अमंगल का नाश हो[1] जाता है और लौकिक यश तथा पारलौकिक सुख की प्राप्ति होती है[2] । तुलसीदास का विचार है कि जो व्यक्ति राम का स्मरण करके प्रसन्न नहीं होता है, उसका जीवन व्यर्थ है । वह जीवित रहते हुए भी शव के समान है[3] ।

जिस प्रकार भागवत में श्रवण ,कीर्तन एवं स्मरण को विशेष महत्व दिया गया है, उसी प्रकार तुलसी की रचनाओं में भी। इन तीनों प्रकारों में आचारानुष्ठान आदि की विहित साधना आवश्यक नहीं है । फलत: ये तीनों सभी भक्ति पद्धतियों एवं भक्ति सम्प्रदायों में सर्व ग्राह्य हुए हैं । भक्ति ग्रन्थों में कहीं तो इनका अलग-अलग निरूपण हुआ है और कहीं दो या तीनों का साथ साथ । श्रवण और कीर्तन प्राय: साथ साथ चला करते हैं[4] । अत: भागवतकार तथा तुलसी ने अनेक अवसरों पर

---

१ रा०च० मा० ,अयो०२६३

२ ,, बाल० ११३।३

३ सुलता० ४०८ से १० तक

४ रा०च०मा०,बाल०१५।५-६, ३६१

दोनों का एकसाथ प्रतिपादन किया है । भक्ति एक मानसिक स्थिति है । अतएव उसके उपर्युक्त कायिक अंगों के साथ स्मरण का योग भी अपेक्षित है । अत: जब तुलसी राम-कथा की महिमा का वर्णन करते हैं तब उसमें श्रवण, कीर्तन और स्मरण तीनों अन्तर्निहित रहते हैं[1] । कहीं-कहीं इन तीनों का एक साथ स्पष्ट संकेत भी किया गया है[2] । इस प्रकार तुलसी की कृतियों में प्राप्त सामग्री के आधार पर यही कहा जा सकता है कि तुलसीदास ने कृष्ण कवियों की ही भांति स्मरण को अत्यन्त महत्व दिया है और श्रवण तथा कीर्तन को उनका सहगामी स्वीकार किया है । स्पष्ट है कि तुलसी की भक्ति साधना पर भागवत पुराण का प्रभाव परिलक्षित होता है, क्योंकि मध्यकालीन भक्ति ग्रन्थों में भागवत पुराण का महत्व सर्वाधिक था और तत्कालीन सभी भक्ति साधनाओं पर उसका अमिट प्रभाव ह माना जा सकता है ।

पाद सेवन

नवधा भक्ति का चौथा साधन पाद सेवन है । श्री वल्लभाचार्य जी ने पाद-सेवा-भक्ति के विषय में कहा है --सेवक का जो व्यवहार स्वामी के प्रति लोक में होता है, उसी प्रकार सम्पूर्ण कार्य भगवान के लिए भक्त को करना चाहिए[3] । जो लोक सेवा एक स्वामिभक्त सेवक अपने स्वामी की करता है और श्रद्धापूर्वक स्वामी के चरणों में अपना

---

१ रा०च०मा० बाल० १५।५-६, ३६१

२ श्रुति राम कथा ,मुख राम को नामु, हिएं पुनि रामहि को थलु है ।
कवि० ७।३७

३ सेवकानां तथा लोके व्यवहारत: प्रसिद्धति ।
तथा कार्यं समर्प्यैव सर्वेषां ब्रह्मता तत: ।
-- सिद्धान्त रहस्य षोडश ग्रन्थ, आचार्य वल्लभ
श्लोक ७-८

मन लगाता है, भगवान के प्रति भक्त की यही सेवा पाद-सेवा है । इस सेवा के लिए भगवान का बाह्य अथवा मानस प्रत्यक्ष स्वरूप होना आवश्यक है । पाद सेवन की आरम्भिक अवस्था मूर्ति-पूजा, गुरु पूजा तथा भगवद् भक्त पूजा में होती है । इन सेवाओं के अभ्यास के बाद जब भक्त को दास्य प्रेम में एकाग्रता आ जाती है, तब वह मानसिक जगत में भगवान के अलौकिक चरणों की सेवा करता है । इस प्रकार बाह्य तथा मानसिक दोनों प्रकार के पाद-सेवन से लोकाश्रय का भाव छूट जाता है और भक्त में आत्मदीनता का भाव जागृत होता जाता है । श्रीमद्भागवत में पाद-सेवा की महत्ता के विषय में कहा गया है -- जो श्रेष्ठ सज्जन पुण्य यश वाले भगवान के नौका रूप चरणों का आश्रय लेते हैं, उनके लिए यह संसार गोवत्स-पद से के चिन्ह के समान है । वे पद-पद में परम पद पाते हैं । इसी से उन्हें कभी विपत्तियों का सामना नहीं करना पड़ता ।[१]

कृष्ण काव्य

कृष्ण काव्यान्तर्गत अष्टछाप के कवियों ने कृष्ण की अर्चावतार स्वरूप मूर्तियों में से 'श्रीनाथ जी' स्वरूप की पाद-सेवा की थी । उन्होंने अपने गुरु श्री वल्लभाचार्य जी तथा उनके बाद गो० श्री विट्ठलनाथ जी को भी भगवान रूप में ही देखा था तथा उनके प्रति उसी प्रकार की धारणा रखकर उनकी चरण-सेवा की थी । गुरु-स्तुति में लिखे हुए इन कवियों के पद इनकी गुरु-पद-सेवा-भक्ति के उदाहरण हैं । इसी प्रकार भगवद्-भक्तों के प्रति भी इन कवियों ने सेवा

---

१ भागवत दशम स्कन्ध, अध्याय २, श्लोक ५८ ।

और श्रद्धा का भाव प्रकट किया है और उनको साक्षात् भगवान का स्वरूप कहा है । मानसिक चरण-सेवा में उन्होंने कृष्ण के चरणों को हृदय-मन्दिर में स्थापित कर उनकी प्रेम तथा श्रद्धा से पूजा की है । प्रभु के चरण-कमलों की महत्ता के सम्बन्ध में सूर ने लिखा है-- मैं भगवान के उन चरणों की वन्दना करता हूं, जिसकी कृपा से लंगड़ा भी दुर्गम पर्वत को लांघ सकता है, अन्धा सब कुछ देख सकता है । ऐसे करुणामय स्वामी के चरणों की सेवा सभी को करना चाहिए[1] । इसी प्रकार सूर ने अन्य अनेक पदों में दास्य भाव से भगवान के चरणों की सेवा करने का उपदेश दिया है । सूर की तरह परमानन्द दास ने भी कई पदों में भगवान के चरणों की सेवा के भाव प्रकट करते हुए यही कामना की है कि कृष्ण के चरण कमलों में निरन्तर उनका अनुराग बना रहे[2] । इसप्रकार कई पदों में परमानन्द दास ने अपना दास्य भक्ति प्रकट की है और भगवान की पाद सेवा की महत्ता को प्रदर्शित करते हुए अपने आराध्य भगवान कृष्ण से यही प्रार्थना की है कि वे परमानन्ददास को पाद-सेवा का अधिकारी बना दें । सूर और परमानन्ददास की भांति नन्ददास ने भी भगवान के चरणों में अपनी अविकल श्रद्धा प्रकट की है-- हे नन्ददुलारे ! जब तक आपके चरणों में लोग श्रद्धा-भक्ति से प्रेम नहीं रखते तब तक

---

१ चरन कमल बन्दौं हरिराई ।
  जाकी कृपा पंगु गिरि लंघै, अन्धे को सब कुछ दरसाई ।
  बहिरो सुनै, मूंग पुनि बोलै, रंक चलै सिर छत्र धराई ।
  सूरदास स्वामी करुनामय बारबार बन्दौं तिहि पाई ।
                    --सूरसागर,प्रथम स्कन्ध,पद सं०५६

२ यह मांगो संकरषन बीर ।
  चरन-कमल अनुराग निरंतर,भावत है संतन की भीर ।
  संग देहु तो हरि भक्तनको, वास देहु तो जमुना तीर ।
        डा०दीनदयाल गुप्त के परमानन्ददास पद संग्रह से पद सं०३७

रागादि विकारों से छुटकारा पाना असम्भव है[1]। मोह के जंजीर से वे हमेशा जकड़े रहेंगे। एक अन्य पद में गुरु-पाद-सेवा का भाव प्रकट करते हुए नन्ददास ने कहा है-- मैं अपना तन,मन,प्राण सर्वस्व गुरु को अर्पण कर उन्हीं के चरणों में सदैव रहना चाहता हूं। ईश्वर से मैं यही मांगता हूं कि वल्लभ-कुल का ही सेवक रहूं[2]। इसी प्रकार चरण-भक्ति को प्रकट करने वाले पद अन्य सम्प्रदाय के कृष्ण कवियों में भी उपलब्ध होते हैं,जिनका विवेचन अनावश्यक विस्तार होगा। हम केवल सम्प्रदाय निरपेक्ष मीराबाई के पाद-भक्ति के बारे में थोड़ा सा विवेचन करेंगे। मीराबाई चरण सेवा की महत्ता बताते हुए व्याकुल होकर कहती हैं-- हे भगवान् मैं आपकी शरण में आई हूं। अनेक तीर्थ स्थानों पर जाकर स्नान किया,परन्तु मन की मलीनता दूर नहीं हुई। केवल आपके चरण सेवा से ही यम के फन्दे से छुटकारा मिलेगा।

रामकाव्य

राम-कवियों में तुलसीदास ने भगवान राम,उनकी प्रतिमा, अन्य देवताओं, पार्षदों,भक्तों गुरु आदि की सेवा का अनेकश: वर्णन किया है। पादसेवन की महिमा का प्रदर्शन करने के लिए ब्रह्मा,विष्णु ,शिव अन्य देवता एवं सिद्ध मुनीश आदि राम की पाद सेवा करते हुए दिखलाए गए हैं[4]। सीता ने गिरिजा

---

1 तबहिं लगि बन्धन आगार,देह, गेह वरु नेह विचार।
तबहिं लगि चिढ़ अजर बेरी, मोह लौह की पाहनि बेरी।
जब लगि जन नहिं भये तुम्हारे, हे ईश्वर ब्रजराज दुलारे।
--नन्ददास : दसमस्कन्ध भाषा अध्याय २५

2 प्रात समै श्री वल्लभ-सुत को पुण्य पवित्र विमल यश गाऊं।
\+ \+ \+
रहौं सदा चरणन के आगे, महा प्रसाद को जूठन पाऊं।
नन्ददास यह मांगत हौं श्री वल्लभकुल को दास कहाऊं।
नन्ददास: नन्ददास ,पृ०३३१

(अगले पृष्ठ पर देखें)

और गणेश की सेवा का स्वयं निवेदन किया है[1]। वे गिरिजा के मन्दिर में भी जाते थे। तुलसीदास ने स्वयं भी अयोध्या, चित्रकूट, काशी आदि अनेक तीर्थों की यात्रा की थी। मानस की प्रस्तावना में संत समाज के उपमान रूप में प्रयाग की प्रशस्ति की गई है और वाल्मीकि ने भी तीर्थयात्रा को राम-भक्ति का साधन माना है[2]। गुरु की पाद सेवा के विषय में तो तुलसीदास सबसे आगे हैं। वे गुरु को भगवत्स्वरूप ही नहीं भगवान से भी श्रेष्ठ मानते हैं। इसी गुरु श्रेष्ठता तथा गुरु सेवा का उपदेश रामचरितमानस में वाल्मीकि के मुख से प्रकट हुआ है[3]। लक्ष्मण ने राम का और स्वयं राम ने गुरु विश्वामित्र की पाद-सेवा की है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि तुलसी साहित्य में पाद-सेवा के उदाहरण सर्वत्र मिल जाते हैं, क्योंकि तुलसी की अभीष्ट भक्ति दास्य भाव की थी। दास्यभाव की भक्ति के लिए आराध्य के चरणों में प्रीति और चरण-सेवा अनिवार्य है और

(पूर्व पृष्ठ की टिप्पणी ३,४)

३ मैं तो तेरी शरण परी रे रामा, ज्यूं जाणे त्यूं तार।

+ + +

मीरा दासी राम भरोसे, जम का फन्दा निवार।

—मीरा की पदावली, सं० परशुराम चतुर्वेदी

पद संख्या १३१, पृ० ४७

४ रा०च०मा० बाल०, ५४।३-४

---

१ रा०च०मा०, बाल० २३५।२, २३६।१

२ ,, , बाल० २।४, अयो० १२९।३

३ ,, अयो० १२९।४

यह चरण या पाद-सेवा भगवान के ही नहीं गुरु तथा भगवान के भक्तों, संतों और सज्जनों आदि के लिए भी कृष्ण-साहित्य में उल्लिखित है, जिसका विश्लेषण अनावश्यक विस्तार होगा ।

अर्चन

नवधा भक्ति का पांचवां अंग अर्चन है । वह भगवत् प्रेम और सिद्धियों की प्राप्ति का साधन है । भगवान के पर, व्यूह, विभव और अन्तर्यामी रूप का साक्षात्कार प्रत्येक व्यक्ति को प्रत्येक काल में और प्रत्येक स्थान पर सुलभ नहीं है । अतः व भक्ति साधना की आवश्यकता के अनुसार अर्चावतार के अर्चन का विधान किया गया है । जीव गोस्वामी ने कहा है कि विधि-विहित पूजा को अर्चन कहते हैं[1] । 'अर्चन' शब्द प्रतिमा पूजन का समानार्थी है । इस प्रकार हम कह सकते हैं कि प्रतिमा आदि पर पुष्प आदि अर्पित करने का कार्य जो भगवत्प्रीति का हेतु होता है, अर्चन कहलाता है ।

कृष्ण काव्य

कृष्ण काव्य में अर्चन का भी पूर्ण विधान है । सूरसागर के नवम स्कन्ध में अम्बरीष की कथा में सूर ने अम्बरीष की अर्चन-भक्ति का उल्लेख किया है[2] । भगवान के विराट रूप की आरती के वर्णन में भी सूर ने विश्वव्यापी भगवान की विश्वव्यापिनी पूजा का चित्र खींचा है--'जो ब्रह्म-ज्योति-रूप से घट-घट में व्याप्त है, सूर्य, चन्द्र,

---

1 अर्चनं विध्युक्त पूजा -- षट्सन्दर्भ--जीव गोस्वामी, पृ०५४१

2 सूर सा० नवम स्कन्ध, वें०प्रे०, पृ०६६

नक्षत्र, अग्नि सब उसी के प्रकाश से प्रकाशित हैं, उसी सर्वव्यापी भगवान की सम्पूर्ण लोक, नारद, सनकादि, प्रजापति, ब्रह्मा, देवता, मनुष्य और असुर सब मिलकर इस विश्व-आरती में सहयोग देते हुए पूजा करते हैं[1]। परमानन्ददास भी अपने मन से कहते हैं-- हे मन, धूप-दीप जोड़कर मंगल आरती से भगवान की पूजा कर। देख अब भ्रम की निशा दूर हो गई है और सवेरा हो गया है[2]। गोपी रूप में परमानन्ददास अपने इष्टदेव को कलेऊ अर्पण करने के लिए उनका आवाहन करते हैं और कहते हैं-- हे मोहन मैं तुम्हारी छाक लेकर आई हूं, तुम्हें बुलाते-बुलाते हार गई, तुम कहां हो? मैं रास्ता भूल गई थी। बड़ी कठिनाई से तुम्हारी खोज लगी। पूछते-पूछते यहां तक आ पाई हूं। उसी समय तुम्हारी वंशी का मधुर नाद मेरे कानों में पड़ा। देखो मेरे अंगों में पसीना आ गया और मेरा कंठ सूख गया है[3]। इस गोपी-वचन में परमानन्ददास का ही प्रेम-प्लावित हृदय मानसिक जगत में अन्योक्ति रूप से अपने इष्टदेव को अर्चन-भक्ति की भेंट दे रहा है। 'दशम स्कन्ध' में नन्ददास ने वरुण के द्वारा कृष्ण की पूजा कराई है[4]। यह अर्चन

---

१ नैननि निरखि स्याम स्वरूप।
रह्यौ घट-घट व्यापि सोई ज्योति रूप अनूप।
चरण सप्त पाताल जाके सीस है आकाश।
सूर, चन्द्र, नक्षत्र, पावक सर्व तासु प्रकाश।
--सूरसागर, द्वितीय स्कन्ध, वे०प्र०, पृ० ३८

२ मंगल आरती कर मनमोर, भरम निशा बीती भयो भोर
मंगल बाजत झालर, ताल, मंगल रूप
मंगल धूप दीप कर जोर, मंगल गावत सब विधि कोर
मंगल उदयो मंगल रास, मंगल बल परमानन्ददास।
--डा० गुप्त के परमानन्ददास संग्रह से, पद सं० ३३५

३ तुमको टेरि-टेरि मैं हारी।
कहां रहे अब लौं मन मोहन, लेहो न छाक तुम्हारी।
+ + +
परमानन्द प्रभु प्रीति जानि के साथ आलिंगन कीनी।
डा० गुप्त के परमानन्ददास पद संग्रह से पद सं० ८७

४ दशम स्कन्ध: नन्ददास, पृ० ३१८

भक्ति का सर्वोत्तम उदाहरण है ।

इस प्रकार उपर्युक्त विश्लेषित तथ्यों के आधार पर कहा जा सकता है कि कृष्ण कवियों ने भगवान कृष्ण की अर्चन भक्ति का उदाहरण, प्रतिमा-पूजन और मानसिक पूजन दोनों प्रकार से किया है और सगुणोपासकों की प्रतिमा-पूजन और निर्गुणोपासकों का मानसिक पूजन का सुन्दर मेल उपस्थित किया है । किन्तु इन लोगों ने प्रतिमा-पूजन को ही विशेष महत्व देकर भोग, शृंगार आदि का अधिक विधान किया।

राम काव्य

राम-कवि तुलसी ने नवधा भक्ति के अन्य साधनों की भांति अर्चन-भक्ति का भी उदाहरण अपनी रचनाओं में प्रस्तुत किया है । रामचरितमानस में कौशिल्या ने भगवान की मूर्ति की विधिवत् पूजा की है[1] । भरत ने शिव का अभिषेक किया है[2] । तुलसी ने राम के पूजन, आरती आदि को भक्ति का साधन माना है । इसी के अनुसार अगस्त्य और भरद्वाज से साक्षात् राम की पूजा कराई गई है[3] । स्वयं राम ने शिव की विधिवत् पूजा की है । सीता ने गिरिजा और गंगा का पूजन किया है । अर्चन प्रेमी भक्त्याचार्यों ने उस अन्न की निन्दा की और उस भोजन का निषेध किया जो भगवान पर चढ़ाया नहीं गया । भगवान को अर्पित करके ही भोजन, वस्त्र, भूषण, माला आदि का ग्रहण करना चाहिए[4] । तुलसी ने

---

१ रा०च०मा०, बाल० २०१।१-२
२ ,, , अयो० १२८।३
३ ,, अरण्य० १२।६
४ कृ० भ० २।२।१२

विनयपत्रिका में `अचा-विग्रह` की आरती का उल्लेख करके और रामचरित मानस में वाल्मीकि के मुख से अर्चन के इस रूप का समर्थन किया है[1]। `रामार्चन पद्धति` आदि में षोडशोपचार पूजन की व्यवस्था की गई है। अर्चन की महिमा को स्वीकार करते हुए भी तुलसीदास इसके सांगोपांग बाह्य-विधान के निरूपण में तल्लीन नहीं हुए और पाद-सेवन की भांति अर्चन को भक्ति के लिए अनिवार्य नहीं बताया। अर्चन `राममक्ति` की प्राप्ति का उपाय तो है, परन्तु अनिवार्य नहीं है। अर्चन के बिना भी राम का प्रेम और मोक्ष मिल सकता है। अर्चन साधना मानसिक भी हो सकती है, जैसा कि कृष्ण-काव्यान्तर्गत हम देख चुके हैं। अर्चन का साधन पक्ष पंचरात्र आदि के अनुसार क्रिया योग ही है, परन्तु कहीं-कहीं मानस-पूजा का भी विधान किया गया है[2]। इसका एक कारण यह है कि अर्चन के लिए उपादान संग्रह आदि की सुविधा सभी परिस्थितियों में सम्भव नहीं है। ऐसी दशा में अर्चन,भक्त मानस पूजा से ही भगवान की आराधना कर सकता है। मानस पूजा के महत्व का दूसरा कारण यह हो सकता है कि केवल बाह्य क्रिया-कलाप से ही राम-कृपा की प्राप्ति ह नहीं हो सकती है। उसके लिए चित्त की तल्लीनता आवश्यक है। इसी भावना से प्रेरित होकर तुलसी ने विनयपत्रिका में सांगरूपक के सहारे मानसिक आरती का विशद् निरूपण किया है[3]। तुलसीदास की इस मानसिक आरती पर

---

१ रा०च०मा० अरण्य०३५।४

२ भट सम्पर्क पीय गोस्वामी,पृ०

३ वि० ४७

निर्गुणोपासकों का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है, क्योंकि इस मानसिक आरती के `विज्ञान दीप` रूपक में ज्ञान मार्ग का ही निरूपण है । तुलसीदास की दृष्टि में भगवान राम ही अर्चनीय है । उनकी अर्चना हो जाने पर सभी देवों की अर्चना हो जाती है । अन्य देवों का अर्चन राम-भक्ति के साधन रूप में ही करणीय है । उनका स्वतंत्र पूजन त्याज्य है । इस प्रकार हम कह सकते हैं कि तुलसी-साहित्य में अर्चन के दो रूप मिलते हैं । एक तो प्रतिमापूजन या बाह्य पूजन क्रिया जो `रामार्चन पद्धति` में षोडशोपचार के अनुसार है । दूसरा अर्चन का भेद मानसिक अर्चन है, जिसका उद्देश्य पांचरात्र आदि भक्ति ग्रन्थों में भी मिलता है और निर्गुणोपासकों में तो इस मानसिक अर्चन का सर्वाधिक महत्व है, क्योंकि मानसिक अर्चन निर्गुण और ज्ञान मार्ग की वस्तु है । तुलसीदास ने मानसिक अर्चन का जो स्वरूप विवेचन किया है, वह अपने पूर्व ग्रन्थों एवं निर्गुणोपासकों के ही अनुसार ज्ञान-मार्ग की वस्तु है । उपर्युक्त दोनों अर्चन पद्धतियां तुलसी को मान्य हैं, किन्तु अन्तिम ज्ञानमार्ग की मानसिक अर्चन पद्धति की तरफ तुलसी अधिक झुके हैं, क्योंकि इसका बड़े विस्तार से रुचिपूर्वक सांग रूपक के सहारे समझाकर स्पष्ट विवेचन किया है ।

<u>वन्दन</u> -- भगवान के माहात्म्य को हृदय में धारण कर उनकी स्तुति, उनके सम्मुख नतमस्तक हो विनय धारण करना तथा उनको प्रणाम करना भगवान की वन्दन भक्ति है । बहुधा अर्चन और वन्दन दोनों के व्यापार साथ-साथ हुआ करते हैं । श्रीमद्भागवत में कहा गया है कि भक्त लोग जब अपने इष्टदेव के गुण और नाम का कीर्तन करते हैं, तब उनका हृदय प्रेम-रस में मग्न हो जाता है । वे विवश होकर उन्मत्तों की तरह कभी

रोते हैं, कभी हंसते हैं, कभी नाम का उच्चारण करते हुए गाते हैं और नाचने लगते हैं । वे समस्त सृष्टि को विराट पुरुष हरि का शरीर मानकर उनको प्रणाम करते हैं और हरि से भिन्न किसी भी प्राणी अथवा वस्तु को नहीं देखते[1] । श्री वल्लभाचार्य जी ने अपने कई ग्रन्थों का आरम्भ हरि की वन्दना से किया है[2] । अर्चन भक्ति की तरह वन्दन भक्ति में भी ईश्वर की महत्ता, भक्त की दीनता तथा ईश्वर के प्रति श्रद्धा के भावों का समावेश रहता है ।

कृष्ण काव्य

कृष्ण-कवियों के काव्य का एक अंश भगवान की वन्दन-भक्ति के भाव को प्रदर्शित करता है । विनय, भावना तथा स्तुति भावों को प्रकट करने वाले उनके पद वन्दन-भक्ति के ही उदाहरण कहे जायेंगे । वल्लभ सम्प्रदाय के सूरदास ने अपनी विवशता दिखाकर भगवान की कृपा प्राप्त करने के लिए कातर स्वर से प्रार्थना किया है-- हे प्रभो ! आपकी आज्ञा से मैं खूब नाचा । अब बस कीजिए ।

---

१ भागवत एकादश स्कन्ध, अध्याय २, श्लोक ४०-४१

२ नत्वा हरिं सदानन्दं सर्वसिद्धान्त संग्रहम् ।
बालबोधनार्थाय वदामि सुविनिश्चितम् ।
-- बालबोध षोडश ग्रन्थ : आचार्य वल्लभ
श्लोक १

इस प्रवृत्ति से मुझे छुट्टी दीजिए और मेरी अविद्या का नाश कीजिए[1]।
इसी प्रकार आत्मदीनता ईश्वर की महिमा तथा विनय क से भरे
सूरदास के बहुत से पद सूरसागर में भरे पड़े हैं। परमानन्ददास ने भी
विनीत भाव से प्रार्थना की है-- हे प्रभो! आप मुझे अपने चरण
सरोज का भ्रमर क्यों नहीं बना लेते हैं? मेरी विनीत प्रार्थना आप
सुन लीजिए। आपके कर-कमल, आतप से रक्षा करने वाले छत्र के
समान हैं। आपकी दृष्टि दया-भरी है। यह परमानन्द दास आपके
प्रेम का लोभी है। जिस पर आप कृपा करते हैं, उसको आप अपने
निकट बुला लेते हैं[2]। सूर तथा परमानन्ददास की भाँति नन्ददास ने भी
अपने कई ग्रन्थों को कृष्ण की वन्दना तथा स्तुति के साथ आरम्भ किया
है। 'रसमंजरी', 'मान मंजरी', 'रूप मंजरी', 'सिद्धांत पंचाध्यायी'
तथा 'दशम स्कन्ध-भाषा' ग्रन्थों में कवि ने प्रथम अपने इष्टदेव कृष्ण की

---

१ अब मैं नाच्यौ बहुत गोपाल।
  काम, क्रोध को पहिरि चोलना, कंठ विषय की माल।
  महामोह की नूपुर बाजत, निन्दा सब्द रसाल।
      +   +   +
  कोटिक कला काछि दिखराई, जल थल सुधि नहिं काल।
  सूरदास की सबै अविद्या दूरि करौ नन्दलाल।
  --सूरसा०, पहला खण्ड, पद सं०१५३

२ अपने चरन कमल को मधुकर मोहि कबै न करि हौ जू।
      +   +   +
  परमानन्द दास रस लोभी भाग्य बिना क्यों पावै।
  --डा० गुप्त के परमानन्ददास पद संग्रह से पद सं०५५

वन्दना की है । इन वन्दनाओं में उन्होंने कृष्ण के स्वरूप,सामर्थ्य तथा उनकी सर्वज्ञता का साम्प्रदायिक सिद्धांतों के अनुसार वर्णन किया है । 'रुक्मिणी मंगल' में उन्होंने गोविन्दरूप गुरु के चरणों की वन्दना की है तथा 'रासपंचाध्यायी' में भगवान के भक्त श्री शुकदेव जी की वन्दना की है । दशम स्कन्ध में भी नन्ददास की अर्चन और वन्दन भक्ति का स्वरूप देखने को मिलता है । भक्तों ने केवल अपने इष्टदेव के चरण और गुणों की ही वन्दना नहीं की,वरन् उन्होंने उनके विविध अंग,वस्त्र तथा कृत्यों की भी वन्दना की है । कृष्ण-वन्दना में कुंभन दास जी ने कृष्ण के पीताम्बर तथा वृन्दावन में उनके विचरण करने की स्तुति की है । अन्य अष्टछाप भक्तों ने वन्दन-भक्ति में अपने इष्टदेव श्रीकृष्ण की रस-शक्ति राधा तथा यमुना की भी वन्दना की है । राधावल्लभ सम्प्रदाय के प्रवर्तक स्वामी हित-हरिवंश का कथन है-- साधुओं की संगति करके कल्पवृक्ष कृष्ण भगवान की सेवा करो तो सच्चा सुख मिलेगा[1] । स्वामी हरिदास ने भी भगवान की वन्दना बड़ी श्रद्धा से की है । उनका कथन है--'कमल-नयन का हित करो, उनके सामने और हित फीका है । यह जन्म तो दो दिन का है । अतः बिहारी की सेवा के अतिरिक्त और मोक्ष पाने का कोई उपाय नहीं है[2] । मुसलमान कवि रसखान ने भी भगवान कृष्ण की वन्दना के

---

१ रमहिं राधु सत्संग में, भजहिं प्रेम रस भेव ।
  सुख चाहत हरिवंश हित, कृष्ण कल्पतरु सेव ।।
                    -- हितहरिवंश, ब्रजमाधुरी सार, सं० वियोगीहरि, पृ०८५

२ स्वामी हरिदास ब्रजमाधुरीसार सं० वियोगीहरि,पृ०१८६

साथ-साथ ब्रज,गोकुल,यमुना तथा उसके किनारे के कदम्ब वृक्ष एवं उसपर रहने वाले पक्षी तथा गोवर्द्धन पर्वत तक की पूर्ण श्रद्धा एवं तन्मयता से वन्दन किया है ।

रामकाव्य

रामकवियों में तुलसीदास ने भगवान राम की श्रद्धावनत वन्दना की है,क्योंकि तुलसी के मुख्य वन्दनीय राम ही हैं । किन्तु उनके द्वारा किए गए वन्दना का क्षेत्र बहुत व्यापक है । `रामचरितमानस` के प्रत्येक सोपान के आरम्भ में लिखित मंगल श्लोकों एवं उसकी प्रस्तावना में सरस्वती,गणेश,शिव-पार्वती आदि देवताओं, राम-नाम, वाल्मीकि, हनुमान, कौशल्या आदि भक्तों गुरु ब्राह्मणों और सन्तों एवं खलों की वन्दना की गई है[1] । असज्जनों की वन्दना में व्याज निन्दा है । अतएव वह भक्ति का अंग नहीं कहा जा सकता है । वन्दन का अर्थ स्तुति भी है । इस दृष्टि से `विनयपत्रिका` और `रामचरितमानस` में ग्रथित स्तुतियां विशेष द्रष्टव्य हैं । उनमें भक्ति,दर्शन और काव्य की त्रिवेणी का सरस प्रवाह है ।

तुलना और निष्कर्ष

उपर्युक्त तथ्यों के प्रकाश में यही कहा जा सकता है कि वन्दन का महत्व कृष्ण एवं राम दोनों धाराओं के कवियों में यथेष्ट मात्रा में विद्यमान है । कृष्ण काव्य में यह वन्दन अधिकतर भगवान कृष्ण के लिए और यदा-कदा गुरु और बहुत कम संत तथा सज्जन के लिए भी किया गया है, किन्तु रामकाव्य में तुलसी

---

१ रा०च०मा०, बा०का०४।१, ५।८

दास ने भगवान राम के साथ-साथ गणेश शिव, पार्वती आदि देवताओं तथा हनुमान जैसे भक्तों और ब्राह्मणों, गुरुओं, संतों यहां तक कि दुष्टों की भी वन्दना की है । इस प्रकार तुलसी का वन्दन-भक्ति के प्रति उदार तथा व्यापक किन्तु कृष्ण-कवियों का संकीर्ण दृष्टिकोण दृष्टिगत होता है ।

दास्य

'भगवान स्वामी हैं', 'मैं उनका सेवक हूँ' — अनन्य भक्त की इस अटल मति को दास्य कहते हैं[1] । इस प्रकार दास्यभाव एक मनःस्थिति है, अभिमान है । यद्यपि 'पाद-सेवन' और 'दास्य' दोनों में ही प्रेम, सेवा, आत्म दैन्य, भगवन्महिमा आदि विशेषताएं पाई जाती हैं, तथापि दोनों विधाओं में स्वरूप सम्बन्ध और साधन की दृष्टि से भेद भी है । दास्य आन्तरिक भाव है । बाह्य उपचार उसके लिए आवश्यक नहीं है । 'पादसेवनभक्ति' बाह्य क्रियाप्रधान है । भक्त की साधनावस्था में वह 'दास्य' का कारण हो सकती है और सिद्धावस्था में उसकी अभिव्यक्ति । दोनों में भावसम्बन्ध का भी भेद है । दास्य में स्वामि-सेवक भाव अनिवार्य है । किन्तु 'पाद-सेवन' में नहीं । 'पाद सेवन' के लिए बाह्य साधनों की अपेक्षा है, लेकिन दास्य के लिए नहीं, फिर भी दोनों में विरोध नहीं है । वे परस्पर पूरक हैं[2] ।

---

1 षट्सन्दर्भ— जीव गोस्वामी, पृ०६५४

2 डा० उदयभानु सिंह : 'तुलसी दर्शन मीमांसा', पृ०३०६

कृष्ण काव्य

कृष्ण-कवियों की रचनाओं में दास्यभाव दो स्थानों पर व्यक्त हुआ है। एक तो उनके विनय के पदों में, जहां आत्म दोष प्रकाशन, विनय, याचना, दीनता, समर्पण तथा भगवान की सर्व सामर्थ्य के भाव व्यक्त किए गए हैं। दूसरे दास्य-भाव का दर्शन उन स्थलों में होता है, जहां प्रिय कृष्ण के मिलने के सब उपाय व्यर्थ हो जाते हैं, तब गोपी रूप भक्त अशक्त हो करुण भाव से कृष्ण की शरण में आत्म विस्मृति कर देता है तभी भक्त को कृष्ण मिलन की व्याकुलता के बाद कृष्ण का संयोग सुख मिल पाता है।

सूर के विनय के लगभग सभी पदों में आत्मदीनता का भाव भरा हुआ है। कुछ पद उनके ऐसे भी हैं, जहां उनकी विनय एक मुंहलगे सेवक की विनय के समान प्रकट हुई है। उन पदों में उन्होंने विनोद एवं हठपूर्वक एक समर्थ स्वामी के अधिकारी सेवक के समान विनय की है। इन पदों में सूर ने दास की मांग दृढ़ता और अधिकार के साथ स्वामी के सामने रखी है। विद्वानों का सर्वमान्य मत है कि सूरदास के दैन्य भाव तथा दास्य भक्ति के पद वल्लभ सम्प्रदाय में दीक्षित होने के पूर्व के हैं, क्योंकि सम्प्रदाय में दीक्षित होने के बाद सूरदास ने केवल कृष्ण की लीलाओं का सरस गान किया ऐसा कि उनके दीक्षा-गुरु वल्लभाचार्य ने कृष्ण-लीला गायन की दीक्षा दी थी। परमानन्ददास की विनीत प्रार्थना में दास-भाव सन्निहित है। वे कहते हैं-- आप पर मेरा पूरा भरोसा है। आप तो दीन दयाल और पतित पावन हैं। आपकी शरण में आकर ऐसा कोई भी नहीं जिसे मौधाम मिला हो। आप पतित पावन और भक्तों का उद्धार करने वाले हैं। आपके इस यश ने मुझे आकर्षित कर

किया है । आपने गणिका आदि अनेक पापियों का उद्धार कर दिया । फिर ऐसा कौन सा कारण है कि इस दास को आपके द्वारा उद्धार नहीं प्राप्त हो सकता । नन्ददास की रचनाओं में सूर और परमानन्द दास की भांति विनय और दास्य भाव की भक्ति का परिचय नहीं मिलता है । 'दशम स्कन्ध-भागवत-भाषा' में उन्होंने ब्रह्मादि की कृष्ण-स्तुतियों में भगवान की महत्ता और भक्तों के लघुत्व भाव को प्रकट किया है, परन्तु आत्मदीनता, स्वदोष-प्रकाशन, और भगवान के प्रति प्रार्थना से भरे कवि के निजी भाव न तो उनके ग्रन्थों में हैं और न उनके पदों में ही । अपने गुरु विट्ठलनाथ जी के प्रति अवश्य उन्होंने कई पदों में दास्य भाव प्रकट किया है और वल्लभ कुल का सदा दास रहने की कामना की है । कुम्भनदास, कृष्णदास, चतुर्भुजदास, गोविन्दस्वामी तथा छीत स्वामी की उपलब्ध रचनाओं से ज्ञात होता है कि नन्ददास की भांति इन कवियों ने भी भगवान की दास्य भाव से भक्ति नहीं की थी । इसी प्रकार अन्य कृष्ण-सम्प्रदाय के कवियों में भी श्रीकृष्ण की दास्य भाव के पद बहुत ही कम मात्रा में मिलते हैं, जो नहीं के बराबर कहे जा सकते हैं । सम्प्रदाय से निरपेक्ष कृष्ण भक्त न मीराबाई में अवश्य ही दास्यभाव की भक्ति के दर्शन होते हैं । मीराबाई तो अपने को श्रीकृष्ण की दासी ही समझती थीं । एक पद में वे कातर स्वर से प्रार्थना करती हैं-- हे भगवन आप ही मेरे जीवन के आधार हैं । आपके अतिरिक्त इन तीनों लोकों में

---

१ तावै तुम्हरौ नीति भरोसो आवै ।

+ +

कारन कौन दास परमानन्द द्वारे बाप न पावै ।

'अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय' : डा० दीनदयालु गुप्त

पृ० ६०८

मेरा कोई आश्रय नहीं है, आपने मुझ दासी को क्यों भुला दिया[1] ।

रामकाव्य

रामकाव्य में दास्य-भक्ति को सभी भक्ति-सम्प्रदायों की तुलना में सर्वाधिक महत्व मिला । वास्तव में दास्य भक्ति का इतना अधिक प्रचार केवल रामकवियों के ही द्वारा हुआ और इन राम-कवियों में अकेले तुलसीदास को ही इसका महत्व है । तुलसीदास ने दास्य भक्ति की परिभाषा 'स्वामी सेवक' सम्बन्ध के साथ की है-- सो अनन्य जाके असि मति न टरइ हनुमन्त, मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत[2] । दास्य भक्ति के जो लक्षण ऊपर बतलाए गए हैं, वे भक्ति भाव के सामान्य लक्षण हैं । दास की भाँति सरल कर्मों का अर्पण, जिसका फल परमेश्वर प्रीति है 'दास्य' है । दास में अनन्य भाव, दैन्य, निःस्वार्थता, शुचि, सुशील और मनसा-वाचा-कर्मणा राम का सेवक होना चाहिए[3] । ये विशेषताएं तुलसीदास और उनके काव्य में वर्णित सभी भक्तों की हैं । दास्यभाव तुलसी के भक्ति सिद्धांत का मूलाधार है । अयोध्या के समस्त निवासी, राम के सखा, भरत, लक्ष्मण, हनुमान, जटायु, सुतीक्ष्ण, मनु, शतरूपा आदि और भगवान शिव भी राम के दास भक्त हैं । तुलसीदास ने वेद वाक्य की भाँति अपनी भक्ति के बारे में स्पष्ट घोषणा की है--

---

१ हरि मेरो जीवन प्रान अधार ।
+ +
मीरा कहे मैं दास रावरी, दीज्यौं मती बिसार ।
--पं० परशुराम चतुर्वेदी : मीराबाई की पदावली, पृ० २

२ रा०च०मा० ४४४ किष्कि० ।३

३ ,, अरण्य० १०।१, ७।८६

सेवक-सेव्य भाव बिनु भव न तरिअ उरगारि ।
भजहु राम-पद पंकज, अस सिद्धांत बिचारि ।।[1]

पिता गुरु आदि के रूप में भगवान की भावना भी दास्य की है । जिस प्रकार पिता-गुरु आदि पुत्र, शिष्य आदि के शुभचिन्तक, रक्षक और आदेशक होते हैं, उसी प्रकार भगवान भी हैं । जिस प्रकार पुत्र शिष्य आदि पिता, गुरु गुरु आदि के कृपाभाजन और आज्ञापालक होते हैं, उसी प्रकार भक्त भी हैं ।

जब तक जीव भगवान का दास नहीं हो जाता है, तब तक उसे अनेक दु:ख सहने पड़ते हैं । यह तुलसी का व्यक्तिगत अनुभव है[2] । दास्याभिमान मात्र से सिद्धि मिल जाती है । भजन-प्रयास की कोई आवश्यकता नहीं । कौन ऐसा मूढ़ है, जो दास्य भाव प्राप्त कर लेने पर प्रभुत्व की कामना करे । दास्य की महिमा का कारण मनोवैज्ञानिक है । यह लौकिक स्वाभाविक नियम है कि संसार के सभी स्वामियों को सेवक प्रिय होता है[3] । राम को भी अपना दास परम प्रिय है[4] । वे उसके दोषों पर ध्यान नहीं देते, उसकी रुचि का

---

1 रा०च०मा०, उत्तर० ११९क

2 जब लगि मैं न दीन, दयालु तैं, मैं न दास तैं स्वामी ।
तब लगि जो दुख सहेउं कहेउं नहिं जद्यपि अंतरजामी ।
विन० ११३।२

3 सब के प्रिय सेवक यह नीती । मोरें अधिक दास पर प्रीती ।
—उत्तर० ७।१६।४

4 रामहिं सेवक परम पियारा ।
— रा०च०मा० अयोध्या०२१९।१

विशेष ख्याल रखते हैं । उनके शत्रु को शत्रु समझकर उसका प्रतिकार करते हैं । वे सेवक के वशवर्ती हैं[1] । भगवान का दास हो जाने पर भक्त निश्चिन्त हो जाता है, उसका पोषण-रक्षण भगवान स्वयं करते हैं[2] । इसलिए वह दास्य भक्ति का वरण करता है[3] ।

तुलना और निष्कर्ष

दास्य भाव की भक्ति के पद आलोच्यकालीन कृष्ण एवं राम दोनों धाराओं के कवियों की रचनाओं में मिलते हैं, किन्तु ये दास्य भाव के पद कृष्ण-कवियों में आत्म दोष प्रकाशन, विनय, याचना, दीनता समर्पण तथा भगवान की सर्व सामर्थ्य के भावों के रूप में ही प्रकट हुए हैं । उनके पदों में दास्य भाव के बाह्यरूपों का ही व्यक्तीकरण हुआ है । उनमें वह आन्तरिक सूक्ष्मता तथा भावों की गहराई नहीं है जो राम कवि तुलसी की रचनाओं में मिलती है । वास्तव में कृष्ण-भक्ति सम्प्रदायों में दास्य भाव से कृष्ण की उपासना को महत्व नहीं दिया गया था । कृष्ण-कवि कृष्ण की रूप-माधुरी पर ही मुग्ध थे । उनके सामने कृष्ण की बाल तथा किशोरावस्था की सरस लीलाएं ही प्रधान थीं । कृष्ण का ऐश्वर्य पूर्ण एवं यशस्वी रूप कृष्ण-कवियों को अभीष्ट नहीं था । वल्लभ सम्प्रदाय में बालकृष्ण तथा अन्य सभी सम्प्रदायों में किशोर कृष्ण

---

१ मानत सुख सेवक सेवकाई । सेवक बैर बैरु अधिकाई ।।अयो० २१९।१
ऐसेउ प्रभु सेवक बस अहई । भगत हेतु लीला तनु गहई ।।बाल० १४४।४
२ सेवक सुत पति मातु भरोसे । रहइ असोच बनइ प्रभु पोसे ।।किष्कि० ३।२
३ हु०००आलो० रा०भ०भा०, अयो० २०४

व का ही महत्व था । यद्यपि वल्लभ सम्प्रदाय के कवियों में दास्य भाव के पद मिल जाते हैं, जिनके बारे में विद्वानों में मतभेद है । अधिकांश विद्वान यह मानते हैं कि वल्लभ सम्प्रदाय के सूरदास की रचनाओं में जो विनय के पद दास्य भक्ति के रूप में मिलते हैं वे सूरदास के सम्प्रदाय में दीक्षित होने के पूर्व के हैं, क्योंकि सूरदास जी की वार्ता के अन्तर्गत सूर की शरणागति के प्रसंग में ८४ वार्ता में लिखा है कि जब सूरदास जी गऊघाट पर श्री वल्लभाचार्य जी के समक्ष गए और आचार्य जी को विनय भाव का यह पद --"प्रभु हौं सब पतितन को टीको ।" सुनाया तो आचार्य जी ने उनसे कहा-- "जो सूर ह्वै कें ऐसो घिघियात काहे को है ।"[१] इस वाक्य को आधार मानकर अधिकांश विद्वान यह कहते हैं कि वल्लभाचार्य को भक्ति दास्य की न थी । इसलिए उन्होंने सूर को विनय के पद रचने से मना किया और भगवान को सरस लीला-गान करने का उपदेश दिया । डा० दीनदयाल गुप्त का मत ठीक इसके विपरीत है । उनका मत है कि वल्लभाचार्य स्वयं दास्य भक्ति के विरुद्ध नहीं दिखाई पड़ते हैं और सूर ने सम्प्रदाय में दीक्षा लेने के बाद भी दास्य भाव के पदों की रचना की है । उनका कथन है--" वल्लभाचार्य की शरण में आने से पहले सूरदास विनय के पद बनाते और गाते रहे होंगे तथा सम्भव है केवल दास्य भाव से ही भगवान की उपासना करते रहे होंगे, परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि शरणागति के बाद उन्होंने विनय और

---

१ अष्टछाप, कांकरोली, पृ०१२

दास्य भक्ति के पद नहीं बनाए । आचार्य जी ने स्वयं ईश्वर की महिमा के सामने अपनी अकिंचनता प्रकट की है । सूर ने वल्लभ सम्प्रदाय में आने के बाद भी दास्य भक्ति के पदों की अवश्य रचना की, परन्तु उन पदों में से यह छांटना कि अमुक पद शरणागति से पहले के हैं और अमुक बाद के कठिन है। सूर को छोड़कर परमानन्द दास की रचना में भी दास्य-भक्ति को प्रकट करने वाले पद विद्यमान हैं।[१] उक्त विचारों को देखते हुए यही कहा जा सकता है कि वल्लभ सम्प्रदाय में चाहे दास्य भक्ति को विशेष महत्व न मिला हो, किन्तु दास्य भक्ति का अस्तित्व अवश्य था और कम से कम इस भाव की भक्ति का विरोध और पूर्ण बहिष्कार तो नहीं था, क्योंकि वल्लभ सम्प्रदाय में वात्सल्य, सख्य, मधुर एवं दास्य सभी प्रकार की भक्ति की मान्यता थी, जैसा कि सम्प्रदाय के ग्रन्थों एवं सम्प्रदायगत कवियों की रचनाओं से प्रकट होता है । अन्य सम्प्रदाय के कवियों में दास्य भाव की भक्ति का अत्यल्प अंश मिलता है, क्योंकि राधावल्लभीय, हरिदासी चैतन्य तथा निम्बार्क सम्प्रदाय के कवि पूर्णतः माधुर्य भाव के उपासक थे । इनमें दैन्य की भावना या कृष्ण से विनय की भावना केवल विरह की व्याकुलता में ही दिखायी पड़ती है, जो दास्य भाव की भक्ति के अन्तर्गत नहीं देखी जा सकती है ।

दास्य भाव का पूर्ण विकास राम-कवि तुलसी की रचनाओं में मिलता है । वास्तव में दास्य भाव की महानता

---

१ डा० दीनदयाल गुप्त : `अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय`, पृ०६०३

तथा व्यापकता केवल तुलसी के ही कारण है। तुलसी की भक्ति का मूलाधार दास्य भक्ति ही है। यही उनकी परा या मुख्या भक्ति कही जा सकती है। इस भक्ति के सामने तुलसीदास मोक्ष को भी ठुकरा देते हैं। यह दास्य भक्ति भगवान के चरणों का प्रेम पाने का साधन और स्वयं साध्य भी है,क्योंकि तुलसीदास जन्म-जन्मान्तर भगवान के चरणों की दास्य भाव से भक्ति ही करने की कामना करते हैं। इनके सामने स्वर्ग अपवर्ग का सभी सुख तुच्छ है। तुलसी का राम के सभी सम्बन्धों, वात्सल्य सख्य, माधुर्य एवं दास्य में से केवल दास्य भाव ही स्वीकृत है। माधुर्य का तो उन्होंने पूर्ण विरोध किया है। इसका कारण राम का चरित्र भी है। राम का चरित्र ही दास्य भाव का प्रतीक है। राम स्वयं माता,पिता, गुरु एवं श्रेष्ठजनों के प्रति दासभाव से श्रद्धावनत हैं साथ ही अपने से छोटों तथा परिजनों के सामने ऐश्वर्यपूर्ण एवं मर्यादा तथा नैतिक चरित्र से युक्त हैं,जिससे केवल दास्य भाव की ही भक्ति की जा सकती है। उनका हर कार्य स्वामी तथा मालिक की तरह महिमा मण्डित तथा लोक-कल्याणकारी है। उसमें वात्सल्य,सख्य तथा माधुर्य के लिए वह स्थान नहीं है जो कृष्ण चरित्र में है। फलत: कृष्ण-चरित्र की दास्यभक्ति की अनुपयुक्तता के कारण कृष्ण-कवियों में दास्यभाव का वह विकास और वह महत्व नहीं मिल सका जो राम कवियों में मिला।

सख्य

लौकिक व्यवहार में जो मित्रता का आदर्श उपस्थित किया जाता है, उसी आदर्शभाव को सख्यभक्ति में भक्त, भगवान के प्रति रखता है। वह अपने सखा भगवान से कोई स्वार्थ नहीं

रखता । वह केवल मित्रभाव से अहैतुक प्रेम-व्यवहार करता है ।
श्रीमद्भागवत, दशम स्कन्ध के चौदहवें अध्याय में ब्रह्मा कृष्ण की
स्तुति करते हैं । उस स्तुति में भागवतकार का कहना है-- ब्रज के
निवासी उन्[१] नन्दगोपों को धन्य है, जिनका परमानन्द पूर्ण सनातन
ब्रह्म मित्र है । भागवत के इन वाक्यों में कृष्ण भक्तों ने सखा भक्ति
का स्वरूप निरूपित किया है । वल्लभ सम्प्रदाय में अष्टछाप के भक्तों
को कृष्ण का अष्ट सखा माना जाता है और इसी विश्वास को
लेकर उनको कृष्ण के अष्टसखाओं के अलग-अलग नाम भी दे दिए गए हैं ।
'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' से विदित है कि अष्टछाप के भक्तों
में से कुछ भक्त वस्तुत: मानसिक जगत में सख्य भक्ति का अनुभव करते हुए
श्रीनाथ जी के स्वरूप के साथ मित्र का सा भी व्यवहार करते थे ।
गोविन्दस्वामी और चतुर्भुजदास की जीवनी में सख्य प्रेम को प्रकट करने
वाले कई प्रसंग जैसे खेल में कृष्ण स्वरूप श्रीनाथ जी को कंकड़ी मारना,
घोड़ा बनकर उनके साथ खेलना, वन में उनके साथ गोचारण करते हुए
अनेक अन्य बालखेल करना आदि आते हैं । कृष्ण की बाल लीला के
अन्तर्गत बालकों के विविध खेल, गोचारण, माखन-चोरी आदि प्रसंगों
का जहां इन भक्तों ने चित्रण किया है, वहां उनकी सख्य भक्ति का
ही परिचय मिलता है ।

<u>कृष्णकाव्य</u>

कृष्ण कवियों की रचनाओं में कृष्ण की बाल
और यौवनकाल की आनन्दमयी लीलाओं का सख्य भक्ति के रूप में विशेष
चित्रण है । अष्टछाप कवियों में बाल-सखा प्रेम के अनूठे चित्र हैं । जिनमें

---

१ 'भागवत' दशम स्कन्ध, अध्याय १४ श्लोक ३२

निष्काम भक्ति का शुद्ध आनन्दात्मक रूप ही है । ऐश्वर्यशाली भगवान के रूप का चित्रण इन कवियों ने बहुत ही कम किया है । सूरसागर में सूर ने दासभाव से अनेक बार श्याम-मनोहर का स्मरण करते हुए पद लिखे हैं । सुदामा के प्रसंग में हमें सख्य भक्ति का ही उदाहरण मिलता है । सुदामा-दरिद्र-भंजन नामक प्रसंग में भगवान ने अपने मित्र सुदामा के साथ एक सच्चे मित्र के समान ही आचरण किया । उसका वर्णन सूरदास इस प्रकार करते हैं -- कृष्ण ने दूर से ही अपने बालसखा सुदामा को देखा । सुदामा बहुत कमजोर दिखाई पड़े । वे फटे पुराने मलिन वस्त्र पहने हुए थे । अपने मित्र की दीन दशा देखकर उनकी आँखें भर आईं । वे अपनी शय्या से उठे और तुरन्त उनका स्वागत करके अपने आसन पर बिठाया । कुशल प्रश्न करने के बाद सुदामा को भेंट के चिउड़े चबाने लगे । मुट्ठी भर चावल खाते ही सुदामा की गरीबी दूर हो गई । दूसरी बार खाने के लिए हाथ बढ़ाया तो रुक्मिणी ने रोका[१] । सूरदास ने सख्य भक्ति के अन्तर्गत भगवान कृष्ण के बालोचित खेल, आंखमिचौनी भंवरा-चकडोर, कन्दुक तथा गोचारण समय के कृष्ण, गोप, ग्वालों के परस्पर व्यवहार और उनके प्रीतिभोज आदि का वर्णन सख्य प्रेम के उमगते हुए भावों के साथ पूर्ण तन्मयता से किया है । सख्य भाव की जो तन्मयता सूरदास में है वह कृष्ण कवियों में केवल परमानन्ददास में ही दृष्टिगोचर

---

१ दूरहिं ते देख्यौ बलबीर ।

अपने बाल-सखा जु सुदामा, मलिन बसन और छीन सरीर ।

+ + +

सूर सुरति तंदुल चबात ही कर पकर्यौ कमला भई भीर ।

--सू०सा०, पद सं० ४८४६

होती है, अन्य कवियों में नहीं । परमानन्ददास की वात्सल्य भक्ति सूर की सख्य भक्ति के कुछ निकट अवश्य पहुंची है । सख्य भक्ति का रसास्वादन लेते हुए पूर्ण तन्मयता के साथ परमानन्ददास अपने को गोप रूप में चित्रित करते हुए गोचारण तथा छाक के पदों में अपने सखा कृष्ण से कहते हैं--' हे गोपाल ! तेरे साथ बैठकर खाने में मुझे जो आनन्द हुआ उसका वर्णन मैं नहीं कर सकता । कई दिन से इस प्रकार का सुख खाने में मुझे नहीं मिला था, यद्यपि हम सदैव एक साथ कुमुद वन में रहते हैं । अन्त में परमानन्ददास कहते हैं कि प्रभो, हास्य विनोद द्वारा अपने सखाओं को आनन्द सागर में डुबो देते हैं[1] । नन्ददास के उपलब्ध काव्य में कुछ पद कृष्ण की गोचारण तथा छाक, लीला के भी हैं परन्तु उनमें कवि की प्रगाढ़ सख्य भक्ति का परिचय सूर तथा परमानंद-दास की भांति नहीं मिलता है । अपनी पुस्तक 'सुदामा चरित' में नन्ददास ने सख्य भक्ति का महत्व दरसाते हुए लिखा है कि सुदामा के समान सखाभाव से जो भगवान की पूजा करेगा, उसे हरि सब सुख देंगे[2] ।

---

१ आजु दधि मीठो मदन गोपाल ।
भावत मोहिं तिहारो झूंठो चंचल नयन विसाल ।
आके पात बनाये दोना दिये सबन को बांट ।
जिननहिं पाये सुनो रे भैया, मेरी हथेरी चाट ।
बहुत दिनन हम बसे कुमुद बन कृष्ण तिहारे साथ ।
ऐसो स्वाद हम कबहुं न चाख्यो सुन गोकुल के नाथ ।।
आपुन हंसत हंसावत ग्वालन मानस लीला रूप ।
परमानन्द प्रभु हम सब जानत तुम त्रिभुवन के भूप ।
--डा० गुप्त के परमानन्ददास पद संग्रह से पद सं०४३२

२ नन्ददास : 'सुदामाचरित', परिशिष्ट, पृ०४५४

मीराबाई ने कृष्ण भगवान को पति और स्वामी मानकर ही पूजा की थी, उनकी कविताओं में सख्य भक्ति के पद प्रायः नहीं मिलते हैं ।

रामकाव्य

राम काव्यान्तर्गत तुलसी के साहित्य में सख्य भक्ति के भी उदाहरण मिल जाते हैं । तुलसी ने भक्त और भगवान के जिन विविध सम्बन्धों की कल्पना की है, उनमें से सख्य भी एक है । राम ने सुग्रीव को मित्र और अमित्र के लक्षण बतलाए हैं[1]। उनकी प्रतिज्ञा `सखा सोच त्यागहु बल मोरे । सब बिधि करब काज मैं तोरे`[2]।। उनके सभी सखाओं के प्रति चरितार्थ हुई है । तुलसी साहित्य में राम के सखाभक्तों का भी व्यवहार दासवत् है । इसलिए उसको मित्रवृत्ति की सख्य-भक्ति नहीं कही जा सकती है । `गीतावली` में राम को जगाने वाले राजकुमारों और `रामचरितमानस` में राम को धनुष यज्ञ -भूमि दिखलाने वाले बालकों का राम विषयक प्रेम मित्र वृत्ति का किंचित् निदर्शन माना जा सकता है[3]। जिस प्रकार सूर ने अपने आराध्य कृष्ण को हठपूर्वक चुनौती दी है और काफी खरी-खोटी सुनाई है, उसी प्रकार तुलसीदास ने

----

१ रा०च०मा०, किष्कि०७।१-३

२ ,, ,, ७।५

३ गी० १।३६-४०, रा०च०मा० बाल०२२५।४

भी विनयपत्रिका में अपने आराध्य भगवान राम को काफी खरी-खोटी सुनाई है, कड़ी फटकार बताई है और उलाहनापूर्ण चुनौती दी है--

(अ)परम पुनीत संत कोमल चित, तिनहिं तुमहिं बनि आई ।
तौ कत विप्र व्याध गनिकहिं तारेहु कछु रही सगाई ॥[1]

(ब)हौं अबलौं करतूति तिहारिय,चितवत हुतो न रावरे चेते ।
अब तुलसी पूतरो बांधिहै, सहि न जात मोपै परिहास एते॥[2]

तुलना और निष्कर्ष

ऊपर विश्लेषित तथ्यों के आधार पर यही कहा जा सकता है कि कृष्ण एवं रामकाव्य दोनों में सख्य भक्ति के उदाहरण प्रचुर मात्रा में मिलते हैं,किन्तु कृष्णकवियों ने सख्यभाव को दास्य से उत्तम माना है,क्योंकि कृष्णकाव्य में रागानुगा भक्ति को वैधी से श्रेष्ठ माना गया है और सख्य भाव वस्तुत: रागानुगा भक्ति के संबंधरूपा भेद का एक मुख्य भाव या सम्बन्ध है । यद्यपि उसकी गणना नवधा भक्ति में भी की जाती है । इसी रागानुगा भक्ति के ही अन्तर्गत कृष्ण कवियों ने सख्यभाव को दास्य से प्रधानता दी और सख्य भाव के सभी रूपों खेल, चुनौती,खरी-खोटी सुनाना तथा कड़ी फटकार आदि मित्र के सभी कार्यों का भगवान को मित्रवत् मानकर वर्णन किया है । इस वर्णन में कृष्ण कवियों ने भगवान कृष्ण के साथ जरा भी संकोच नहीं किया है । उनके

---

१ वि०प० १९२।२

२ ,, २४१।५

साथ लौकिक मित्र के व्यवहारों का ही यथार्थ वर्णन किया है । उस वर्णन को पढ़ने से जरा भी कृष्ण तथा सखाओं में अन्तर नहीं मालूम होता है । इसके विपरीत तुलसीदास की दास्यभक्ति दासवत् है । तुलसीदास भगवान राम को उस प्रकार खरी-खोटी नहीं सुनाते जिस प्रकार सूरदास भगवान कृष्ण को सुनाते हैं । वास्तव में दास्यभक्ति ही तुलसी की भक्ति का केन्द्रबिन्दु है, जिसके चारों ओर सख्य आदि अन्य भक्ति चक्कर लगाती हैं और चक्कर लगाते लगाते अन्त में उनका पर्यवसान दास्य भक्ति में ही होता है, क्योंकि तुलसीदास मर्यादावादी थे और मर्यादावादी होने के कारण भक्त और भगवान के सभी संभव सम्बन्धों में सेव्य-सेवक भाव को ही सर्वोपरि मानते थे । दास्य भक्ति की श्रेष्ठता का मनोवैज्ञानिक आधार तुलसीदास के अनुसार यह है कि भगवान की महिमा और अपने देव के प्रति निरन्तर जागरूक दास भक्त भक्ति के आदर्श से कभी च्युत नहीं हो सकता । सखा के द्वारा जाने अनजाने भगवान के अनादर की सम्भावना बनी रह सकती है ।

<u>आत्मनिवेदन</u>

नवधा भक्ति की नवीं विधा आत्मनिवेदन है भक्तों एवं भक्त्याचार्यों ने भक्ति निरूपण में भगवान के प्रति भक्त के आत्म समर्पण, आत्म निवेदन, शरणागति या प्रपत्ति का महत्व प्रतिपादित करते हुए भक्त के दैन्य, श्रद्धावत्ता, सर्वधर्माधिकामपरित्याग, सर्व-सम्बन्ध-विच्छेद और भगवान के प्रति सर्वथा अनन्य भाव पर विशेष बल दिया है ।[1]

---

१ सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज-- गीता १८।६६

भक्त के द्वारा भगवान के प्रति सर्वतोभावेन अपने शरीर आदि का एकमात्र उसी के भजनार्थ किया गया अर्पण आत्मनिवेदन है । इस आत्म निवेदन में भक्त का कार्य स्वार्थ रहित होता है । उसकी सारी चेष्टाएं भगवान के लिए होती हैं । उसके सभी साधन और साध्य भगवान के लिए अर्पित हो जाते हैं । इस प्रकार भगवान को आत्म-समर्पण कर देने के बाद भक्त चिन्तामुक्त हो जाता है[1] । वह जो कुछ करता है, वह भगवान के लिए|उसके कल्याण का सारा उत्तरदायित्व भगवान को ही सम्भालना पड़ता है ।

भागवतकार ने भक्त की जिस मानसिक भावना को 'आत्मनिवेदन' कहा है, उसी को पांचरात्र आगम में शरणागति कहा गया है । मैं अपराधों का घर हूं, अकिंचन हूं, निराश्रय हूं, तुम्हीं मेरे उद्धार के लिए उपाय बनो--भगवान के प्रति प्रार्थी की इस प्रकार की भावना को शरणागति कहा गया है[2] । यद्यपि शरण शब्द का सामान्य प्रयोग आश्रयस्थल, आश्रय की क्रिया और आश्रयदाता व्यक्ति इन तीनों ही अर्थों में किया जाता है तथा भक्तिशास्त्रीय चिन्तन क्षेत्र में उसका अर्थ है-- इष्ट की प्राप्ति कराने वाला एवं अनिष्ट का निवारक आश्रयणीय चेतन[3] । बौद्ध धर्म दर्शन में शरणगमन की महिमा सर्वत्र ही स्वीकार की गई है[4] । 'गीता'

---

१ को करि सोचु मरै तुलसी, हम जानकी नाथ के हाथ बिकाने ।कवि०७।१०५
२ अहि० सं० ३७।३०-३१

३ गीता ६।१८ पर रा०भा०

४ बौद्ध धर्मदर्शन,पृ०३०६

में भी भगवान ने 'शरणं गच्छ' और 'शरणं व्रज' का आदेश किया है । बाल्मीकि के विभीषण ने भी कहा है-- भवन्तं सर्वभूतानां शरण्यं शरणं गत: । इसी प्रकार का भाव रामानुजाचार्य का भी दिखाई पड़ता है ।

कृष्ण काव्य

आत्मनिवेदन शरणागति अथवा प्रपत्ति को प्रकट करने वाले अनेक पद आलोच्यकालीन कृष्ण कवियों की रचनाओं में मिलते हैं । आत्मदोष तथा अकिंचनता का प्रकाशन करते हुए, अभिमान के त्याग, दीनता, तथा आत्मनिवेदन सहित भगवान से शरण पाने की आर्त विनय से सूरसाहित्य पूर्ण है । अष्टछाप के अन्य सात कवियों ने भी आत्मनिवेदन या शरणागति का भाव प्रकट किया है, क्योंकि वल्लभसम्प्रदाय भगवान के अनुग्रह या पुष्टिमार्ग पर ही विश्वास करता है । परन्तु उनके पदों में प्रपत्ति का वैसा पूर्ण और प्रभावशाली रूप नहीं है । इन भावों के द्योतक अष्टछाप के कुछ पद, पीछे 'दास्य भक्ति' के अन्तर्गत दिए जा चुके हैं । यहां इन कृष्ण-भक्तों की आत्म-समर्पणमयी शरणागति का कुछ विवेचन किया जायगा ।

भगवान से शरण पाने की प्रार्थना करते हुए सूरदास जी कहते हैं-- हे प्रभो मैं आपकी शरण आया हूं । मुझसे कोई साधन तो बना नहीं है । अपने पाप कर्मों के भारी भार से भयभीत हूं । आपके पतित-पावन विरद के सहारे आपके द्वार पर आ पड़ा हूं, अब तो

आपको ही शरण का भरोसा है । शरण आए की लज्जा राखिये[1] तथा 'हे प्रभु मेरे गुण अवगुणों की ओर ध्यान न दीजिए । मैंने योग,यज्ञ,जप,तप,व्रत आदि कोई शुभ कर्म नहीं किया । आपके भजन का भी मुझे बल नहीं है, परन्तु आप दयानिधि ,सर्वज्ञ,सर्वप्रकार से समर्थ तथा अशरणों को भी शरण देने वाले हैं । संसार के मोह समुद्र से भगवन ! मेरा निस्तारण करके शरण में लीजिए[2] । सूर के इन पदों में प्रपत्ति के गोप्तृत्व वरण, आत्मनिवेदन तथा कार्पण्य भावों का पूर्ण रूप से प्रकाशन हुआ है । भगवान की अचिन्त्य शक्ति की महिमा तथा शरणागत की आर्त पुकार पर तुरन्त रक्षा करने वाले भगवद् अनुग्रह का वर्णन सूरदास एक अशक्त,दीन चिड़िया की स्थिति में बैठकर करते हैं 'भगवान ! हम अनाथ अशक्त संसार वृक्ष की डाल पर भयभीत बैठे हैं, एक ओर काल पारधी बाण सन्धान रहा है, दूसरी ओर संसृति यातना का बाज छिपा हुआ है कहां जाएं, दोनों ओर भारी भय है । अब प्राणों की रक्षा कौन कर सकता है । अब तो भगवान आप की ही शरण है । धन्य है प्रभु !

---

१ शरण आये कि लाज उर धारिये ।

साध्यो नहिं धर्म,शील,शुचि,तप व्रत कछु, कहा मुख लै तुम्हें विनय करिये ।

\+ + +

सूर अवगुण भरयो आइ द्वारे परयो तकी गोपाल अब शरण तेरो ।

सू०सा०,प्रथम स्कन्ध,वें०प्रे०,पृ०६

२ प्रभु मेरे गुण अवगुण न विचारौ ।

कीजै लाज शरण आये की रविसुत त्रास निवारौ ।

\+ +

मोह समुद्र सूर बूड़त है, लीजै भुजा पसारि ।

—सू०सा०,प्रथम स्कन्ध,वें०प्रे०,पृ०६

आपने शरणागत की आर्त पुकार सुन ली, सर्प ने पारधी को डस लिया, उसके हाथ से बाण छूटकर बाज के जा लगा और हम अनाथों की रक्षा हो गई[1]। इसी प्रकार सूरदास के भगवान की शरण-महिमा के अनेक पद सूरसागर में भरे पड़े हैं। सूरदास की भांति परमानन्ददास ने भी आत्मनिवेदन के अनेक पद रचे हैं। शरणागति की महिमा का वर्णन करते हुए परमानन्ददास जी कहते हैं— जो भगवान की शरण में गए, उनको भगवान ने अंगीकार कर लिया। उनके सब विघ्नों को भगवान ने हटा दिया और उन्हें अभय कर दिया। भगवान अपने शरणागत भक्त के सदा बस में रहते हैं[2]। एक अन्य पद में परमानन्ददास का

----

१ अब के राखि लेहु भगवान ।

हम अनाथ बैठे द्रुम डरिया पारधि साधे बान ।

ताके डर भाजे चाहत है ऊपर दुक्यौ सचान ।।

दुहूँ भांति दुःख भयौ आनि यह कौन उबारै प्रान ।

सुमिरत ही अहि डस्यौ पारधी कर छूटे संधान ।

सूरदास सर लग्यौ सचानहिं जय जय कृपानिधान ।।

--सू०सा०, प्रथम स्कन्ध, वें०प्रे०, पृ०७

२ अब डरु कौन कौ रे मैया ।

गढ़ गरबौ गोकुल में बैठे, हमरो मीत कन्हैया ।

कहत ग्वाल जसुमति के आगे हैं त्रिभुवन को रैया ।

तोर्यौ सकट पूतना मारी, को कहि सके गवैया ।

नांचहु गावहु करहु कुलाहल चारहु धौरी गैया ।

परमानन्ददास को ठाकुर सब प्रकार सुख दैया ।

--डा० गुप्त के परमानन्ददास पद संग्रह से पद नं० ५

कृष्ण को अपना परम काम्य तथा परम रक्षक जानकर केवल उन्हीं की प्रार्थना करना ही उचित समझते हैं। इसी प्रकार नन्ददास जी कहते हैं "हे भगवान जब तक लोग तुम्हारी पूर्ण शरण में नहीं आते तभी तक वे रागादि चोरों से सताए जाते हैं, तभी तक उनको देह, गृह तथा

---

१ जाको तुम अंगीकार कियौ ।

तिनके कोटि बिघन सब टारे अभय प्रतापु दियौ ।

बहु सासना दई प्रह्लादै, सबहिं निसंक कियौ ।

निकसे खंभ मध्य ते नरहरि आपुन राखि लियौ ।

दुर्वासा अम्बरीष सतायौ सो पुनि शरण गह्यौ ।

सखि प्रतिज्ञा भक्त मोहन उनहीं पर पैठ दयौ ।

मृत भये हरि सबहिं जिवाए, दृष्टिहिं अमृत पियौ ।

परमानन्द भगत के बस, सो उपमा कौन बियौ ।

-- डा० गुप्त के परमानन्ददास पद संग्रह से

पद सं० ३९०

सांसारिक मोहादि के व्यापारों के बन्धन बांधते हैं और तभी तक मन को वासनाएं घेरती हैं।[1] एक पद में कृष्णदास आत्मोत्सर्ग तथा आत्महीनता प्रकट करते हुए कहते हैं कि हे दयालु मूर्ति भगवान! मुझे केवल आपके चरणों की शरण है। मैं कुबुद्धि काम क्रोधादि विकारों की दावाग्नि से जल रहा हूं। आप अपनी कृपादृष्टि के नव घन से इस अग्नि का शमन करके मुझे जिला लीजिए। आपके चरण-नखमणि की कान्ति अन्तःकरण में प्रकाश देने वाली है। हे प्रभु! कृष्णदास को केवल आप ही का सहारा है।[2]

---

१ हे सुन्दरवर नन्दकिशोर, रागादिक तबहिं लगि चोर।
तबहिं लगि बन्धन आगार, देह गेह अरु नेह विचार।।

\+ \+ \+

तबलौं मननि वासना छये, जब लगि तुम्हरे नाहिन भये।
—नन्ददास : दशम स्कन्ध, पृ० २६७

२ तिहारे चरन की ही सरन।
राजत राजत दयालु मूरति रसिक गिरिधर धरन।
काम क्रोध दा दाव दाह्यौ कुबुधि लाग्यौ करन।
कृपा दृष्टि जिवाइ नवघनस्याम अमृत बरन।
निरखि नखमनि जोति तेज मुदित अन्तःकरन।
कृष्णदासनि हेतौं बल बिरद बल निधि सरन।
—अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, पृ० ६७५

रामकाव्य

राम काव्यान्तर्गत तुलसीदास की रचनाओं में आत्मनिवेदन का पूर्णभाव प्रस्फुटित हुआ है । आत्मनिवेदन या शरणागति की छः विधाएं बतलाई गई हैं--

षोढा हि वेद विदुषो वदन्त्येनं महामुने ।
आनुकूल्यस्य संकल्पः प्रातिकूलस्य वर्जनम् ।
रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्ववरणं तथा ।
आत्मनिक्षेपकार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः[1] ।।

इन छः विधाओं का मनोवैज्ञानिक क्रम है । अतः इन्हें शरणागति के सोपान या अंग कहना भी असंगत नहीं है तुलसीसाहित्य में आत्मनिवेदन के इन छः प्रकारों के उदाहरण मिल जाते हैं--

(१) आनुकूल्यस्य संकल्प

यह भक्त की वह भावना है, जिसमें भगवान के प्रति सदैव अनुकूल बने रहने की निश्चयात्मक अभिव्यक्ति की जाती है । संकल्प का यह भाव शरणागति की मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि है । इससे भक्त का चित्त अहंकारादि से मुक्त और सत्वगुण युक्त होकर उसको भगवत प्रसाद का पात्र बनादेता है । तुलसी के अनुसार इस प्रकार की भक्ति करने वाला साधक भगवान के प्रति अनुकूलता का भाव रखकर भगवान को सर्वत्र सभी प्राणियों में व्याप्त देखता है

---

१ अहि० सं० ३७।२७-२८

और समस्त संसार को सीयराममय देखने लगता है-- सीय राममय सब जग जानी । करौं प्रनाम जोरि जुग पानी ।[1] यहां यह ध्यान देने योग्य है कि जहां व भक्त की भजनीय के प्रति अनुकूलता का भाव होगा, वहां 'शरणागति' होगी किन्तु जहां भक्त के प्रति भगवान के आनुकूल्य की व्यंजना होगी उसे अनुग्रह कहा जायगा । तुलसीदास ने इसी अन्तर को रामचरितमानस में स्पष्ट किया है ।[2]

(२) प्रातिकूल्य वर्जनम्

भगवान के प्रतिकूल व्यक्ति, भावचर्चा वस्तु आदि से विमुख रहना ही 'प्रातिकूल्य वर्जनम्' है । इसी भावना की पराकाष्ठा पर पहुंचकर तुलसी ने कहा है --'जाके प्रिय न राम बैदेही । सो छांड़िये कोटि बैरी सम जद्यपि परम सनेही ।'[3] भक्त भूलकर भी भगवान की आज्ञा का उल्लंघन नहीं कर सकता है । प्राकृतिक पदार्थों के शाश्वत गुणों में उलट फेर हो सकता है, परन्तु भक्त अपने आराध्य के प्रतिकूल नहीं जा सकता । कौशल्या की भरत विषयक धारणा इसी भाव का पोषण करती है--

---

१ रा०च०मा० बाल०, ८।१

२ ,, अयो० २६७।१, ३०७।२

३ विनय० १७४।१

बिधु बिष चवइ स्त्रवइ हिमु आगी । होइ बारि चर बारि बिरागी ॥
भए ग्यानु बरु मिटइ न मोहु । तुम्ह रामहिं प्रतिकूल न होहु ॥
मत तुम्हार येहु जो जग कहहीं । सो सपनेहुं सुख सुगति न लहहीं ॥[1]

भरत की ग्लानि भी प्रातिकूल्य वर्जन की भावना का उत्कृष्ट उदाहरण है । आदर्श भक्त भगवान की प्रतिकूलता का त्याग करके ही संतुष्ट नहीं होता, वह भगवान के विरोधी समझे जाने वालों का भी वर्जन करता है ।[2] भगवत्सम्बन्धी प्रतिकूलता का त्याग करने वाला भक्त विकास की उच्चतर भूमि पर पहुंचकर समस्त विश्व के प्रति विरोध भाव का भी सर्वथा त्याग कर देता है--

निज प्रभुमय देखहिं जगत,केहि सन करहिं विरोध[3] ।

(३) रक्षा प्रतीति विश्वास

भक्त का यह दृढ़ विश्वास है कि भगवान रक्षक है, वे सदा से भक्तों की रक्षा करते आए हैं और करेंगे । भगवान को भक्ति के आलम्बन के रूप में ग्रहण करने के लिए भक्त के मन में इस महाविश्वास का होना आवश्यक है । तुलसी की इस प्रतीति का अनेक स्थलों पर वर्णन होता है--

---

१ रा०च०मा०,अयो०,१६६।१-२

२ तज्यो पिता प्रह्लाद, विभीषन बंधु भरत महतारी ।
बलि गुरु तज्यो कंत ब्रजबनितन्हि भये मुदमंगलकारी ॥
--विनय० १७४।२

३ रा०च०मा०, उत्तर० ११२ ख

(क) सुमिरत श्री रघुबीर की बाहैं ।

कल्पलताहु की कल्पलताबर, कामदुहहु की कामदुहाई ।

सरनागत-आरत-प्रनतनि को दै दै अभय पद ओर निबाहैं ।

करि आईं, करिहैं, करती हैं, तुलसिदास दासनि पर छाहैं ।

(ख) आरत के हित नाथ अनाथ के रामु सहाय सही दिन गाढ़ें ।

(ग) पाप तें, सापतें, तापतिहूं ते सदा तुलसी कहं सो रखवारो ।[1]

(४) <u>गोप्तृत्वे वरणम्</u>

भक्त भगवान के रक्षक-रूप की कल्पना मात्र करके ही संतोष नहीं कर लेता । वह उसका अपने रक्षक-रूप में वस्तुत: वरण भी करता है । यह मानव मात्र की सहज प्रवृत्ति है कि वह कष्टों से त्राण पाने के लिए समर्थ की ही शरण में जाता है । भक्त की दृष्टि में तो सर्वसमर्थ भगवान ही वरणीय है । तुलसीदास ने इसी भाव को अनेक प्रकार से अनेक स्थलों पर प्रकट किया है ।[2]

१(क) गी०७।१३।१,८-९

(ख) कवि० ७।५४

(ग) हनु० १९

२ ताहि तें आयो सरन सबेरें ।

तुम सम ईस कृपालु परमहित पुनि न पाइहौं हेरें ।

यह जिय जानि रहौं सब तजि रघुबीर भरोसे तेरें ।

तुलसिदास यह बिपति बागुरो तो सों बनै निबेरे ।

--वि० १८७।१-४

(५) आत्मनिक्षेप

जब भक्त गोप्ता के रूप में भगवान का वरण कर लेता है, तब वह मनसा-वाचा-कर्मणा अपने को तथा अपने सर्वस्व को भगवान के चरणों में अर्पित कर देता है। उसकी इस दशा को आत्म-निक्षेप (आत्म समर्पण) कहते हैं--

मन को वचन को करम को तिहूं प्रकार
तुलसी तिहारो तुम साहिब सुजान हौ।[१]

तुलसीदास ने आत्म समर्पण के साथ-साथ दैन्य की भी मार्मिक अभिव्यक्ति की है--

जेहि गुनते बस होहु रीझि करि सो मोहिं सब बिसर्यो।
तुलसिदास निज भवन द्वार प्रभु दीजे रहन पर्यो ॥[२]

(६) कार्पण्यम्

अत्यन्त दीनता को कार्पण्य कहते हैं। भक्त विशेषकर तुलसीदास जैसा दासभक्त भगवान को परम महान् और अपने को परम दीन मानकर उसके प्रति आत्मनिवेदन करता है। यों तो तुलसी ने अपनी सभी कृतियों में अपने तथा अपने वर्णनीय भक्तों के कार्पण्य का

---

१ हनु० १५
२ विनय० ८९।५

विशद् निरूपण किया है, किन्तु उनकी 'विनय-पत्रिका' तो उनके कार्पण्य का ही निदर्शन है। काव्य की जो रमणीयता, भक्ति रस का जो प्रवाह, कला की जो मर्मस्पर्शिता, तुलसी की काव्य निरूपक पंक्तियों में है, वह उस महामहिम भक्तकवि की अलौकिक उत्कृष्टता का ज्वलन्त प्रमाण है। इस दैन्य निवेदन में कहीं तो तुलसी ने भक्त की हीनता, असमर्थता, पाप आदि पर ही विशेष बल दिया है[1] और कहीं भक्त विषयक हीनता की तुलना में भगवान की महिमा का भी समानरूप से अतिरंजित स्थापन किया है[2]।

इसके अतिरिक्त डा० उदयभानुसिंह ने अपने शोधप्रबन्ध 'तुलसीदर्शन-मीमांसा' में तुलसीदास की[3] आत्मनिवेदन भक्ति की कतिपय विशेषताओं पर प्रकाश डाला है, जो निम्न हैं--

---

१ तऊ न मेरे अघ अवगुन मानिहैं।
  जौ जमराज काज सब परिहरि इहै ख्याल उर आनिहैं।
  चलिहैं छूटि पुंज पापिन के, असमंजस जिय जानिहैं।
  + + +
  ज्यों त्यों तुलसिदास कोसलपति अपनायेहि पर बनिहै।
  --वि०प० ९५

२ वि०प० ११४।१-५

३ डा० उदयभानुसिंह : 'तुलसी दर्शन मीमांसा', पृ०३१५,३१६

तुलसी और उनके द्वारा निबद्ध सभी पात्रों में शरणागति की भावना भरपूर है। उसके लिए अनन्य भाव आवश्यक है। उसमें मानसिक और कायिक (वाचिक-समेत) का कोई भेद नहीं है। सभी भक्त मनसा, वाचा, कर्मणा पूर्णतः भगवान केशरणागत है। विशिष्टाद्वैतमत में भक्ति और प्रपत्ति दो भिन्न मोक्ष साधन के रूप में स्वीकृत हैं। अष्टांगवान् और साधन सप्तकजन्य भक्ति-योग सभी के लिए सम्भव नहीं हैं। अतएव जो वेदपाठ,मंदिरादि का निर्माण और तीर्थाटन आदि नहीं कर सकते उन असमर्थ जनों के लिए प्रपत्ति योग का विधान किया गया है। तुलसीदास को इस प्रकार का कोई भेद मान्य नहीं है। वे भक्ति और प्रपत्ति को अभिन्न मानते हैं। उनकी दृष्टि में `प्रपत्ति' ,`भक्ति'का अनिवार्य धर्म है। जो भगवान के शरणागत नहीं हुआ वह भक्त है ही नहीं। यद्यपि तुलसी वर्णाश्रम धर्म के सबल समर्थक हैं तथापि उनके द्वारा प्रतिपादित हरि-भक्ति-पथ स्त्रियों के लिए वर्जित नहीं है। उनके राम एक और लक्ष्मण को भक्ति योग का उपदेश करते हुए वर्णाश्रम-धर्म, अर्चन आदि की आवश्यकता पर बल देते हैं तो दूसरी और शबरी को इन सब आचारों से स्वतन्त्र भक्ति का भी निर्देश करते हैं। यह उनका उदार दृष्टिकोण है। उन्होंने नाम भक्ति एवं नाम शरणागति को जो गौरव प्रदान किया है, वह उनकी दृष्टि-व्यापकता की ओर भी पुष्टि करता है।

कहीं-कहीं पर तुलसी ने चार प्रकार के उपायों की चर्चा की है। `रामचरितमानस' में उन्होंने चारों युगों में भव-तरण के चार भिन्न साधन बतलाए हैं[1]।`कवितावली' में भी

---

१ रा०च०मा०, उत्तर०१०४।१-२

उन्होंने कर्म, ज्ञान और उपासना के अभाव में कलियुग के लिए चतुर्थ मार्ग के अवलम्बन का संकेत किया है[1]। 'दोहावली' में भी उनका यह मार्ग-चतुष्टय सम्बन्धी विचार व्यक्त हुआ है--

कर मठ कठमलिया कहै ग्यानी ग्यान विहीन ।
तुलसी त्रिपथ विहाइ, गो राम दुआरे दीन ।।[2]

इन सब से यही निष्कर्ष निकलता है कि तुलसी को मोक्ष के चार उपाय मान्य हैं । कर्म, ज्ञान, भक्ति और प्रपत्ति । किन्तु डा० उदयभानु सिंह का विचार इससे भिन्न है । वे अपने शोध-प्रबन्ध 'तुलसी दर्शन मीमांसा' में लिखते हैं-- मोक्ष के वस्तुत: दो ही उपाय हैं-- ज्ञान और भक्ति । अन्य उपायों का अन्तर्भाव इन्हीं दो में से ही जाता है । जहां इन दोनों के अंगों या साधनों का मोक्षोपाय रूप में वर्णन हुआ है वहां तुलसी का उद्देश्य उनका गौरव प्रदर्शित करना ही रहा है । कर्म तो ज्ञान और भक्ति का साधन होने के कारण साधन का ही साधन है । प्रपत्ति भी तुलसी को स्वतन्त्र उपाय के रूप में मान्य नहीं है, जहां कहीं भी उन्होंने सैद्धान्तिक रूप से मोक्षोपायों का निरूपण किया है, वहां प्रपत्ति का उल्लेख नहीं है । यह भी ध्यान देने की बात है कि तुलसी के सम्पूर्ण साहित्य में 'प्रपत्ति' या प्रपन्न शब्द कहीं भी नहीं आया है । यदि प्रपत्ति को वे स्वतन्त्र मोक्ष मार्ग के रूप में मानते तो उसका

---

१ कवि० ७।८४
२ दो० ६६

उस रूप में उल्लेख अवश्य करते । यद्यपि उन्होंने आत्म-निवेदन[1] का व्यवहार भी कहीं नहीं किया है तथापि 'श्रवणादिक नवभक्ति' कह देने से उनकी आत्म निवेदन विषयक मान्यता सिद्ध हो जाती है । 'सरन' और 'सरनागत' का प्रयोग उन्होंने बारम्बार किया है,[2] किन्तु यह 'सरन' शब्द भक्ति से भिन्न प्रपत्ति मार्ग का पर्याय नहीं है । यह भक्ति की ही एक विशेषता है, उसका अनिवार्य अंग है । भक्ति द्रुत-चित्त की भगवदाकारता है । भगवान के प्रति परम प्रेम और आत्म समर्पण अर्थात् भगवत् शरणागति, उस प्रेम की आवश्यक शर्त है । तुलसी ने भक्ति के अतिरिक्त प्रपत्ति या शरणागति सरीखे किसी उपाय की विशेषताओं का अलग से कहीं कोई उल्लेख नहीं किया है और न तो भक्त ही को उन विशेषताओं को जो प्रपत्ति के प्रतिकूल पड़ती हैं, आवश्यक ही बतलाया है । दूसरी ओर प्रपत्ति-निरूपक आचार्यों द्वारा प्रतिपादित प्रपत्ति की सभी विशेषताएं उनकी भक्ति के अन्तर्गत आ गई हैं । जहां कहीं भी उन्होंने भक्ति का व्यवस्थित निरूपण किया है, वहां इस कथन की सार्थकता देखी जा सकती है[3] ।

तुलना और निष्कर्ष

वैधी नवधा भक्ति के अन्तिम भेद 'आत्म-निवेदन' भक्ति का स्वरूप कृष्ण एवं राम दोनों धाराओं के कवियों की रचनाओं में देखा जा सकता है । जैसा कि ऊपर के विश्लेषित

---

१ रा०च०मा०,अरण्य० १६।४

२ ,, ,अयो०१३०।२, किष्कि० ३०।१, सुन्दर० २२,लंका०११०।६

३ डा० उदयभानु सिंह : 'तुलसी दर्शन मीमांसा',पृ०३१०

तथ्यों के आधार पर प्रकट है किन्तु कृष्ण कवियों में यह 'आत्म-निवेदन' की भक्ति भागवत की नवधा भक्ति और उसी के अनुसार वल्लभाचार्य द्वारा व्याख्यायित भक्ति के नौ साधन के माध्यम से आई है और इन कवियों ने उसी का पूर्णतः अनुकरण और अनुसरण करते हुए आत्म-निवेदन का अर्थ भगवद्-अनुग्रह या पुष्टिमार्ग लिया है, जिसका प्रवर्तन आचार्य वल्लभ ने किया था । यह मार्ग भगवान को सर्वभावेन पूर्णतः समर्पण करके भगवान की कृपा का ही भरोसा रखता है और उसके अतिरिक्त अन्य साधनों को व्यर्थ मानता है । भगवान की इस कृपा के लिए सभी साधन व्यर्थ हैं । समस्त प्रयत्न असफल है । इसके लिए केवल भगवान को, भक्त अपने सभी कार्यों और भावों को निराश्रित की भांति समर्पित कर देता है और ऐसे पूर्ण समर्पित या पूर्ण शरणागति में आए हुए भक्त को भगवान स्वयं प्रयत्न करके अपनी कृपा या अनुग्रह से अपना लेते हैं । ऐसा कृष्ण भक्तों का विश्वास है । रामकवि तुलसीदास ने भी आत्मनिवेदन के इन्हीं प्रकारों का अपने साहित्य में विवेचन किया है, किन्तु उनका आत्मनिवेदन भागवत से प्रभावित होते हुए भी रामानुजाचार्य के प्रपत्ति या शरणागति के निकट है । तुलसीदास ने रामानुज के ही प्रपत्ति मार्ग के अनुसरण पर प्रपत्ति को भक्ति का अनिवार्य अंग बतलाया । तुलसीदास के अनुसार भक्ति की प्राप्ति के लिए भगवत्प्रसाद आवश्यक है और भगवत्प्रसाद के लिए भगवान के प्रति दैन्य पूर्ण आत्मसमर्पण । यह दैन्यपूर्ण आत्मसमर्पण वैष्णव आचार-निष्ठा के माध्यम से है । इस प्रकार कृष्ण कवियों का आत्मनिवेदन असाधित भगवान की तरफ से यत्नसाध्य है, किन्तु रामकवि तुलसी का आत्मनिवेदन केवल एक दैन्यपूर्ण और

भक्ति की ओर से यत्न साधित है । भक्त में दैन्य के साथ-साथ आभार-निष्ठा का भी होना आवश्यक है ।

राम-काव्य की मौलिक उद्भावना

तुलसी नवधा भक्ति :— ऊपर मैंने भागवत के अनुसार राम-काव्यान्तर्गत तुलसी साहित्य में प्राप्त नवधाभक्ति का विवेचन किया और यह निर्णय लिया कि कृष्ण कवियों की भांति राम कवि तुलसीदास को भी भागवत की नवधाभक्ति मान्य है और उसके विभिन्न अंगों का निरूपण भी उन्होंने विभिन्न अवसरों पर यथास्थान किया है, परन्तु एक ही स्थान पर उसकी पूर्ण विवेचना नहीं की गई है । यह गौरव केवल अध्यात्म रामायण की नवधाभक्ति को ही दिया गया है[1] । यही एक नवधा भक्ति है जिसका व्यक्तिगत रूप से प्रतिपादन तुलसी ने 'शबरी-भक्ति योग' के में अवसर किया है । डा० बदरीनारायण श्रीवास्तव ने तुलसीदास द्वारा शबरी भक्ति योग में प्रतिपादित नवधा भक्ति को तुलसीदास की मौलिक कल्पना माना है[2] । मैं आंशिक रूप से डा० बदरीनारायण जी के मत से सहमत हूं । वास्तव में तुलसीदास की 'शबरी भक्ति योग' की नवधाभक्ति तुलसी की मौलिक रचना होते हुए भी अध्यात्म रामायण से प्रभावित है तथा कुछ बातों में साम्य रखता है जब कि कुछ अन्य बातों

---

१ रा०च०मा० अरण्य०३५।४--३६।४

२ डा० बदरीनारायण श्रीवास्तव : 'रामानन्द सम्प्रदाय तथा हिन्दी साहित्य पर उसका प्रभाव', पृ०४०५-६

में वैषम्य के आधार पर मौलिक भी है । अब हम राम काव्यान्तर्गत तुलसी की नवधाभक्ति का विवेचन करेंगे । रामचरित मानस के 'शबरी-भक्ति-योग' में तुलसीदास ने राम के मुख से शबरी के प्रति नवधा भक्ति का उपदेश कराया है जो निम्न है--

नवधा भक्ति कहौं तोहि पाहीं । सावधान सुनु धरु मनमाहीं ।
प्रथम भगति संतन्ह कर संगा । दूसरि रति मम कथा प्रसंगा ।
गुरुपदपंकज सेवा तीसरि भगति अमान ।
चौथि भगति मम गुन गन करइ कपट तजिगान ॥
मंत्र जाप मम दृढ़ बिस्वासा । पंचम भजनु सो बेद प्रकासा ॥
छठ दमसील बिरति बहुकर्मा । निरत निरंतर सज्जन धर्मा ॥
सातवँ सम मोहि मय जग देखा । मोतें संत अधिक करि लेखा ॥
आठवँ जथा लाभ संतोषा । सपनेहुँ नहिं देखइ परदोषा ॥
नवम सरल सब सन छल हीना । मम भरोस हियँ हरष न दीना ॥[1]

तुलसी नवधा भक्ति का पहला साधन सत्संग है । सत्संग के सम्बन्ध में तुलसीदास ने दो बातें बहुत महत्व की कही हैं--एक तो यह है कि सत्संग 'मन लाई' किया जाए और दूसरी यह कि वह 'बहुकाल' तक किया जाए । यदि मन लगाकर बहुत समय तक सत्संग किया जाय तो उसका असर होगा और हमें लाभ पहुंचना अवश्यम्भावी है । वे विरले ही भाग्यवान है जो स्वल्प सत्संग से ही कृत-कृत्यता प्राप्त कर लेते हैं । सामान्य जीवों के लिए तो यही उचित है कि वे सत्संग करते जायं । तीसरी ध्यान देने योग्य बात यह है कि प्रस्तुत सन्दर्भ में तुलसी ने

---

१ रा०च०मा० अरण्य०,३५।४, ३६।४

सत्संग आदि को भक्ति साधन न कहकर स्वतन्त्र भक्ति ही कहा है । चौथी बात यह है कि सत्संग को तुलसी ने भक्ति साधनों के निरूपण में यत्र-तत्र सर्वत्र ही प्रमुख स्थान दिया है । कृष्ण काव्य में सत्संग को स्वतन्त्र भक्ति का साधन उस प्रकार से नहीं माना गया है, जिस प्रकार तुलसीदास ने माना है, किन्तु कृष्ण कवियों ने भी सत्संग की महिमा से सम्बन्धित विपुल पदों की रचना की है, जिनका विश्लेषण करना अनभीष्ट विस्तार होगा ।

(२) दूसरा साधन रामकथा में रति है -- मानस के मंगलाचरण में ज्ञान साधन के प्रसंग में और संतों के लक्षण बतलाते समय तुलसी ने उसे यथेष्ठ गौरव दिया है । कृष्ण कवियों ने भी कृष्ण लीला वों के श्रवण और कीर्तन को अत्यधिक महत्व दिया है । तुलसीदास की नवधाभक्ति का यह साधन कृष्ण काव्य के श्रवण कीर्तन साधन में अन्तर्भुक्त किया जा सकता है, अन्तर इतना ही है कि तुलसीदास ने रामकथा के श्रवण कीर्तन पर जोर दिया है और कृष्ण कवियों ने कृष्ण की लीला के श्रवण और कीर्तन पर क्योंकि राम का चरित्र कथा चरित्र है जब कि कृष्ण चरित्र लीलात्मक है ।

(३) तीसरा साधन गुरु-सेवा है -- गुरु की सेवा का महत्व तुलसीदास ने सर्वत्र बड़े जोरदार शब्दों में वर्णित किया है और बताया है कि गुरु की सेवा करने से गुरु के प्रति श्रद्धा जागृत होती है और अन्त में वही गुरु सेवा साधन से व्यक्ति भगवान की भक्ति प्राप्त करता है । कृष्ण कवियों ने भी इसी भाव को लेकर अनेक पदों की रचना की है, जिसका विवेचन पिष्टपेषण मात्र होगा ।

(४) चौथा साधन है कपट त्याग कर राम का गुण गान करना --

गुणगान भी राम के नाम रूप,गुण लीला तथा धाम का ज्ञान है । तुलसीदास ने राम के गुण गान के लिए निष्कपट भाव पर विशेष बल दिया है । तुलसी की दृष्टि उन कलयुगी भक्तों पर है, जिन्होंने जनता को ठगने के लिए भी भक्त का वेष धारण कर रखा था । इसीलिए तुलसीदास का उपदेश है कि जब तक निश्छल मन से भजन नहीं किया जायगा तब तक राम प्रसन्न नहीं होंगे । स्पष्ट है कि तुलसीदास का यह साधन कृष्ण कवियों की नवधा भक्ति के कीर्तन साधन का ही रूपान्तर है । अन्तर इतना ही है कि कृष्ण कवियों ने भगवान कृष्ण की लीला का कीर्तन करने का उपदेश दिया है, जब कि रामकवि तुलसीदास ने राम के गुणगान पर जोर दिया है ।

(५) वेद विहित राम मन्त्र का दृढ़ विश्वास पूर्वक जप पांचवां साधन है । वेद से तुलसीदास का तात्पर्य उपनिषद्,पुराण आदि आप्त ग्रन्थों से है,जिनमें राम मन्त्र का निरूपण किया गया है । इस वेद विहित युक्त कथन का प्रयोजन तत्कालीन तांत्रिकों आदि के भूत प्रेतादि विषयक मंत्र जप का विरोध करना है । भूत गण का भजन तुलसीदास की दृष्टि में त्याज्य है । तुलसीदास का भक्ति पथ श्रुति सम्मत है, अतः भक्ति के मन्त्र जप आदि साधन भी श्रुति सम्मत है ।

मंत्र जप का नाम-भक्ति से घनिष्ठ सम्बन्ध है । तुलसीदास ने भगवान राम की नाम-भक्ति को विशेष गौरव दिया है । तुलसीदास की समस्त कृतियों का एक प्रधान प्रतिपाद्य

राम नाम महिमा भी है । `रामचरित मानस` की प्रस्तावना और `कवितावली` तथा `विनयपत्रिका` के अनेक पदों में उसका विशेष रूप से निरूपण किया गया है । भगवान राम के नाम की महिमा अपार है । वह इतनी अगम है कि राम भी उसका गुणगान नहीं कर सकते ।

आलोच्यकालीन कृष्ण-कवियों की रचनाओं में भी नाम जप का उल्लेख है किन्तु उस जप का उतना महत्व नहीं है, जितना रामकवि तुलसी की रचनाओं में मिलता है । यह नाम जप भागवत की नवधा भक्ति के `स्मरण` साधन का ही एक रूप है । इस प्रकार हम कह सकते हैं कि कृष्ण कवियों ने भागवत के अनुसरण पर जिस `स्मरण` भक्ति को महत्व दिया उसी को रामकवि तुलसी ने नाम जप के रूप में गौरव प्रदान किया ।

(6) `शबरी -भक्ति योग` में प्रतिपादित छठां साधन है इन्द्रिय दमन, बहुकर्मों से विरति और सज्जन धर्म का निरन्तर पालन । जब तक इन्द्रियां विषयों में लिप्त हैं तब तक भक्ति नहीं हो सकती । इसलिए दमन-शीलता आवश्यक है । यह भी सज्जन धर्म ही है । वह नाना प्रकार के नैमित्तिक कर्मों से विरत होकर लोक यात्रा के लिए आवश्यक कर्म ही करणीय है । `सज्जन धर्म` में वर्णाश्रम धर्म, भागवत धर्म और संत लक्षण की सभी व्याख्याएं समाहित हैं । इस साधन में भी तुलसी ने साधना के आभ्यन्तर पक्ष और सार्वजनिक मानवीय गुणों को महत्व दिया है । कृष्ण कवियों की रचनाओं में ऊपर वर्णित साधन भक्ति के नवधा साधन के अन्तर्गत नहीं माने गए हैं, किन्तु भक्ति के साधन के साधनक्रम में उनका महत्व अवश्य ही प्रतिपादित किया गया है ।

(७) समस्त जगत को राममय देखना सातवां साधन है । यह रामोपासक का एक आवश्यक लक्षण है । यह साधन साधक के चित्त को राग-द्वेष आदि से मुक्त करके उसे भक्ति के योग्य निर्मल बनाता है । समस्त जगत अपना हो जाता है । विरोध का अवसर नहीं रहता है । यह वैष्णव धर्म की उदार भावना है । इस दृष्टि से साधक का सारा जगद्व्यवहार ही भक्ति रूप हो जाता है । जिस प्रकार रामकवि तुलसीदास ने समस्त जगत को राममय देखने का उपदेश दिया है, उसी प्रकार कृष्ण कवियों ने भी समस्त जगत को कृष्ण स्वरूप जानने का दृढ़ विश्वास प्रकट किया है ।
(८) आठवां साधन यथालाभ संतोष, पर-दोष को न देखना है । कामनाएं ही दुःख का कारण होती हैं । संतोष के बिना उनका नाश असम्भव है । जब साधक को यह ज्ञात होता है कि यह शरीर प्रारब्ध वश है, सब कुछ ईश्वरेच्छा से हो रहा है, तब उसका असन्तोष और उसकी आशा अभिलाषाएं दूर हो जाती हैं । सर्वात्म भाव का उदय होने पर सब को राममय देखने पर उसे सर्वत्र राम का ही रूप दिखाई पड़ता है । दूसरों के दोष उसकी दृष्टि में आते ही नहीं । पर दोष दर्शन से अन्तःकरण मलिन हो जाता है । उसको निर्मल रखने के लिए एवं उसकी मलीनता के अपसारण के लिए यह साधन अपेक्षित है । पहले जो पर-छिद्र के देखने की बात कही थी वह संतों की मध्यम कोटि की थी । दोष पर दृष्टि का न जाना चित्त की उससे भी अधिक विकसित अवस्था है । कृष्ण कवियों ने

परदोष देखना, दूसरों की निन्दा न करना तथा जो कुछ
प्राप्त हो उसपर संतोष करना और सब कुछ कृष्ण को अर्पित
करके उसी में सन्तुष्ट रहने का निरन्तर उपदेश दिया है ।
(६) सरलता, निश्छलता, राम का भरोसा और हर्ष दैन्य रहितता
नवें साधन की विशेषताएं हैं । निश्छल निष्कपट एवं अमायिक हृदय
ही राम का निवास स्थल है । चित्त को राम-मयता के लिए
तथा राम को द्रवीभूत करने के लिए संसार से सभी आशाएं हटाकर
एकमात्र राम पर ही भरोसा रखना चाहिए । ऐसे साधक के योग-
क्षेम का भार भगवान स्वयं ग्रहण कर लेते हैं । इसीलिए तुलसीदास
ने सारा भार राम पर डालकर उनका दास होना स्वीकार कर
लिया[1] । नवम साधन में वर्णित 'हियं हरष न दीना' की
व्याख्या दो प्रकार से की जा सकती है । एक अर्थ है-- प्रसन्न तथा
दैन्य रहित । जिसका चित्त शोकाकुल और विक्षिप्त है वह भक्ति
भी नहीं कर सकता । अतएव भक्ति साधक को सहर्ष रहना चाहिए ।
उसमें दीनता का भाव नहीं आना चाहिए । दूसरा अर्थ है -- हर्ष
शोक से रहित । हर्षादि से मुक्त जन भगवान को विशेष प्रिय हैं[2] ।
अतएव हर्ष और दैन्य के विपर्यय को भक्ति का साधन बतलाया गया ।
इन्हीं को प्रकारान्तर से रामानुज आदि ने 'अनुद्धर्ष' एवं 'अनवसाद'
कहा है[3] । तुलसीदास ने रामानुज से ही प्रेरणा लेकर इसे भक्ति का

---

१ नातो नेह नाथ सों करि सब नातो नेह बहैहौं ।
यह छर भार ताहि तुलसी जग जाको दास कहैहौं ।
--विनय० १०४।४

२ यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति ।
शुभाशुभ परित्यागी भक्तिमान् यः स मे प्रियः ॥--गीता० १२।१७

३ द्रष्टव्य --ब्रह्मसू० १।१।१ पर रा०भा०, पृ० ८६

साधन माना । आलोच्यकालीन कृष्ण कवियों का रचनाओं में सरलता, निश्छलता, भगवान का भरोसा और प्रान्न चित्त होकर भगवान कृष्ण की भक्ति या प्रेम करना आदि का वर्णन किया गया है और इसी भक्ति के लिए आवश्यक भी बतलाया गया है, किन्तु इन गुणों का तुलसीदास की तरह साधन रूप में महत्व देकर वर्णन नहीं किया गया है । इसका कारण यह है कि कृष्ण कवियों की भक्ति प्रेम लक्षणा है । उसमें भगवान की कृपा का अनुग्रह ही साध्य है । यह भगवत-अनुग्रह साधक या भक्त के प्रयत्न पर या उसके नैतिक गुणों या कार्यों पर निर्भर न होकर भगवान के केवल प्रेम पर ही निर्भर है अथवा स्वयं भगवान अकारण ही भक्त पर कृपा कर देते हैं । रामकवि तुलसी की भक्ति प्रेम लक्षणा न होकर वैधी भक्ति है, जिसमें सदाचार नैतिक तथा वेद विहित कार्यों का ही विधान है, फलत: तुलसीदास ने उक्त गुणों को महत्व देकर भक्ति का प्रमुख साधन माना ।

इस प्रकार ऊपर विवेचित तथ्यों के आधार पर निष्कर्ष रूप में यही कहा जा सकता है कि कृष्ण कवियों ने भागवत की नवधा भक्ति का अनुसरण करते हुए अपनी रचनाओं में इसी नवधा भक्ति के नौ साधनों को भक्ति का साधन मानकर उनका विवेचन किया । रामकवि तुलसीदास ने भी भागवत की नवधाभक्ति का विवेचन किया है, किन्तु उस प्रकार
व्यवस्थित तथा स्वतंत्र रूप से विवेचन नहीं किया है
जिस प्रकार कृष्ण-कवियों ने । इससे प्रकट होता है कि भागवत की नवधा भक्ति से प्रभावित होते हुए भी तुलसीदास का यह वास्तविक मन्तव्य नहीं है । तुलसीदास की वास्तविक भक्ति 'शबरी-भक्ति-योग' की नवधा भक्ति है, जो अध्यात्म रामायण के अनुसरण पर होते हुए भी पर्याप्त मौलिक है ।

अध्याय -- ३

भाव पक्ष

अध्याय — ३

भावपक्ष

किसी भी कृति का साहित्यिक मूल्यांकन करते समय दो पक्षों पर दृष्टि जाती है — (१) भाव पक्ष और (२) कला पक्ष । काव्य के ये दोनों अंग परस्पर सम्बद्ध हैं, फिर भी विवेचन की सुविधा के लिए इनका विभाजन कर लिया जाता है । अधिकांश साहित्य-शास्त्रियों ने भाव पक्ष को काव्य की आत्मा और कला पक्ष को उसका शरीर माना है । किसी भी कवि की वास्तविक महत्ता भावानुभूति की गहराई एवं व्यापकता से आंकी जाती है और उसके काव्य की सफलता भावों के सूक्ष्म सम्रान्त तथा सम्वेदनीय निरूपण में निहित रहती है । भाव या रस के इस निरूपण में वर्ण्य-वस्तु विशेष सहायक होती है, फलतः भावपक्ष के अन्तर्गत वर्ण्यवस्तु और रस का ही विवेचन किया जायगा ।

वर्ण्य वस्तु

कृष्णकाव्य

कृष्णकाव्य में कृष्णकी लीलाओं का गान मुख्य वर्ण्यवस्तु है । श्रीकृष्ण की ये लीलाएं मुख्यरूप से श्रीमद्भागवत से ली गयी हैं । श्रीकृष्ण की इन लीलाओं में बाल और यौवन की लीलायें ही प्रमुख हैं । आलोच्यकालीन कृष्ण कवियों की रचनाओं में

प्राय: इन्हीं दो लीलाओं का चित्रण मिलता है । इसके अतिरिक्त अनेक कृष्ण कवियों ने भ्रमरगीत भी लिखा है । केवल मीरा ने भगवान की लीला का गान न करके भगवान कृष्ण को अपना प्रियतम मानकर उनके साथ केवल भावात्मक भक्ति की है, क्योंकि मीरा की दृष्टि में कृष्ण-लीला का उतना महत्व नहीं, जितना कृष्ण के प्रेममय स्वरूप का ।

कृष्ण कवियों का यह मुख्य प्रतिपाद्य विषय कृष्णलीलागान वस्तुपरक एवं आत्मपरक इन दो रूपों में प्रकट है । वस्तुपरक दृष्टि बहुत ही नीरस एवं खानापूर्ति सी मालूम पड़ती है । ऐसे स्थल पर कृष्ण कवियों की रु चि जमती हुई नहीं मालूम पड़ती है ।कृष्ण कवियों की दृष्टि केवल आत्मपरक प्रसंगों में ही संलग्न दिखाई पड़ती है, क्योंकि कृष्णलीला के माध्यम से ये कवि अपने अन्तस्तल का उद्घाटन करना चाहते थे । इसलिए लोक-धर्म-प्रधान और अध्यात्म प्रधान भागवत का अवलम्बन करने पर भी वे भागवत के प्रतिपाद्य अध्यात्म, लोक धर्म तथा परमेश्वर की शक्ति और शील की ओर उन्मुख न हो सके । यद्यपि ईश्वर के चौबीस अवतारों की लीलाओं को भी कृष्ण कवियों ने अपनी रचनाओं में स्थान दिया है तथा कृष्णेतर अवतारों की लीलाओं को इन कवियों ने बहुत ही चलते ढंग से आगे बढ़ा दिया है। कृष्णावतार का भी कृष्ण कवियों ने पूर्णरूप से वर्णन नहीं किया है । कृष्णावतार के तीन पक्ष हैं--- ब्रजलीला, द्वारका लीला और महाभारत लीला । [illegible] जी ने ब्रज और द्वारका की लीलाओं को भागवत में और महाभारत की लीलाओं को महाभारत में चित्रित किया था ।

महाभारत की कथावस्तु विवरणात्मक और शुद्ध वस्तुपरक है । कृष्णकवियों को आत्मपरक वृत्ति के लिए महाभारत लीला में प्रवेश करने का अवसर नहीं था । इसीलिए कृष्ण कवियों ने कृष्ण के जीवन के उस अंश की ओर दृष्टि भी नहीं डाली । भागवत की द्वारका लीला में भी कृष्ण-कवियों की रुचि नहीं बनी, क्योंकि द्वारका लीला में भगवान कृष्ण के रस स्वरूप का चित्रण न होकर उनके ऐश्वर्य रूप का नीरस वर्णन मात्र है । कृष्ण-कवियों की आत्मा तो कृष्ण की बाललीला और किशोरलीला तक ही सीमित रह गई । वे कृष्ण की बाल्यकाल की निर्द्वन्द्व क्रीड़ाओं और किशोरावस्था की प्रणय लीलाओं की ही रसधारा बहाते रह गए । अन्य प्रसंगों की खानापूर्ति मात्र किसी प्रकार पदों को जोड़ कर कर दी गई है। बाल्य और किशोरावस्था की इन दोनों लीलाओं में से वल्लभ सम्प्रदाय के कवियों ने अधिकांश बाल-लीलाओं की ओर राधा वल्लभीय, हरिदासी, गौड़ीय तथा निम्बार्क सम्प्रदाय के कवियों ने केवल किशोरावस्था की शृंगारिक लीलाओं को ही अपने काव्य का विषय बनाया । कृष्णकवियों में सर्वश्रेष्ठ सूरदास के तीनों ग्रन्थों— सूरसागर, सूरसागर सारावली, साहित्यलहरी में कृष्ण की लीलाओं का चित्रण है । सूरसागर में लीला-वर्णन मुख्य है । सिद्धान्त पक्ष अत्यन्त अल्प है । सारावली में सिद्धान्त पक्ष प्रधान है । उसमें कृष्ण के ईश्वरत्व और पुष्टिमार्गीय सेवा के व्यावहारिक पक्ष का प्रतिपादन हुआ है । साहित्य लहरी में कृष्णलीला का काव्यशास्त्रीय स्वरूप, अलंकार और नायिका भेद उपस्थित किया गया है । यदि सूरसागर लीला का प्रतिरूप है तो सारावली और साहित्यलहरी

में लीला के दो सूक्ष्म पक्ष हैं । सूरसागर भागवतानुसार है । उसमें कथा आदि से अन्त तक क्रमानुसार है फिर भी एक एक प्रसंग पर उसमें इतने अधिक स्वतन्त्र पदों की रचना है कि कथा विशृंखलित हो गई है और अन्विति-सूत्र लुप्त सा प्रतीत होता है । सारावली में कथा-सूत्र अविच्छिन्न है पर दृष्टिकोण कथात्मक न होकर सैद्धांतिक है । साहित्य लहरी में कथा है ही नहीं । वास्तव में यह नायिका भेद ग्रन्थ है ।

कृष्णकवियों की वर्ण्य वस्तु से उनकी दूसरी प्रमुख प्रवृत्ति धार्मिकता स्पष्ट परिलक्षित है । यद्यपि उनके लीलावर्णन में सहजमानव-गुण का प्राधान्य है तथापि उसमें धार्मिक चेतना सर्वत्र विद्यमान है । यह धार्मिक चेतना कृष्णकवियों की रचनाओं में दो रूपों में प्रकट है । एक तो कृष्ण कवि कृष्ण की लीला का वर्णन करते-करते भगवान कृष्ण को अलौकिकत्व और ईश्वरत्व प्रदान करके उन लीलाओं को अलौकिक रूप दे देते हैं और उनका अध्यात्मपरक या धार्मिक रूप में विवेचन करते हैं । दूसरे कृष्ण-कवियों ने इन अलौकिक कृष्णलीलाओं के अतिरिक्त अन्य स्थलों पर भी स्वतन्त्र रूप से पदों में नीति सदाचार तथा धर्म की महिमा का गान किया है और स्थान-स्थान पर प्रसंगवश अथवा स्वतन्त्र रूप से धर्मपालन का उपदेश दिया है । प्रस्तुत प्रसंग में हम केवल कृष्ण लीलाओं में प्राप्त धार्मिक तत्वों का ही विवेचन करेंगे । स्वतन्त्र धार्मिक तत्वों का विवेचन आगे मुख्य अथवा अभीष्ट वर्ण्य वस्तु के अन्तर्गत किया जायगा । कृष्ण कवियों में सर्वश्रेष्ठ सूरदास जी श्रीकृष्ण लीलाओं में अलौकिकत्व का भी प्रतिपादन करते हैं और उनके मानवोचित गुणों का यथासम्भव वर्णन भी करते हैं । सूरदास जी

तुलसीदास की भाँति हर पंक्ति में भगवान के परब्रह्मत्व अथवा अलौकिकत्व को दुहाई नहीं देते हैं । यही कारण है कि सूर के कृष्ण की लीलाओं का स्वरूप अधिक मनोहारी, सरस और मनोवैज्ञानिक बन सका है । बालछवि, माखनचोरी, विहार, दान-लीला, मान-लीला, बसन्त-लीला तथा भ्रमरगीत आदि में सर्वत्र ही मानवोचित ललित वर्णन मिलते हैं । ऐसा होने पर भी किसी भी पद में उनकी पुनीत धार्मिकता या भक्ति-भावना का अभाव नहीं है । प्रत्येक पद के अन्त में 'सूर के प्रभु' या 'सूर के स्वामी' का संकेत लौकिक वर्णन में अलौकिकता को सदा वर्तमान रखता है । संयोग-शृंगार के वर्णनों में सूरदासजी रस के अन्तर्गत हाव-भाव आदि के विस्तार को उपस्थित करने में संकोच नहीं करते किन्तु अंतिम पंक्ति में अपने प्रभु की लीला पर बलिहारी होने की आत्माभिव्यक्ति प्रस्तुत करके वर्णन द्वारा उद्भुत लौकिक भावना पर धार्मिकता का रंग चढ़ा देते हैं । भागवत में नन्द-यशोदा, गोप-गोपी आदि एक क्षण के लिए भी कृष्ण के ईश्वरत्व को नहीं भूल पाते । यही कारण है कि भागवत में कृष्ण-लीला नर-लीला नहीं हो पाई । उसमें मानवीय दृष्टिकोण उभर नहीं पाया । सूरदास जी ने भागवत की विषयवस्तु में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं किया और स्थल-स्थल पर कृष्ण का ईश्वरत्व भी वे प्रकट करते रहे हैं । बालकृष्ण के अंगूठा चूसने पर प्रलय का चित्र, दही की मथनी पकड़ने पर सागर-मंथन का भ्रम तथा माटी भक्षण में विराट की झाँकी आदि संकेत सूरदास जी ने भी उपस्थित किए हैं । बकासुर, अघासुर आदि के वध, दावानल पान तथा गोवर्धन धारण आदि सभी में कृष्ण के ईश्वरत्व का प्रतिपादन है, किन्तु मानव गुणों की स्वाभाविकता लाने के लिए

यह अलौकिकत्व अधिक समय तक ब्रजवासियों के हृदय-पटल पर दूर अंकित रहने नहीं देते । कृष्ण की प्रेम-लगौरी ईश्वरत्व को क्षण भर में ही दूर कर देता है । ऐसा करने से लीला वर्णन में मानव गुणों के समावेश का अच्छा अवसर मिल जाता है, साथ ही वस्तु में यथास्थान ईश्वरत्व के प्रतिपादन से पाठक या श्रोता के सम्मुख आध्यात्मिकता एवं धार्मिकता का प्रभाव भी अक्षुण्ण रह जाता है । यही कारण है कि चीर हरण, वृन्दावन-विहार, रास-लीला, दान लीला, मान लीला और वसन्त लीला जैसे सरस प्रसंगों में भी जिनका बाह्य रूप सर्वथा लौकिक और शृंगारिक है, धार्मिक और आध्यात्मिक पवित्रता झलकती रहती है ।

सूरदास ने सूरसागर में भागवत की भांति शुकदेव और नारद आदि के द्वारा बार-बार इन लीलाओं का आध्यात्मिक विश्लेषण नहीं करवाया है, फिर भी हरि लीला की धार्मिक प्रतीकात्मकता स्वतः स्पष्ट हो गई है । इसी प्रकार राधा-वल्लभीय, हरिदासी गौड़ीय तथा निम्बार्क सम्प्रदाय के कवियों के सरस शृंगारिक वर्णनों का भी पर्यवसान अलौकिकता एवं आध्यात्मिकता के धरातल पर शुद्ध धार्मिक रूप में हुआ है ।

कृष्ण-कवियों की रचनाओं में वर्णित शृंगार भी असाधारण है । उसमें वासना की गन्ध, भोगेच्छा की तृष्णा और कामातुरता की शिथिलता नहीं दिखाई देती है । कृष्ण के साक्षात्कार होते ही मानव-दुर्बलताएं इस प्रकार विलीन

हो जाती हैं, जैसे प्रकाश के सामने अंधकार विलीन हो जाता है । चीर हरण, रासलीला, विलास या कुंज-विहार जैसे प्रसंगों में भी वासनात्मक शृंगार की अनुभूति पाठक को नहीं होती । सुरति, विपरीत रति एवं राधा के नख-शिख वर्णनों में शब्दों के द्वारा भले ही क्रिया-विशेष या अंगांगों का निःसंकोच कथन हो, किन्तु कवि ऐसे वासनात्मक वर्णनों से इतना तटस्थ और अपने इष्टदेव की लीला से उद्भूत धार्मिक या आध्यात्मिक आनन्द में इतना मग्न है कि वासना की लौकिक अनुभूति उभरने ही नहीं पाती । विद्यापति ने भी उन्हीं प्रसंगों पर पद-रचना की है, किन्तु उनके पदों में यौन भाव, उद्दाम वासना, और भोगेच्छा की ऐसी लहरें प्रवाहित हैं कि राधा और कृष्ण के स्पष्ट उल्लेख होते हुए भी उनमें भक्तिभाव की झलक भी नहीं मिलती है । आलोच्यकालीन कृष्ण कवियों के शृंगारिक पदों में विद्यापति जैसी ही शब्दावली मिलती है किन्तु उनमें धार्मिक भावों की पवित्रता नष्ट नहीं होती । यद्यपि वल्लभ सम्प्रदाय में प्रारम्भ में कृष्ण की बाल लीलाओं का ही विधान था किन्तु सूरदास, नन्ददास आदि वल्लभ सम्प्रदाय के कवियों ने अन्य कृष्णोपासकों के प्रभाव से शृंगार के दोनों पक्षों-- संयोग और वियोग का विस्तार से वर्णन किया । यह वर्णन नग्न शृंगारिक होते हुए भी आध्यात्मिक धरातल पर प्रतिष्ठित है, जिससे पाठक को वासना की गंध भी नहीं मिलती है । वल्लभ सम्प्रदाय के अतिरिक्त अन्य कृष्ण सम्प्रदायों में कृष्ण की किशोरावस्था की शृंगारिक लीलाओं का ही वर्णन है । राधावल्लभ सम्प्रदाय के हिन्दी कवियों में कृष्ण के नित्य संयोग सुख की लीलाओं का ही

रसास्वादन है और प्रत्येक पद से नग्न संयोग शृंगार का भाव टपकता है, किन्तु इन कवियों ने इस खुले शृंगार का वर्णन भी इस प्रकार अध्यात्म के सम्मिश्रण से किया है कि शृंगार रस न जागृत होकर भक्ति रस ही जागृत हो जाता है । इसी प्रकार हरिदासी तथा निम्बार्क सम्प्रदाय के कवियों में भी शृंगार की परिणति भक्ति में ही है । उक्त सम्प्रदाय के कवियों ने राधा और गोपियों को स्वकीया नायिका मानकर शृंगाररस को भक्तिमय बनाया, किन्तु गौड़ीय सम्प्रदाय के कृष्ण कवियोंने परकीया भाव की प्रतिष्ठा करते हुए भी शृंगार रस को वासनात्मक होने से बचा लिया है । इस सम्प्रदाय के कवियों की रचनाओं मेंशृंगार लौकिकता का वेश धारण करते हुए भी भक्ति का भान करा रहा है ।

उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि आलोच्यकालीन कृष्ण कवियों ने शृंगार रस का उन्नयन बड़ी चतुराई से किया है । तत्व कथन, धार्मिकता, उपदेश आदि बाह्य प्रसाधनों का उल्लेख किए बिना भी इन कृष्ण-कवियों ने शृंगार के अन्तस्तल को पुनीत कर दिया है । इसका परिणाम यह हुआ कि इन कवियों का शृंगार निर्दोष, दिव्य और अनुपम हो गया है । साहित्य में यह कार्य अत्यन्त दुष्कर था कि घोर और नग्न शृंगार का वर्णन हो और शृंगार रस की अनुभूति भी पाठक को हो, किन्तु वासना न जागृत होकर भक्ति जागृत हो । सम्पूर्ण हिन्दी साहित्यकेलगभग १००० वर्षों के इतिहास में इस अलौकिक कला का दर्शन केवल भक्तिकाल में ही होता है और वह भी केवल आलोच्यकालीन कृष्ण काव्य में ।

इन कृष्ण-कवियों की रचनाओं में भक्ति शृंगारमई है और शृंगार भक्ति का गान कर रहा है। शृंगार और भक्ति का ऐसा अद्भुत समन्वय अन्यत्र दुर्लभ है।

धार्मिक काव्य के दो पक्ष होते हैं-- एक ईश्वरत्व और अलौकिकता का निरूपण और दूसरा नीति, उपदेश मर्यादा तथा आदर्श आदि का दृष्टिकोण। भागवत में इन दोनों पक्षों का विस्तृत निरूपण है। उसमें न केवल चौबीस अवतारों की कथा है, वरन् लोक-धर्म की व्यवस्था, नीति, सदाचार, लोकाचार, पुण्य-पाप आदि का भी विवेचन है। आलोच्यकालीन कृष्ण कवि भक्त होने के कारण धार्मिक काव्य के आध्यात्मिक पक्ष की ओर अवश्य ही सचेष्ट थे, किन्तु उनकी यह धार्मिकता कृष्ण की अलौकिक लीलाओं के गान में थी। उनका भक्त-हृदय नीति-उपदेश, मर्यादा, संयम आदि के प्रतिबन्ध को स्वीकार करने को तैयार न था। कृष्ण कवि तो भगवान की सरस लीलाओं पर इतने मुग्ध थे कि नीति और मर्यादा के बन्धन उन्हें बांध नहीं सके। उनके लिए नीति-अनीति पाप-पुण्य आदि का भेद-भाव मिट गया, केवल मनोनुकूल कृष्ण-लीलायें ही उन्हें रुचिकर प्रतीत हुईं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि आलोच्यकालीन कृष्ण-कवियों ने धर्म का प्रचार उपदेशक, नैतिक तथा सदाचार के गुणों के प्रचारक के रूप में न करके धर्म को केवल कृष्ण की सरस लीलाओं तक ही सीमित रखा।

तात्पर्य यह कि कृष्ण कवियों की रचनाओं से दो प्रकार की अनुभूति होती है-- एक और तो आध्यात्मिक रहस्य

इन कृष्ण-कवियों की रचनाओं में भक्ति श्रृंगारमई है और श्रृंगार भक्ति का गान कर रहा है । श्रृंगार और भक्ति का ऐसा अद्भुत समन्वय अन्यत्र दुर्लभ है ।

धार्मिक काव्य के दो पक्ष होते हैं-- एक ईश्वरत्व और अलौकिकता का निरूपण और दूसरा नीति,उपदेश मर्यादा तथा आदर्श आदि का दृष्टिकोण । भागवत में इन दोनों पक्षों का विस्तृत निरूपण है । उसमें न केवल चौबीस अवतारों की कथा है,वरन् लोक-धर्म की व्यवस्था,नीति,सदाचार,लोकाचार,पुण्य-पाप आदि का भी विवेचन है । आलोच्यकालीन कृष्ण कवि भक्त होने के कारण धार्मिक काव्य के आध्यात्मिक पक्ष की ओर अवश्य ही सचेष्ट थे, किन्तु उनकी यह धार्मिकता कृष्ण की अलौकिक लीलाओं के गान में थी । उनका भक्त-हृदय नीति-उपदेश,मर्यादा, संयम आदि के प्रतिबन्ध को स्वीकार करने को तैयार न था । कृष्ण कवि तो भगवान की सरस लीलाओं पर इतने मुग्ध थे कि नीति और मर्यादा के बन्धन उन्हें बांध नहीं सके । उनके लिए नीति-अनीति पाप-पुण्य आदि का भेद-भाव मिट गया, केवल मनोनुकूल कृष्ण-लीलायें ही उन्हें रुचिकर प्रतीत हुईं । इस प्रकार हम कह सकते हैं कि आलोच्यकालीन कृष्ण-कवियों ने धर्म का प्रचार उपदेशक,नैतिक तथा सदाचार के गुणों के प्रचारक के रूप में न करके धर्म को केवल कृष्ण की सरस लीलाओं तक ही सीमित रखा ।

तात्पर्य यह कि कृष्ण कवियों की रचनाओं से दो प्रकार की अनुभूति होती है-- एक ओर तो आध्यात्मिक रहस्य

सामन्जस्य विद्यमान है जिसके कारण धार्मिक अनुभूति होती है, [illegible] और
तो [illegible] दूसरी और उसमें शृंगारिक भावों का बंधन-
हीन सागर लहरा रहा है, जिसमें लौकिक शृंगार को भी सम्यक् विकास
पाने का पूर्ण अवसर विद्यमान है । यद्यपि शृंगार और भक्ति के द्वन्द्व में
शृंगार रस पग-पग पर पराजित है अथवा यों कहा जाय कि शृंगार
भक्ति की शक्ति से ही जीवित है ।ऊपर हम कृष्ण-कवियों की
रचनाओं में प्राप्त शृंगार का भक्ति मूलक अध्ययन प्रस्तुत कर चुके हैं ।
यहां संक्षेप में कृष्ण कवियों के शृंगार के लौकिक पक्ष का वर्णन
करेंगे, जिसके आभास मात्र से रीतिकालीन कवियों ने प्रेरणा ग्रहण की,
यद्यपि कि यह भक्ति रहित शृंगार आलोच्यकालीन कृष्ण कवियों को
अभीष्ट नहीं था । श्रीकृष्ण की भक्ति के साथ ही साथ आलोच्यकालीन
कृष्ण-कवियों की रचनाओं में नायक-नायिका-भेद के भी दर्शन होते हैं,
जिनसे रीतिकालीन कवियों ने प्रेरणा ग्रहण की । आलोच्यकालीन कृष्ण
काव्य में चित्रित श्रीकृष्ण की शोभा और रूप माधुरी से नख-शिख वर्णन
को प्रोत्साहन मिला । इसके अतिरिक्त श्रीकृष्ण के रास का आधार
लेकर ऋतु वर्णन भी प्रारम्भ हो गया । अतः आलोच्यकालीन कृष्ण-
कवियों की [illegible] भक्ति में ही रीतिकालीन प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन
मिला । आलोच्यकालीन कृष्ण काव्य का वर्ण्य विषय केवल कृष्ण भक्ति
में ही सीमित न रह कर नायिका-भेद, नख-शिख और ऋतु-वर्णन में भी
विस्तार पाने लगा था । कृष्ण कवियों की भाषा भी परिमार्जित थी
और उसमें अलंकार योजना का समुन्नत रूप भी प्रतिष्ठित था । इसप्रकार

आलोच्यकालीन कृष्ण कवियों का वर्ण्य विषय भक्ति के साथ-साथ साहित्य का कला की ओर भी उन्मुख था, जो रीतिकालीन कवियों को अनुप्रेरित करने के लिए पर्याप्त समृद्ध था ।

रामकाव्य

जिस प्रकार कृष्ण कवियों का वर्ण्य-विषय कृष्ण लीलागान और विष्णु रूप कृष्ण की भक्ति है,उसी प्रकार राम-कवियों की वर्ण्य वस्तु विष्णु के रामरूप की कथा का वर्णन करना और उनकी भक्ति ही है । इस भक्ति-निरूपण में जहां दार्शनिक और धार्मिक सिद्धान्तों की विवेचना की गई है, वहां राम की विस्तृत कथा भी अनेक रूपों में कही गई है । राम की कथा का स्वरूप अधिकतर `वाल्मीकि रामायण` और `आध्यात्म रामायण` के द्वारा निर्धारित किया गया है । रामानुजाचार्य द्वारा प्रवर्तित विशिष्टाद्वैतवाद की पृष्ठभूमि पर रामकाव्य का विकास हुआ है । यद्यपि तत्कालीन प्रचलित समस्त धार्मिक सम्प्रदायों का प्रभाव रामकाव्य पर पड़ा है । रामकाव्य में सर्वोत्कृष्ट कवि तुलसीदास हुए,जिन्होंने राम-चरित्र का दृष्टिकोण आध्यात्म रामायण से ग्रहण करके राम को पूर्ण ब्रह्म घोषित किया है । वाल्मीकि रामायण में राम का चरित्र नारायण रूप में न होकर नर रूप में चित्रित है और रामकथा नारायण या ब्रह्म कथा न होकर नर-कथा या नरकाव्य के रूप में वर्णित है,किन्तु `अध्यात्म रामायण` में राम का चरित्र पूर्ण देवत्व को प्राप्त हुआ और राम-कथा नर-कथा न होकर इष्टदेव

तथा उपास्य देव की कथा के रूप में वर्णित है, किन्तु तुलसीदास ने 'आध्यात्म रामायण' से प्रेरणा लेते हुए भगवान राम के पूर्ण ब्रह्मत्व की घोषणा करके उनकी कथा को ब्रह्म की कथा सिद्ध कर दिया । इस दुष्कर कार्य के लिए तुलसीदास को अपने श्रोताओं एवं पाठकों को हर पंक्ति में भगवान राम के ब्रह्मत्व का स्मरण दिलाना अनिवार्य हो गया, जैसा कि उनकी समस्त रचनाओं के हर प्रसंग से स्पष्ट है । तुलसीदास ने इसे नाना पुराण निगम आगम तथा इतिहास और काव्य से रामकथा का संचयन करके कुछ नवीनता के साथ प्रकट किया है, जैसा कि तुलसीदास ने स्पष्ट घोषणा की है-- 'नाना पुराण निगमागम सम्मतं यद्रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि' तुलसी के पूर्व राम-कथा विषयक प्रचुर वाङ्मय निर्मित हो चुका था । उसकी तीन परम्पराएं थीं । पहला संस्कृत में लिखित वेद और ब्राह्मण परम्परा के ग्रन्थ[१] । दूसरा पाली में लिखित बौद्ध परम्परा के राम-विषयक ग्रंथ[२] ।

१(क) निगम और आगम--चारों वेद और समस्त आगम ग्रन्थ ।

(ख) ऐतिहासिक काव्य--वाल्मीकि रामायण, आध्यात्म रामायण, और महाभारत ।

(ग) पुराण -- विष्णु पुराण, वायु पुराण, भागवत पुराण, हरिवंश पुराण, कूर्म पुराण, अग्नि पुराण, नारद पुराण, ब्रह्म पुराण, गरुड पुराण, स्कन्द पुराण, पद्मपुराण, विष्णु धर्मोत्तर पुराण, नृसिंह पुराण, शिव पुराण, देवी-भागवत पुराण, ब्रह्मवैवर्त पुराण आदि ।

(घ) कुछ काव्य-- रघुवंश, भट्टि काव्य या रावण वध, जानकी हरण, रामचरित, उदारराघव आदि ।

(ङ) नाटक-- प्रतिमानाटक, अभिषेक नाटक, महावीर चरित्र, उत्तररामचरित्र, कुन्दमाला, अनर्घराघव, बाल रामायण, महानाटक या हनुमन्नाटक, आश्चर्य चूड़ामणि प्रसन्न राघव, दूतांगद उन्मत्त राघव, रामाभ्युदय आदि ।

२ दशरथ जातक, अनामक जातक, दशरथ कथानम् ।

तीसरा प्राकृत अपभ्रंश में उपलब्ध जैन परम्परा के ग्रन्थ[1]। उक्त तीनों स्रोतों में से वेद परम्परा में लिखित ग्रन्थ ही तुलसी साहित्य के मूलाधार हैं। तुलसीदास ने इन्हीं ग्रन्थों में से सामग्री का संकलन किया होगा, क्योंकि श्रुति सम्मत-हरिभक्ति-पथ ही उनका वास्तविक पथ था। कुछ स्थलों पर बौद्ध और जैन राम कथाओं से तुलसी वर्णित रामचरित का सादृश्य देखकर यह अनुमान कर लेना ठीक नहीं है कि तुलसीदास ने उनसे प्रभावित होकर वस्तु ग्रहण किया है। तुलसीदास और इन दोनों बौद्ध तथा जैन ग्रन्थों के दृष्टिकोण में तात्त्विक भेद है। बौद्ध और जैन अनीश्वरवादी, वेद-निन्दक एवं ब्राह्मण-व्यवस्था के विरोधी हैं। इसके प्रतिकूल तुलसीदास ईश्वर आदि के प्रति निष्ठावान हैं। इसीलिए तुलसीदास ने इन वेद-निन्दकों को "निन्दक" घोषित किया है। बौद्ध जैन विचारधाराओं का ब्राह्मण विचारधारा से बहुत विरोध रहा है। अतएव उन्होंने हिन्दू समाज में समादृत रामकथा को बहुत कुछ विकृत रूपमें प्रस्तुत किया है। इन बौद्ध तथा जैनों द्वारा मान्य वर्णाश्रम एवं ब्राह्मण विरोधी विकृत रामकथा का तुलसीदास पर प्रभाव पड़ना दूर रहा, इन धर्मों का स्थान-स्थान पर तुलसीदास ने निन्दा करके उनके प्रति अवहेलना और उपेक्षा का भाव प्रकट किया है।

---

१ विमल सूरि: पउम चरियं (प्राकृत) स्वयंभू: पउम चरिउ (अपभ्रंश)
गुणभद्र: उत्तरपुराण, (संस्कृत) पुष्पदंत: महापुराण (अपभ्रंश)
क्षेमेन्द्र : -- दशावतार चरित (संस्कृत)

तुलसीदास ने ऊपर वर्णित वेद परम्परा के संस्कृत ग्रन्थों से रामकथा का अस्थिपंजर लेकर उसे अपने विभिन्न ग्रन्थों में अनेक रूपों में प्रकट किया है, किन्तु तुलसी की रामकथा का पूर्ण विकास `रामचरित मानस` में ही दृष्टिगत होता है, क्योंकि मानस महाकाव्य है और महाकाव्य में किसी कार्य या फल प्राप्ति के लिए किसी मुख्य कथा और अन्य अवान्तर कथाओं का पूर्ण संघटन के साथ विकास किया जाता है । इसी दृष्टि से तुलसीदास ने रामकथा का व्यवस्थित निरूपण रामचरित मानस में किया है, अन्य कृतियों में रामकथा के विभिन्न प्रसंगों का खण्डश: वर्णन किया है । तुलसीदास के काव्य में ५ प्रकार की कथाएं मिलती हैं, मुख्य कथा, प्रासंगिक कथा, अवान्तर कथा, हेतु-कथा और अन्त:कथा । महाकाव्य-रामचरितमानस खण्ड काव्य `रामलला नहछू` एवं जानकी मंगल, मुक्तक काव्य--रामाज्ञा प्रश्न, गीतावली, बरवै रामायण और कवितावली में राम की मुख्य कथा का निरूपण है । `पार्वती मंगल` में शिव-पार्वती की और कृष्ण-गीतावली` में कृष्ण की मुख्य कथाएं वर्णित हैं । प्रासंगिक कथा के दो रूप हैं-- पताका और प्रकरी । सुग्रीव और जटायु की कथाएं क्रमश: पताका और प्रकरी की कोटि में रखी जा सकती हैं । `रामचरित मानस` की प्रस्तावना में सती-मोह की और उत्तरकांड में `काक भुशुंडि` की कथाएं अवान्तर कथाएं हैं । इनका प्रयोजन राम-महिमा का प्रतिपादन है । रामावतार के हेतु समझाने के लिए `रामचरित` मानस` के आरम्भ में `जय-विजय` कश्यप-अदिति, जलंधर, नारद, मनु-शतरूपा और प्रतापभानु की हेतु कथाओं की योजना की गई है । तुलसी साहित्य में बहुत सी

अन्य: कथाएं भी निर्दिष्ट हैं उनका वर्णन नहीं किया गया है,जैसे— शिबि दधीचि, हरिश्चन्द्र, स्यान, शंबूक आदि की कथाओं के संकेत भी पर्याप्त मात्रा में प्राप्त हैं ।

मुख्य कथा के रूप में तुलसीदास द्वारा वर्णित कथानक तीन रूपों में है— रामकथा,शिवकथा, और कृष्ण की कथा । इन तीन कथाओं में से तुलसीदास का मुख्य प्रतिपाद्य रामकथा ही है । शिव और कृष्ण की कथा रामकथा से सर्वथा स्वतन्त्र नहीं है,बल्कि रामकथा को अधिक महान बनाने में सहायक है । `पार्वती मंगल' में शिव पार्वती विवाह की कथा स्वतन्त्र दिखाई देती है,किन्तु वह रामचरित मानस की प्रस्तावना में विबद्ध शिव-चरित के एक अंश का परिवर्धित रूप है । राम अवतार मात्र नहीं है । वे पूर्ण ब्रह्म हैं । फलत: अवतारी भी हैं । कृष्ण राम के अवतार हैं । अत:उनकी अवतार लीला भी प्रकारान्तर से राम की ही अवतार-लीला है । इस प्रकार हम कह सकते हैं कि तुलसी की वास्तविक वर्ण्यवस्तु रामकथा ही थी अन्य कथाओं को इसी मुख्य कथा के पूर्ण विकास के लिए सहायक बनाया गया है और अन्य कथाओं को स्वतन्त्र महत्व देते हुए तुलसीदास ने किसी न किसी रूप में उसका पर्यवसान राम-कथा में ही किया है,अन्य देवों की कथाओं के स्वतन्त्र महत्व देने का एक कारण यह भी है कि तुलसीदास स्मार्त वैष्णव थे और स्मार्त वैष्णवों में बहुदेवोपासना का विधान है । फलत: तुलसीदास ने राम के साथ ही साथ अन्य देवताओं की कथाओं का भी

वर्णन किया है । इस प्रकार तुलसी को राम के अतिरिक्त अन्य कथाओं का वर्णन भी अभीष्ट था, अतः प्रस्तुत प्रकरण में तुलसी का वर्ण्य वस्तु रूप में समस्त कथाओं का संक्षेप में नामोल्लेख मात्र करके छोड़ दिया गया है । इन कथाओं का विस्तार से वर्णन करना अनावश्यक विस्तार होगा।

अग्रदास,नाभादास आदि कवि रामकाव्यान्तर्गत रसिक धारा के कवि माने जाते हैं । इन कवियों पर कृष्ण कवियों की रसिक भावना का स्पष्ट प्रभाव माना जा सकता है । कृष्ण कवियों से प्रेरणा लेकर इन कवियों ने राम के पावन चरित्र को रसमय लीलाओं के रूप में परिणत किया है । इन कवियों के काव्य का वर्ण्य विषय भगवान राम के किशोरावस्था की सरस लीलाएं हुईं । इस प्रकार कृष्ण-चरित्र के अनुकरण पर राम के पवित्र चरित्र को भी अश्लीलता तथा नग्न शृंगार की भूमि पर इन रसिक कवियों द्वारा प्रतिष्ठित किया गया रामधारा के ये रसिक कवि भगवान राम को रस लम्पट तथा सीता आदि को वासना-पूर्ण नायिका के रूप में अपने काव्य का विषय बनाया।यद्यपि उनकी यह भावना न तो साहित्य में ही आदर पा सकी और न तो लोक जीवन में ही उसका व्यापक प्रचार हो सका,क्योंकि तुलसीदास द्वारा प्रतिष्ठित राम के पावन चरित्र को अश्लीलता तथा शृंगार की भूमि पर प्रतिष्ठित करना असम्भव था । तुलसीदास और रसिक धारा के राम कवियों के अतिरिक्त केशवदास ने भी राम की कथा को अपने काव्य का विषय बनाया और 'वाल्मीकि- रामायण' 'प्रसन्न राघव' तथा हनुमन्नाटक से प्रेरणा लेकर राम-कथा का वर्णन किया,किन्तु केशव को भी रामकथा लिखने में वह सफलता नहीं मिली जो तुलसीदास को मिली । केशवदास की रामकथा उनके पाण्डित्य-प्रदर्शन और आचार्यत्व निरूपण का माध्यम बनकर रह गई । उसमें न तो भक्ति भावना की गहराई ही आ सकी

और न तो भावों का सफल चित्रण हो हो सका । फलत: उनके काव्य 'रामचन्द्रिका' का वर्ण्य विषय राम कथा होते हुए यह उनका मुख्य प्रतिपाद्य विषय नहीं कहा जा सकता बल्कि यह तो बहाना या माध्यम मात्र है । केशव का 'रामचन्द्रिका' में मुख्य प्रतिपाद्य विषय पाण्डित्य प्रदर्शन,अलंकार निरूपण तथा छन्दवैविध्य ही कहा जा सकता है ।

जिस प्रकार कृष्ण कवियों ने कृष्ण लीलागान के द्वारा ही भक्ति को अपने काव्य का मुख्य वर्ण्यवस्तु स्वीकार किया है,उसी प्रकार राम कवियों ने भी राम कथा के सभी माध्यम से भक्ति को अपने काव्य का लक्ष्य बनाया । रामकवि तुलसीदास के सभी ग्रन्थों का मुख्य प्रतिपाद्य तो राम-भक्ति ही है । रामचरित वर्णन उस भक्ति को प्राप्त करने का साधन है । तुलसीदास में यह भक्ति दो रूपों में प्रकट है -- एक तो रामकथा के अन्तर्गत तुलसीदास हर पंक्ति में भगवान राम के ब्रह्मत्व की घोषणा करके पाठक या श्रोता को राम भक्ति के प्रति आकर्षित करते हैं । भगवान राम का प्रत्येक अलौकिक और मर्यादित कार्य ही भक्ति के लिए पर्याप्त है । इसके अतिरिक्त स्वतंत्र रूप से भी तुलसीदास ने भक्ति की सर्वश्रेष्ठता और महत्ता का निरूपण करके लोगों को राम-भक्ति का उपदेश दिया है, जिसका विवेचन आगे करेंगे । यहाँ केवल रामकथा की अलौकिक घटनाओं के माध्यम से जो भक्ति का निरूपण हुआ है,उसी का वर्णन अभीष्ट है । रसिक धारा के रामकवियों ने भी राम की सरस लीलाओं के माध्यम से माधुर्य भक्ति को अपने काव्य का

मुख्य विषय बनाया इसके अतिरिक्त पूरे राम साहित्य में कुछ एक कवि ऐसे भी हैं,जो भक्ति के अपवाद कहे जा सकते हैं । ऐसे कवियों में अकेले केशव दास का ही नाम लिया जा सकता है । केशवदास के राम ग्रन्थ रामचन्द्रिका का मुख्य प्रतिपाद्य न तो रामकथा है और न तो राम भक्ति ही है । उनका मुख्य प्रतिपाद्य पाण्डित्य प्रदर्शन अलंकार निरूपण तथा विविध छन्दों का उदाहरण प्रस्तुत कर आचार्य की पदवी प्राप्त करने की लालसा है । केशव की गणना रामकाव्य के अन्तर्गत भले ही कर ली जाय, किन्तु राम भक्ति साहित्य के अन्तर्गत ~~भले ही कर ली जाय,किन्तु राम-भक्ति साहित्य के अन्तर्गत~~ उन्हें किसी भी रूप में नहीं रखा जा सकता है ।

रामकाव्य की वर्ण्यवस्तु रामकथा, रामभक्ति के साथ-साथ ब्राह्मण या हिन्दू धर्म की रक्षा,वर्णाश्रम-व्यवस्था की प्रतिष्ठा, समाज-कल्याण,मानवता के गुणों की रक्षा आदि भी है । रामकवि तुलसीदास का भक्त-हृदय जहां एक ओर विनयपत्रिका में पूर्ण रूप से भक्ति में तल्लीन है,वहां दूसरी ओर 'रामचरितमानस' में उन्होंने समाज,देश,जाति,मानवता,वर्णाश्रम व्यवस्था आदि के प्रति भी चिन्ता व्यक्त करके उनको प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया है ।

<u>तुलना और निष्कर्ष</u>

आलोच्यकालीन कृष्णकाव्य की वर्ण्यवस्तु कृष्ण की सरस लीलाओं का गान है,किन्तु इन कवियों ने अवतार रूप में भगवान राम की कथा को भी अपने काव्य की वर्ण्यवस्तु बनाया ।

इसी प्रकार राम कवियों ने भी अपनी मुख्य वर्ण्यवस्तु रामकथा के साथ ही साथ कृष्ण कथा को भी अपने काव्य का विषय बनाया। परिमाण और संख्या में कृष्ण-कवियों के पद राम कवियों की अपेक्षा अधिक है। केवल वल्लभ सम्प्रदाय के अष्टछापी कवियों का काव्य ही परिमाण में समस्त रामकवियों से अधिक है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि आलोच्यकाल में कृष्ण-भक्ति का प्रचार रामभक्ति से अधिक व्यापक था अथवा यों कहा जाय कि कृष्ण भक्ति उस युग में सम्पूर्ण भारत वर्ष की व्यापक भक्ति थी, जिसकी उत्तर दक्षिण से माध्व निम्बार्क तथा वल्लभाचार्य के द्वारा पूर्व में चैतन्य आदि गौडीय भक्तों के द्वारा तथा व उत्तर और पश्चिम भारत में ब्रज में स्थित कृष्ण सम्प्रदायों एवं सूर आदि अष्टछापों के भक्तों के द्वारा हुआ था। कृष्ण कवियों के काव्य का विषय कृष्ण की केवल बाल तथा किशोरावस्था की सरस लीलाएं ही हैं। इन कवियों ने कृष्ण के सम्पूर्ण जीवन को विशेषकर उनके लोक-रक्षक पक्ष को अपने काव्य का विषय नहीं बनाया। उनके काव्य का विषय कृष्ण की ब्रजस्थित लीलाएं ही हैं। मथुरा-लीला तथा महाभारत में वर्णित लीलाओं को इन कवियों ने अपने काव्य का विषय नहीं बनाया। इसकी तुलना में रामकवि तुलसी के काव्य का विषय भगवान राम का सम्पूर्ण चरित्र है। जहां कृष्ण कवियों की लेखनी ने कृष्ण के [illegible] स्वरूप के चित्रण में चमत्कार पैदा किया वहीं ठीक इसके विपरीत राम कवि तुलसीदास की लेखनी ने राम के लोक-रक्षक एवं लोकपालक स्वरूप के वर्णन में कमाल कर दिखाया। इसका कारण साहित्यिक दृष्टि से यही हो सकता है कि कृष्ण कवि

पदकार तथा गीतिकार थे, उनके लिए ऐसे चरित्र की आवश्यकता थी जो पद या गीतिकाव्य के उपयुक्त हो, फलत: कृष्ण का एकांगी चरित ही इन कवियों ने अपने काव्य का विषय बनाया । इसके विपरीत रामकवि तुलसीदास का व्यक्तित्व प्रबन्धकाव्यों के उपयुक्त था, फलत: उन्होंने राम का सम्पूर्ण चरित्र अपने काव्य का विषय बनाया जो प्रबन्धकाव्य के प्रमुख रूप महाकाव्य के सर्वथा अनुकूल था ।

जब हम भक्ति की दृष्टि से तुलना करते हैं तब यही पाते हैं कि कृष्ण एवं राम दोनों धाराओं के कवियों ने अपने काव्य का मुख्य प्रतिपाद्य विषय भक्ति ही बनाया । केवल रामधारा में अकेले केशव ही ऐसे हैं, जिनमें भक्ति का लेशमात्र भी नहीं है । केशव की तरह भक्तिहीन रचना करने वाला कवि कृष्ण धारा में कोई नहीं है । आलोच्यकालीन कृष्ण कवियों की भक्ति अधिकांशत: वात्सल्य, सख्य और माधुर्य भाव की की है, जिससे लौकिक वासना का भी भाव जाग्रत होने का पर्याप्त अवसर विद्यमान है । इसी से कृष्णकाव्य ही रीतिकालीन शृंगार का उत्तरदायी माना गया । किन्तु रामकाव्य में इस प्रकार की वासना के जाग्रत होने का रंचमात्र भी अवसर नहीं है । यद्यपि कुछ कवियों ने रामचरित को माधुर्य भाव से दूषित किया । किन्तु उन्हें सफलता नहीं मिल सकी । रामभक्ति सदैव दास्यभाव से संयुक्त रही । तुलसीदास के के अथक प्रयास के कारण कोई भी कवि राम-भक्ति को दास भाव से अलग नहीं कर सका । कृष्ण कवियों ने यद्यपि कृष्ण लीलाओं में अलौकिकता का समावेश करके सर्वत्र उसे भक्तिमय ही बनाने का प्रयास किया है, किन्तु कहीं-कहीं लीलाओं

में ध्यान भक्ति से हटकर नर-लीला का तथा सामान्य मानव के कार्यों की भाँति कृष्ण चरित को समझने लगता है, फलत: भक्ति का दृष्टिकोण ओझल हो जाता है, किन्तु रामकवि तुलसी ने रामचरित का ऐसा विवेचन किया है कि ध्यान सदैव भक्ति में लगा रहता है कहीं भी हमें राम का चरित्र भक्ति से अलग नहीं दिखाई देता है ।

कृष्ण कवियों ने अपने काव्य का वर्ण्य-विषय लोकसमाज, राजनीति आदि को नहीं बनाया, क्योंकि ये लोग व्यक्तिगत साधक थे । लोक-धर्म की प्रतिष्ठा करना तो दूर रहा, ये लोक-धर्म की अवहेलना करते थे । इनकी मान्यता थी कि लोक-लज्जा तथा मर्यादा को छोड़ने पर ही कृष्ण-भक्ति सम्भव है जैसा कि गोपियों ने किया, इसके विपरीत रामकवि तुलसीदास के काव्य का मुख्य विषय समाज तथा लोक-धर्म था । तुलसीदास समाज की हीन-दशा, वर्णाश्रम धर्म का ह्रास, तथा मानवीय मूल्यों के अवमूल्यन से क्षुब्ध थे । फलत: उन्होंने रामभक्ति के साथ-साथ समाज की पुनर्स्थापना करने, वर्णाश्रम धर्म की प्रतिष्ठा एवं लोक-धर्म की रक्षा करने के लिए ही मानस की रचना की । इस प्रकार संक्षेप में कह सकते हैं कि कृष्ण-कवियों का वर्ण्य विषय सीमित होते हुए भी अपनी सीमा में असीम है, क्योंकि कृष्ण कवियों ने समाज, राजनीति कर्तव्य आदि सब कुछ छोड़कर और साथ ही आराध्य कृष्ण के संपूर्ण जीवन को छोड़कर केवल [illegible] कृष्ण की बाल और कि[illegible]ओं की

सरस दशाओं कोही चुना । लेकिन उस सीमित विषय को ही इन कवियों ने इतना विस्तार दे दिया कि उक्त दोनों अवस्थाओं की कोई भी सूक्ष्म से सूक्ष्म प्रवृत्ति भी नहीं छूटी । इसके विपरीत रामकवि तुलसीदास की वर्ण्य वस्तु अत्यन्त व्यापक है । देश,समाज, राजनीति,धर्म,दर्शन, इतिहास, पुराण काव्य कोई भी वस्तु उनकी दृष्टि से नहीं छूटी है । तुलसी से पूर्व तथा तुलसी के समय में प्रचलित समस्त विवेच्य वस्तुएं तुलसी साहित्य का वर्ण्य विषय हैं । मेरी दृष्टि में तुलसी साहित्य,भारतीय धर्म,दर्शन और समाज का विश्व कोष है । इसके साथ ही राम का सम्पूर्ण जीवन और राम भक्ति भी तुलसी साहित्य का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है ।

वर्ण्य वस्तु में मौलिक उद्भावना

कृष्ण काव्य :- आलोच्यकालीन कृष्ण कवियों ने 'भागवत' महापुराण अन्य पुराणों एवं सम्प्रदाय ग्रन्थों का अनुसरण करते हुए भी अपने पदों में पर्याप्त मौलिकता का सृजन किया है । यह मौलिकता दो रूपों में देखी जा सकती है-- एक तो दर्शन या अध्यात्म तथा भक्ति के रूप में दूसरी कृष्ण लीला के नवीन [illegible] के प्रसंगों की उद्भावना रूप में । आलोच्यकालीन कवियों ने अपनी रचनाओं में सम्बन्धित सम्प्रदायों के ही सिद्धांतों और भक्ति का विवेचन किया है, किन्तु इन सिद्धांतों के बीच बीच में ज्ञात या अज्ञात रूप से तत्कालीन अन्य कृष्ण सम्प्रदायों का कृष्णेतर धार्मिक तथा दार्शनिक सम्प्रदायों का प्रभाव भी इन कवियों पर पर्याप्त पड़ा है । इसलिए कृष्ण भक्ति के साथ ही राम भक्ति तथा सगुण के साथ ही निर्गुण ब्रह्म और [illegible]

द्वैताद्वैत द्वैत और शुद्धाद्वैत के साथ ही साथ अद्वैत तथा विशिष्टाद्वैत का भी उदाहरण मिलता है, जिसका विवेचन क्रमशः भक्ति तथा दर्शन के अध्याय में किया जा चुका है । किन्तु कृष्ण के अतिरिक्त अन्य उपास्य की भक्ति तथा कृष्णेतर अन्य दार्शनिक संप्रदायों का प्रभाव बहुत ही कम है । इस प्रकार इन कवियों ने भक्ति तथा दर्शन के क्षेत्र में बहुत ही अल्प मौलिकता का प्रदर्शन किया है जो नगण्य होते हुए भी अध्ययन की वैज्ञानिकता के लिए संकेत मात्र करना अपेक्षित था । कृष्ण कवियों ने वर्ण्यवस्तु की मौलिकता के क्षेत्र में अपनी प्रतिभा का अद्वितीय प्रदर्शन कृष्ण लीलाओं के अंतर्गत नवीन प्रसंगों की उद्भावना रूप में किया है । सभी कृष्ण-कवियों ने परंपरा से प्राप्त कृष्ण लीलाओं का विवेचन करते हुए भी स्थान स्थान पर कुछ लीलाओं को अपनी कवि प्रतिभा से कल्पित किया है जो सर्वथा नवीन और परम्परा से अप्राप्त है । सभी कृष्ण कवियों की सर्वथा कल्पित कृष्ण लीलाओं का विवेचन अनावश्यक विस्तार होगा , यहां पर हम केवल सूरदास द्वारा कल्पित कृष्ण लीलाओं के नवीन प्रसंगों का ही दिग्दर्शन मात्र करेंगे-- सूरदास ने कृष्ण लीलाओं के वर्णन में भागवत का ही अनुसरण विशेष रूप से किया है और हर स्कन्ध में भागवतानुसरण की बात स्पष्ट शब्दों में सूरदास ने स्वीकार किया है, किन्तु सत्य यह है कि जिस स्थान पर सूरदास ने सूरसागर में 'भागवत' के वर्णन को ज्यों का त्यों अपनाने का प्रयास किया है, वहां वर्णन में शिथिलता आ गई है और वर्णन अस्वाभाविक-सा प्रतीत होता है । ऐसे प्रसंगों में कवि

--------का वर्णन नीरस और केवल कथा पूर्ति हेतु किया हुआ प्रतीत होता है । ऐसे स्थलों में वर्णनात्मक शैली के दर्शन होते हैं, किन्तु उन प्रसंगों में जो कवि कल्पित मौलिक प्रसंग हैं, वहां कवि की रुचि और प्रतिभा के दर्शन होते हैं , इन प्रसंगों का ही वास्तविक साहित्यिक महत्व है, क्योंकि कवि ने उन्हें विभिन्न साहित्यिक सौन्दर्य से संवारने का प्रयत्न किया है । वैसे तो प्रत्येक स्कन्ध में सूरदास की मौलिकता के दर्शन होते हैं किन्तु हम दशम स्कन्ध की लीलाओं में ही सूर के नवीन कल्पित लीला प्रसंगों को देखने की चेष्टा करेंगे । सूरदास ने सूरसागर में भागवत के पौराणिक एवं ऐतिहासिक उपाख्यानों की पूर्ण अवहेलना की है । यह भी सूरदास की मौलिकता ही कहा जा सकता है । सूरसागर में कृष्ण चरित्र के दो स्वरूप मिलते हैं-- एक तो उनके ब्रज के क्रीड़ामय जीवन से सम्बन्धित है और दूसरा उनकी अलौकिक लीलाओं से सम्बद्ध है, जिसके अन्तर्गत कंस द्वारा प्रेषित असुरों का संहार तथा अन्य अलौकिक कार्य आते हैं । सूर के काव्य में यह मौलिकता है कि उन्होंने कृष्ण की अलौकिक क्रीड़ाओं की पृष्ठभूमि समुचित कारणों पर आधारित रखी है । उदाहरणार्थ कृष्ण के गोकुल में पोषित होने की आशंका ने कंस को इतना त्रस्त और चिन्तित किया है कि उसे कर्तव्य विवेक भी नहीं रहता । `पूतना-वध` के पश्चात् `श्रीधर अंगभंग` वाली घटना श्रीमद्भागवत में है । तृणावर्त, शकटासुर और कागासुर की कथाएं भागवत में संक्षिप्त रूप में वर्णित हैं, परन्तु सूर ने उनका विस्तार से वर्णन किया है । कृष्ण के संस्कारों का वर्णन भी सूर ने अपने ढंग से किया है । श्रीमद्भागवत में साधारण रूप से उनका विवेचन हुआ है और कहीं-कहीं अलौकिक रूप दे दिया गया है । परन्तु सूर के वातावरण में महान अन्तर है । उन्होंने इन संस्कारों के विशेष वातावरण ही उत्पन्न नहीं किए, बल्कि अनेक स्वतन्त्र कल्पनाएं भी की हैं जैसे अन्नप्राशन, वर्षगांठ, कर्ण छेदन आदि प्रसंग सूर की ही मौलिक उद्भावना के उदाहरण हैं । हो सकता है यह विस्तार साम्प्रदायिक

तथा तत्कालीन सामाजिक संस्कारों का प्रभाव है । सूर की बाल-लीला तो विश्वसाहित्य में अद्वितीय है । मौलिकता की दृष्टि से सूर की बाल लीला पर्याप्त समृद्ध है । `महरानेपाडे की घटना` को सूर ने सर्वथा मौलिक रूप दिया है,परन्तु कुछ कथाएं सूरसागर में बहुत ही संक्षिप्त रूप में है, जैसे अघासुर और बकासुर की कथाएं,यमलार्जुन उद्धार की कथा भी सूरसागर में संक्षेप में दी गई है । वास्तव में तथ्य तो यह है कि सूर सागर में भगवान की लीलाओं का क्रम नित्य कीर्तन वाला क्रम है और उस क्रम की संगति में ये अलौकिक घटनायें उतनी निर्दिष्ट नहीं है,जितनी भगवान की बाल चरित लीलाएं । कृष्ण के सोने,जागने, खाने,पीने, उठने,गाय चराने आदि के अनेक भावात्मक चित्र सूरसागर में वर्णित हैं, जो सर्वथा नवीन हैं और सूरदास की मौलिक उद्भावना के प्रतीक हैं ।

सूरदास ने `सूरसागर` में राधा के प्रथम मिलन का जो चित्रण है,वह सर्वथा भागवत निरपेक्ष है मौलिक है ।इस प्रसंग से सम्बद्ध अनेक मौलिक उद्भावनायें सूर ने की हैं जो एक ओर तो राधा और कृष्ण के प्रेम के स्वाभाविक विकास को व्यक्त करती हैं और दूसरी ओर नन्द-यशोदा और वृषभानु एवं उनकी पत्नी के वात्सल्य का चित्रण करती हैं । इसके अनन्तर गो-चारण का प्रसंग वर्णित है,जिसमें सूरदास का मन अधिक रमा है । इस स्थल पर वस्तुतः सूर ने मानवीय तथा बाह्य प्रकृति का इतना सुन्दर समन्वय उपस्थित किया है कि आश्चर्य होता है । पशु-प्रकृति का सूक्ष्म निरीक्षण और उनकी चेष्टाओं का यथार्थ वर्णन कर सूर ने अनेक मौलिक चित्र सूरसागर में भर दिए हैं । भागवत की कृष्ण-लीलाओं के चित्रण में कवि बीच-बीच में गोचारण

चित्र की स्पष्ट रेखाएं सूरसागर में उभारता चलता है और उनमें अपनी कल्पना का ऐसा रंग भरता है कि ये प्रसंग सर्वथा नवीन और मौलिक बन जाते हैं । इस प्रकार भागवत के लीला वर्णनों में यत्र-तत्र पर्याप्त अन्तर सूरसागर में स्पष्ट दिखाई पड़ता है । श्रीमद्भागवत में `कालिय-दमन` का प्रसंग कालिय दह जलपान से सम्बद्ध हैं । परन्तु सूरसागर में इन दोनों प्रसंगों के में पर्याप्त व्यवधान है । सूर ने प्रायः ऐसी घटनाओं को लेकर उन्हें एक स्वतन्त्र खण्डकाव्य का रूप दे दिया है और ऐसे कथानकों का सूर ने इसी रूप से वर्णन किया भी है । भागवतकार ने कृष्ण लीलाओं में कृष्ण के अलौकिकत्व का तथा देवत्व पर ही अधिक बल दिया है, किन्तु सूर ने कृष्ण के नररूप में ही देवत्व की प्रतिष्ठा की है । गोचारण और कृष्ण की दैनिक चर्या से मुरली का शाश्वत सम्बन्ध है, अतएव `मुरली वर्णन` सूर का प्रमुख विषय है । यद्यपि श्रीमद्भागवत के `वेणुगीत` का भी बड़ा भारी महत्व है, परन्तु उसका महत्व आध्यात्मिक होने के कारण जन-साधारण का विषय नहीं है । सूर की रागिनी में जब हम कृष्ण की चर-अचर मोहनी मुरली की तान सुनते हैं तो निर्वेद और हर्ष का स्वर्ग के अमृततुल्य आनन्द का रसास्वादन करके आत्मविस्मृत हो जाते हैं । मुरली वादन का प्रभाव और उसकी मनोहारिता सूर की अपनी मौलिकता है । जिसमें उनकी कवित्व-शक्ति और भक्ति भावना का भी अच्छा प्रस्फुटन हुआ है फिर दूसरी बार राधा-कृष्ण मिलन का वर्णन है, जिसमें पूर्व परिचय और साहचर्य के कारण प्रेम की प्रगाढ़ता ही नहीं, अनन्यता भी स्पष्टरूप से भासित होती है । प्रेम के घातों-प्रतिघातों का इसमें मनोवैज्ञानिक वर्णन है । भागवत जैसे दार्शनिक ग्रन्थ में इस प्रकार की सरलता और मनोवैज्ञानिकता सम्भव नहीं थी । सूर

थी यह अपनी निजी सूझ है । इसके पश्चात् चीर-हरण की प्रसिद्ध लीला है । यद्यपि इस लीला का सूत्र श्रीमद् भागवत ही है तथापि दोनों में महान् अन्तर है । भागवतकार ने इस लीला का वर्णन करते हुए वर्षा और शरद का सुन्दर वर्णन किया है और प्रकृति के अनेक सुरम्य चित्र उपस्थित किया है , परन्तु सूर ने इस लीला का उद्देश्य प्रेम का मनोवैज्ञानिक विकास रखा है । आत्माभिव्यंजक तथा अनुभूति-मूलक होने के कारण इस लीला में कई विवरणात्मक भेद भी आ गए हैं । श्रीमद्भागवत में नग्न-स्नान के औचित्य -अनौचित्य की विवेचना संयम और मर्यादा के साथ की गई है किन्तु व्यक्तिगत-भक्ति साधक सूर औचित्य-अनौचित्य आदि के प्रश्नसे दूर है । यही कारण है कि यमुना-स्नान के समय कृष्ण जल के भीतर प्रकट होकर नग्न गोपियों की कटि मींजते हैं और उन्हें सुख देते हैं । इस प्रकार सूर ने भक्ति साधना समन्वित गोपियों को ~~साधना समन्वित गोपियों को~~ साधना-पूर्ति पर भगवान कृष्ण के सान्निध्य का लाभ कराया है । जिसके होने पर 'कुलकानि' मर्यादा,लाज और संकोच आदि व्यवधान उत्पन्न कर ही नहीं सकते हैं । यह पूर्ण एकात्म बोध का भाव सूर की मौलिक देन है । इसके पश्चात् 'पनघट-लीला' है जो नागरी प्रचारिणी सभा वाली प्रति में 'रास लीला' के पश्चात् आती है । यह लीला श्रीमद्भागवत से स्वतंत्र है । प्रेम के विकास में इसका बड़ा महत्व है । सूर की 'गोवर्द्धन-लीला' भी एक स्वतंत्र खण्डकाव्य कही जा सकती है जो श्रीमद्भागवत की 'गोवर्द्धन लीला' से सर्वथा भिन्न एक मौलिक दृष्टिकोण की परिचायिका है ।

पनघट लीला की भांति दान लीला भी सूर की मौलिक उद्भावना है । इस लीला में सूर का भावुक हृदय इतना रमा है

कि यह प्रसंग अधिक विस्तार ग्रहण कर लिया है,जिससे अब इस लीला का एक पृथक् खण्डकाव्य का आकार हो गया है । घटना बहुत साधारण है,परन्तु कवि ने अपनी कवित्वशक्ति से इसे महत्वपूर्ण बना दिया है । कवित्व एवं भक्ति भाव दोनों की दृष्टि से यह प्रसंग बड़ा ही आकर्षक है । इसमें भौतिकता एवं आध्यात्मिकता का अपूर्व समन्वय सूर द्वारा उपस्थित किया गया है । इसमें कृष्ण के प्रति गोपियों का प्रेम चरमोत्कर्ष को प्राप्त है,किन्तु इसे वासनामय प्रेम के रूप में देखना भूल होगी। यह तो माधुर्यभक्ति के क्रम-विकास की लीला है । कृष्ण और राधा का अभेदात्मक एकत्व यहीं से प्रारम्भ हो जाता है । इसी लीला में सूर ने राधा-कृष्ण के चिर संयोग के अनेक पद गाए हैं और युगलस्वरूप की भक्ति का आश्रय घोषित किया है । स्पष्ट है कि इस प्रसंग में सूरदास राधावल्लभ के कवियों के ही अनुरूप हैं अथवा उन्हीं से प्रेरणा लेकर इस मौलिक प्रसंग की उद्भावना की है ।

रास भागवत का एक महत्वपूर्ण विषय है और इसी के आधार पर रास विषयक अनेक ग्रन्थों की रचना हुई है । सूरदास ने रास के विषय में श्रीमद्भागवत से प्रेरणा लेते हुए भी इस प्रसंग में अपनी मौलिक उद्भावना का भी परिचय दिया है,जैसे गोपियों में राधा का उल्लेख ,कृष्ण के साथ उनका विवाह तथा राधा और कृष्ण के विहार का चित्रण आदि आदि ।

सूर की सबसे अधिक मौलिकता कृष्ण की नित्य लीलाओं में देखी जा सकती है जैसे कृष्ण को जगाना,कलेऊ और भोजन,ग्वालों के साथ गोचारण तथा वंशी-वादन आदि । मुरली का विषय भी सूर का एक स्वतंत्र विषय है,जिसको लक्ष्य करके गाने

कितने नवीन भावों की मनोवैज्ञानिक उद्भावनाएं सूर ने की हैं ।
ये प्रसंग भागवत् निरपेक्ष सूर की मौलिकता के द्योतक हैं । `भ्रमरगीत`
प्रसंग में भी सूर ने कुछ मौलिक उद्भावनाएं की हैं जो भागवत से सर्वथा
नवीन कल्पनाएं कही जा सकती हैं,जैसे कृष्ण का अपने माता-पिता और
गोपियों को पत्र लिखना,कुब्जा का राधा को सन्देश,तथा उद्धव और
ब्रजवासियों की भेंट । इन्हीं नवीन प्रसंगों के कारण सूरदास का भ्रमरगीत
भागवत के भ्रमरगीत से अधिक सरस एवं गौरवशाली बन पड़ा है ।

उपर्युक्त प्रसंगों में सूर की मौलिक उद्भावना
का विश्लेषण करने के पश्चात् निष्कर्ष रूप में यही कहा जा सकता है
कि दशमस्कन्ध को छोड़कर अन्य स्कन्धों में भागवतानुसरण की बात
मात्र ही कुछ राई है अनुसरण नहीं किया गया है । अन्य स्कन्धों में केवल
वे ही स्थल आए हैं जहां भगवान के यश का वर्णन, हरि भक्ति की
महिमा, अथवा भक्त-गुणगान है । भागवतानुसरण वाली बात वर्णनात्मक
प्रसंगों तक ही सीमित है । दशम स्कन्ध में भागवत का अनुसरण करते हुए
भी सूरदास ने पर्याप्त एवं मौलिक प्रसंगों की उद्भावनाएं की हैं । ये
प्रसंग सूरदास द्वारा कल्पित भागवत निरपेक्ष और सर्वथा नवीन हैं ।
वास्तव में ऐसे नवीन प्रसंगों में ही सूर की रुचि अधिक रमी है और
उन्होंने विशेष भावुकता के साथ ऐसे प्रसंगों को काव्य के विशेष गुणों
से संवारा है । ये ही प्रसंग सूर की मौलिक प्रतिभा के परिचायक हैं और
इन्हीं में सूर की तथा कृष्ण काव्य की अक्षय कीर्ति सुरक्षित है ।

रामकाव्य

रामकाव्य वस्तुत: कथा-काव्य है । यह कृष्णकाव्य की भाँति लीला-काव्य नहीं है । रामकाव्य में नवीन प्रसंगों की उद्भावना का अवसर कम था । राम कवियों ने परम्परा से प्राप्त रामकथाओं को ही लेकर अपने ग्रन्थों की रचना की । यद्यपि रामकवियों ने कथा में थोड़ा बहुत अन्तर कहीं-कहीं अवश्य उपस्थित किया है,किन्तु मूल कथा और उसका उद्देश्य तथा मूलभाव परम्परानुकूल ही है । कृष्ण-काव्य लीलाकाव्य है,जो मुक्तक काव्य के लिए ही उपयुक्त था । अत: मुक्तक काव्य परम्परा में होने के कारण हर लीला की रसानुभूति अलग-अलग है । इसी कारण नवीन लीला की कल्पना से नवीन रस व्यंजना भी हो जाती है,किन्तु रामकाव्य अधिकतर कथा काव्य है,जो प्रबन्ध काव्यों के ही अनुकूल है और चूंकि प्रबन्ध काव्य में प्रत्येक घटना मिलकर मुख्य कथा को आगे बढ़ाने में सहायक होती है और सबसे एक ही अंगीरस की अनुभूति होती है,अत: नवीन कल्पित घटनाओं का स्वतंत्र महत्व नहीं हो पाता है,फिर भी कवि इतिहास-लेखक नहीं होता है, वह परम्परा से प्राप्त इतिहासोद्भूत कथानक को भी अपनी प्रतिभा से कुछ मौलिक रूप देता है । [illegible] तुलसीदास ने भी संस्कृत ग्रन्थों से प्राप्त रामकथा को यत्किंचित् अपने व्यक्तित्व और कवि-प्रतिभा के अनुसार नवीनता प्रदान की है । तुलसीदास की यह मौलिक उद्भावना आदि कवि के रामायण की तुलना में ही देखी जा सकती है,क्योंकि तुलसीदास ने राम के कथानक को अधिकांशत: वाल्मीकि रामायण से ही लिया है । अब हम अति संक्षेप में वाल्मीकि रामायण से भिन्न तुलसी के नवीन

कल्पित प्रसंगों का विवेचन करेंगे ।

१- तुलसी ने `रामचरित मानस` में अनेक रूपों में मौलिक उद्भावनाएं की हैं । सर्वप्रथम तुलसीदास ने रामकथा को अपने पूर्ववर्ती लेखकों से भिन्न सर्वथा मौलिक दृष्टिकोण से देखने की चेष्टा की है । महर्षि वाल्मीकि ने राम को विष्णु का अवतार माना है और व्यावहारिक दृष्टि में उनके नर-रूप की ही प्रतिष्ठा की है । `अध्यात्म रामायण` में भी राम केवल देवत्व की पृष्ठभूमि पर ही प्रतिष्ठित हैं, लेकिन तुलसीदास ने उन्हें अपने `मानस` में पूर्ण ब्रह्मत्व प्रदान किया है । राम विष्णु अथवा अन्य किसी देवता के अंशावतार नहीं है, बल्कि वे स्वयं अंशी हैं । असंख्य ब्रह्मा, विष्णु, शिव एवं रुद्र उनसे उत्पन्न हैं । वे `शिव, विधि, विष्णु नचावन हारे` हैं । इस प्रकार सर्वप्रथम तुलसीदास ने भगवान राम को अंशी तथा अन्य सब देवों को उनसे उद्भूत मानकर अपनी मौलिक उद्भावना का परिचय दिया है ।

२- कौशिल्या का राम का विराट रूप देखकर मुग्ध हो जाना वस्तुत: रामकाव्य परम्परा में नवीन कल्पना ही है, क्योंकि तुलसी के पूर्व किसी भी राम कवि ने इस प्रसंग का वर्णन नहीं किया है । यद्यपि `श्रीमद्भागवत` एवं सूरदास के `सूरसागर` में कृष्ण-यशोदा के प्रसंग में भगवान की इस विराटता का वर्णन है ।

३-वाल्मीकि ने जयन्त द्वारा `चंचु प्रहार` की घटना का उल्लेख सुन्दरकाण्ड में किया है । यह चंचु प्रहार सीता

के स्तन प्रदेश में किया गया है,किन्तु मर्यादावादी नीति के पालनकर्ता तुलसीदास को जगत-जननी के स्तन में चंचु प्रहार की घटना अनुचित मालूम पड़ी,अत: उन्होंने इस नग्न कुरूपता को दूर करने के लिए इस घटना में नवीन कल्पना की और अपनी नवीन कल्पना के आधार पर सीता के स्तन के स्थान पर `सीता चरण चौंच हति भागा ।

मूढ़ मन्द मति कारन कागा ।।`[1]

का उल्लेख किया है । इस प्रकार कथानक को मर्यादित और संयत बनाने के लिए तुलसीदास ने नवीन कल्पना ह की है ।

४- यज्ञ विध्वंसकारी राक्षसों के वध के लिए महर्षि विश्वामित्र द्वारा राम लक्ष्मण के लिए जाने की घटना भी पूर्ववर्ती ग्रन्थों से भिन्न प्रकार से अंकित की गई है ।इसका विस्तृत विवेचन अनावश्यक विस्तार होगा । यहां भी तुलसीदास ने मर्यादा संयम तथा गम्भीरता से काम लिया है ।

५- अहिल्योद्धार की कथा में भी तुलसीदास ने मौलिकता का परिचय दिया है । `वाल्मीकि रामायण` में अदृष्ट अहिल्या राम के दर्शनोपरान्त ही प्रकट होती है और दर्शन मात्र से ही मुक्ति प्राप्त कर लेती है ।इसके बाद राम और लक्ष्मण दोनों ही उसके चरणों को स्पर्श करते हैं । तुलसीदास ने अपने `रामचरित मानस` में न तो अहिल्या को इस प्रकार अदृश्य रखा है और न राम लक्ष्मण के द्वारा अहिल्या का चरण स्पर्श कराया है,ऐसा करने से राम के ब्रह्म रूप अथवा उनके पतित-पावन स्वरूप को धक्का लग सकता था । बल्कि राम के चरण स्पर्श से अहिल्या का उद्धार चित्रित किया है ।

१- रा०च०मा०, ३।१-७

६- केवट-प्रसंग भी मानस का मार्मिक स्थल माना जाता है,तुलसी की मौलिक उद्भावना है,यह प्रसंग पूर्ववर्ती किसी भी ग्रन्थ में प्राप्त नहीं है । गंगा द्वारा आशीर्वाद,भरद्वाज के चार-पांच शिष्यों द्वारा राम के पथ का प्रदर्शन एवं तेजपुंज तापस का यमुना पार अपने इष्टदेव के गद्गद् भाव से दर्शन करने के अत्यन्त भावनापूर्ण प्रसंग तुलसी के मौलिक प्रसंग कहे जा सकते हैं ।

७- राम-परशुराम प्रसंग भी तुलसीदास ने कुछ नवीनता के साथ प्रकट किया है । वाल्मीकि ने इस प्रसंग को धनुर्भंग के अनन्तर मार्ग में उस समय प्रस्तुत किया है, जब रामसीता को लेकर घर जा रहे हैं, किन्तु कथाकार तुलसी ने इस घटना को धनुर्भंग के अवसर पर जनकपुर में ही दिखा दिया है ।

८- वन-पथ में जाते हुए राम के प्रति ग्राम वधु वधुओं के स्नेहल एवं भावनामय अनुराग की सरस व्यंजना का प्रसंग तुलसीदास का सर्वथा नवीन मौलिक प्रसंग है । यह प्रसंग इतनी भावुकता के साथ किसी भी पूर्ववर्ती ग्रन्थ में वर्णित नहीं है । इसका उल्लेखमात्र 'हनुमन्नाटक' में है,किन्तु इस प्रकार भावविभोर वर्णन तुलसी की अपनी मौलिकता कही जा सकती है । मानसकार ने इस प्रसंग को अपूर्व निष्ठा सरसता एवं मनोयोग के साथ पग-पग पर आत्मविभोर होकर रामचरित-मानस,कवितावली एवं गीतावली इन तीनों काव्य ग्रन्थों में विस्तार से वर्णित किया है ।

६८ वाल्मीकि रामायण में रावण द्वारा विभीषण पर चरण -प्रहार किए जाने की घटना का कोई उल्लेख नहीं है । सामान्यरूपेण ही वह राम के दल में जा मिलता है । मानसकार ने "मुम पितु सरिस भलेहिं मोहि मारा" की अभिव्यक्ति कराकर न केवल विभीषण के जीवन-व्यापी साधु भाव को व्यंजित किया है, वरन् उसके प्रतिपक्ष दल में मिल जाने की घटना को भी अधिक स्वाभाविक बना दिया है ।

ऊपर राम-कवि तुलसीदास की कथा-प्रसंग के अन्तर्गत मौलिक उद्भावना का सूक्ष्म विश्लेषण किया जा चुका है, अब यह देखना है कि तुलसीदास ने रामकथा के कतिपय स्थलों को अपने पूर्ववर्ती राम-काव्य ग्रन्थों से भिन्न रूप में प्रकट किया है, जो तुलसी की वर्ण्य विषयक मौलिकता कही जा सकती है । यह कथा सम्बन्धी मौलिकता तुलसीदास में है अवश्य, किन्तु अत्यन्त न्यून मात्रा में तुलसी की सबसे अधिक मौलिकता चरित्रों के शील निरूपण एवं भक्ति तथा दर्शन के क्षेत्र में है । वे चरित्र जो पूर्ववर्ती राम-काव्यों में अमर्यादित, असंयमित, अनीतिपूर्ण एवं क्रोधावेश से पूर्ण थे, उनको तुलसीदास ने अपनी मौलिक प्रतिभा से मर्यादित, संयत, नीति तथा सदाचार पालक क्रोधावेश से रहित एवं गम्भीर बना दिया है । उदाहरण के लिए वाल्मीकि रामायण में लक्ष्मण का चरित्र अत्यन्त क्रोधी और पिता दशरथ के प्रति अवज्ञापूर्ण चित्रित किया गया है । कैकेयी की कुटिलता और राजा दशरथ की वचनबद्धता के बीच राम "वनगमन" के लिए प्रस्तुत हैं । आज्ञा प्राप्त करने के लिए वे माता कौशल्या के पास जाते हैं । लक्ष्मण भी उनके साथ माता

कौशल्या के पास जाते हैं । लक्ष्मण[१] क्रोधावेश में राजा दशरथ को विषयासक्त, कामातुर, स्त्रीपरवश आदि अपशब्दों से संयुक्त कर अपने प्रचुर क्रोध और अविचार का परिचय देते हैं । मानसकार ने लक्ष्मण का स्वभाव क्रोधी अवश्य चित्रित किया है, किन्तु उनमें गुरुजनों एवं माता-पिता के प्रति अमर्यादित एवम् अवज्ञापूर्ण व्यवहार का अल्प भी संकेत नहीं है । इसी प्रकार तुलसीदास ने पूर्व चित्रित रामकथा के समस्त पात्रों-- राम, सीता, कैकेयी, कौशल्या, दशरथ, रावण आदि के दुर्गुणों का परिष्कार करके उन्हें शुद्ध उदात्त, मर्यादित, नीतिपूर्ण एवं सदाचारी चित्रित किया है । ये समस्त पात्र अपने श्रेष्ठ कार्यों के कारण समाज के लिए आदर्श स्वरूप प्रतिष्ठित हुए ।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि तुलसीदास ने पात्रों के शील-निरूपण में अपनी मौलिकता का सर्वाधिक परिचय दिया है । भक्ति तथा दर्शन सम्बन्धी मौलिकता का विवेचन क्रमशः भक्ति और दर्शन के अध्यायों में हो चुका है । पुनः विश्लेषण करना पिष्टपेषण मात्र होगा । यहां निष्कर्ष रूप में केवल यही कहा जा सकता है कि तुलसीदास ने भक्ति और दर्शन के क्षेत्र में किसी सम्प्रदाय विशेष का अनुकरण या अनुसरण नहीं किया है । वे अपने समय के प्रतिष्ठित समस्त वैष्णव और अवैष्णव भक्ति के सम्प्रदायों और दार्शनिक सिद्धान्तों से यत्किंचित् प्रभावित अवश्य थे, किन्तु उन समस्त प्रभावों को उन्होंने इस प्रकार समन्वय के साथ आत्मसात् करके अपनी शुद्ध निजी बुद्धि के साथ प्रकट किया है कि वे पूर्ववर्ती सिद्धान्त अपने

---

१ वाल्मीकि रामायण, अयो० ३१।२१-२

मूल रूप में न दिखाई पड़कर तुलसी की मौलिकता भेद रूप में ही दिखाई पड़ती है ।

तुलना और निष्कर्ष

आलोच्यकालीन कृष्ण काव्य और रामकाव्य की वर्ण्य विषयक मौलिकता का विश्लेषण करने के पर निष्कर्ष रूप में यही कहा जा सकता है कि कृष्ण काव्य लीला काव्य था, वह प्रबन्ध काव्य नहीं था । कृष्ण-कवियों ने कृष्ण की जिन बाल और किशोरावस्था की सरस लीलाओं को अपने काव्य का विषय बनाया है मुक्तक काव्य के मुख्य भेद गीति काव्य के ही अनुकूल थीं । ये लीलाएं प्रबन्ध काव्य के आकार के लिए उपयुक्त नहीं थीं । मुक्तक काव्य में कवि को नवीन घटनाओं और मौलिक प्रसंगों को कल्पित करने का यथेष्ठ अवसर रहता है । यह अवसर कृष्ण-कवियों को कृष्ण-लीलाओं के माध्यम से स्वत: प्राप्त था । अत: कृष्ण कवियों ने विशेषकर सूरदास ने अपने अमूल्य ग्रन्थ'सूर सागर' में कृष्णकी अनेक लीलाओं की कल्पना करके रस व्यंजना की । इसके अतिरिक्त सूरदास में नवीन प्रसंगों की उद्भावना की कवि प्रतिभा भी थी । यदि भावों की सूक्ष्म और गहन अभिव्यंजना के साथ नवीन प्रसंगों की मौलिक उद्भावना ही कवि की कसौटी मानी जाय तो निश्चित रूप से कृष्ण कवि और विशेषकर सूरदास रामकवि विशेषकर तुलसी दास से श्रेष्ठ हैं । रामकाव्य कथा काव्य है, जो प्रबन्ध काव्यों के ही अनुकूल है । प्रबन्धकाव्य में प्राप्त कथानक का ही संघटन करके रस,व्यंजना की जाती है । गीति

काव्य की तरह इनकी प्रत्येक घटना स्वतंत्र नहीं होती है, बल्कि सभी घटनाएं मिलकर कथारस को पुष्ट करती हुई मुख्य कथानक को आगे बढ़ाती है । इस प्रकार प्रबन्ध काव्यों में नवीन घटनाओं के कल्पित करने का कम महत्व और अवसर कम रहता है । रामकवि तुलसीदास को मानस में तो नवीन प्रसंगों को कल्पित करने का अवसर कम था, किन्तु गीतिकाव्य "गीतावली" में कृष्ण-कवियों की भांति नवीन प्रसंगों की उद्भावना का यथेष्ट सुअवसर था । किन्तु वहां भी उन्होंने नवीन प्रसंगों की कल्पना नहीं की, जिससे लगता है कि रामकवि तुलसी में कृष्ण कवि सूर की भांति नवीन कल्पना करने की कवि-प्रतिभा नहीं थी । इसी बात का स्पष्ट निर्णय आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने अपने मान्य ग्रन्थ "हिन्दी साहित्य का इतिहास" में इन शब्दों में किया है--"रामचरितमानस के भीतर कहीं कहीं घटनाओं के थोड़े से हेर फेर तथा स्व-कल्पित संवादों के समावेश के अतिरिक्त कथा और ये छोटी-मोटी घटनाओं या प्रसंगों की नई कल्पना तुलसीदास ने नहीं की है । "मानस" में उनका ऐसा न करना तो उनके उद्देश्य के अनुसार बहुत ठीक है । राम के प्रामाणिक चरित्र द्वारा वे जीवन भर बना रहने वाला प्रभाव उत्पन्न करना चाहते थे और काव्यों के समान केवल अस्थायी रसानुभूति मात्र नहीं । ये प्रसंग तो केवल तुलसीदास द्वारा कल्पित हैं ।" यह धारणा इन प्रसंगों का स्थायी प्रभाव श्रोताओं या [illegible] पर न पड़ने देती । पर गीतावली तो प्रबन्ध काव्य न थी । इसमें तो सूर के अनुकरण पर वस्तु-व्यापार वर्णन का बहुत विस्तार है । उसके भीतर छोटे-छोटे नूतन प्रसंगों की उद्भावना का पूरा अवकाश था, फिर भी कल्पित घटनात्मक प्रसंग नहीं पाये जाते ।

इससे यही प्रतीत होता है कि उनकी प्रतिभा अधिकतर उपलब्ध प्रसंगों
को लेकर चलने वाली थी । नये-नये प्रसंगों की उद्भावना करने वाली
नहीं । उनकी कल्पना वस्तु स्थिति को ज्यों की त्यों लेकर उसके
मार्मिक स्वरूपों के उद्घाटन में प्रवृत्त होती थी, नयी वस्तु स्थिति
खड़ी करने नहीं जाती थी । गोपियों को छकाने वाली कृष्ण लीला
के अन्तर्गत छोटी-मोटी कथा के रूप में कुछ दूर तक मनोरंजक और
कुतूहल प्रद ढंग से चलने वाले नाना प्रसंगों की जो नवीन उद्भावना
सूरसागर में पायी जाती है । वह तुलसी के किसी ग्रन्थ में नहीं
मिलती । उपरोक्त तथ्यों के प्रकाश में इस प्रकार हम निष्कर्ष रूप में
कह सकते हैं कि कृष्णकाव्य नवीन प्रसंगों की उद्भावना के सर्वथा
अनुकूल था । इसके साथ ही कृष्ण-कवियों में नवीन प्रसंगों की
उद्भावना की पर्याप्त कवि-प्रतिभा भी थी । जिसके कारण कृष्ण
काव्य नवीन कल्पित प्रसंगों से भरपूर है । इसकी तुलना में राम की
कथा, प्रबन्ध काव्यों के ही उपयुक्त थी । उसमें मुक्तककाव्य या
गीति काव्य के लिए उपयुक्त सामग्री का सर्वथा अभाव था । जिससे
कारण कोई भी रामकाव्य ग्रन्थ मुक्तक या गीति रूपमें सफलतापूर्वक
नहीं लिखा गया । जिन कवियों ने जैसे तुलसीदास ने गीति या मुक्तक
काव्य लिखने की चेष्टा की वे प्रबन्ध काव्यों की तुलना में इस चीज
में सफल न हो सके । इसके अतिरिक्त राम कवियों में नवीन प्रसंगों
की कल्पना करने की कवि प्रतिभा का भी अभाव था । जिसके कारण
कोई भी रामकाव्य ग्रंथ मुक्तक या गीति रूप में सफलतापूर्वक नहीं
लिखा गया । जिन कवियों ने जैसे तुलसीदास ने गीति या मुक्तक काव्य

मिलने की चेष्टा की । वे प्रबन्ध काव्यों की तुलना में इस क्षेत्र में सफल न हो सके । इसके अतिरिक्त राम कवियों में नवीन प्रसंगों की कल्पना करने की कवि-प्रतिभा का भी अभाव था ।

कृष्ण-कवियों ने वर्ण्य विषय सम्बन्धी मौलिकता का थोड़ा-बहुत प्रदर्शन चरित्रों के शृंगारिक और वात्सल्य गुणों में भी किया है । राधा की कल्पना यद्यपि कृष्ण कवियों की नवीन कल्पना नहीं कही जा सकती है, किन्तु जिस रूप में राधा का चित्रण हुआ है, वह वास्तव में कृष्ण कवियों की मौलिक देन कही जा सकती है । इसके अतिरिक्त गोपियों, गोपों आदि की चरित्र विषयक विशेषताएं कृष्ण-कवियों की मौलिक अनुभूति का परिचायक हैं । नन्द और यशोदा का वात्सल्य तो विश्व साहित्य में अप्रतिम और सर्वथा मौलिक है । वात्सल्य के जिन नाना भावों का चित्रण अष्टछाप के कवियों ने किया है, वह मौलिक होते हुए आश्चर्य में डालने वाला है । वास्तव में कृष्ण-कवियों ने कृष्णलीला के विभिन्न पात्रों के विभिन्न भावों का अनुभव करके उनके साथ भावात्मक एकता स्थापित करते हुए कृष्ण -लीला का रसास्वादन किया है । जिससे पात्र परम्परा से प्रसिद्ध होते हुए भी अपने विशिष्ट गुणों के कारण सर्वथा मौलिक दिखायी पड़ते हैं, किन्तु पात्रों के चरित्रविषयक वर्णन में रामकवि कृष्णकवियों से आगे हैं । रामकवि तुलसीदास ने चरित्रों के शील निरूपण में जिस मौलिकता का परिचय दिया है, वह कृष्ण कवियों में नहीं उपलब्ध होता है । कृष्ण कवि केवल लीलाओं के अन्तर्गत नवीन प्रसंगों की उद्भावना में राम कवियों से अवश्य आगे हैं

किन्तु चरित्रों के शील-निरूपण में रामकवि तुलसीदास से पीछे हैं । तुलसीदास ने अपने पूर्ववर्ती ग्रन्थों से प्राप्त इतिहास प्रसिद्ध चरित्रों को लेकर उनका व्यक्तित्व इस प्रकार सुगठित, मर्यादित, सदाचारी, नैतिक एवं सामाजिक गुणों से पूर्ण बना दिया है कि वे परम्परा से प्राप्त होते हुए भी सर्वथा नवीन मालूम पड़ते हैं । तुलसीदास ने मानवीय गुणों का उदात्तीकरण एवं परिमार्जन अपने साहित्य के द्वारा किया है । क्रोधी से क्रोधी, कपटी से कपटी, दुर्गुणी से दुर्गुणी तथा असंयत एवं अमर्यादित चरित्रों को भी अपनी लेखनी से तुलसीदास ने परिमार्जित कर दिया है ।

वास्तव में रामकाव्य विशेषकर तुलसी साहित्य मानवीय गुणों के पूर्ण विकास का इतिहास है । इस क्षेत्र में कोई भी कृष्ण कवि अथवा समूचा कृष्ण साहित्य तुलसी साहित्य की समता नहीं कर सकता है ।

नवीन प्रसंगों की उद्भावना, चरित्र-निरूपण सम्बन्धी मौलिकता के अनन्तर हम सिद्धान्त के क्षेत्र में दोनों काव्यों की मौलिकता की तुलना करेंगे । सिद्धांत के अन्तर्गत भक्ति तथा दर्शन दोनों का समावेश किया जाता है । भक्ति के क्षेत्र में आ० कृष्ण काव्य आचार्यों द्वारा प्रवर्तित कृष्ण-सम्प्रदायों पर आश्रित है । सम्प्रदायों से प्राप्त भक्ति का ही निरूपण आलोच्य-कालीन कृष्ण-कवियों ने अपने पदों में रागात्मक भावों के माध्यम से किया है । इस क्षेत्र में वे मौलिक योगदान नहीं कर सके हैं । केवल अपने सम्प्रदायों के भक्ति सिद्धांतों के प्रचार तक ही सीमित रहे हैं, किन्तु रामकवि तुलसीदास किसी भी सम्प्रदाय पर आश्रित नहीं थे ।

उन्होंने सम्प्रदाय विशेष का अनुकरण या अनुसरण आँख मूंद कर नहीं किया, बल्कि इस क्षेत्र में तत्कालीन प्रचलित समस्त वैष्णव और अवैष्णव भक्ति सम्प्रदायों में मान्य सिद्धान्तों का सम्यक् अनुशीलन और परिशीलन करते हुए समन्वयात्मक दृष्टि से उसे सर्वथा मौलिक बना दिया है । इस प्रकार भक्ति के क्षेत्र में तुलसीदास का मौलिक योगदान निर्विवाद रूप से स्वीकार किया जा सकता है । जैसा की भक्ति के अध्याय में विश्लेषित है । भक्ति सिद्धांतों के विवेचन की भांति दर्शन के क्षेत्र में भी कृष्ण कवि रामकवि तुलसीदास की तुलना में बहुत पीछे हैं । कृष्ण कवियों की रुचि दार्शनिक विवेचन में बहुत कम रह रही है । उन्होंने यत्र-तत्र अपनी रचनाओं में स्वसम्प्रदायों के मान्य दार्शनिक सिद्धांतों का संकेत मात्र किया है । उनका क्रम बद्ध विवेचन नहीं किया है । इस प्रकार दर्शन के क्षेत्र में भी मौलिक योगदान करना तो दूर रहा स्वसम्प्रदायों से प्राप्त सिद्धांतों का पूर्ण विवेचन भी इन कवियों ने नहीं किया है, क्योंकि ऐसा करना इनको अभीष्ट भी नहीं था । किन्तु रामकवि तुलसीदास ने भक्ति की भांति दर्शन के क्षेत्र में भी तत्कालीन दार्शनिक सम्प्रदायों के मान्य सिद्धांतों को अपने साहित्य में पूर्ण स्थान दिया । उन सिद्धांतों का समन्वयात्मक दृष्टि से विवेचन करते हुए उन्हें सर्वथा मौलिक रूप दे दिया है । जिसका पूर्ण विवेचन दर्शन के अध्याय में किया जा चुका है । यहां केवल इतना ही कहना अभीष्ट है कि दर्शन के क्षेत्र में तुलसीदास ने पर्याप्त मौलिकता का परिचय दिया है । अस्तु उपर्युक्त प्रकरण का सूक्ष्म विश्लेषण करने के बाद निष्कर्ष रूप में यही कहा जा सकता है कि जिस प्रकार कृष्ण कवियों में नवीन प्रसंगों की

कल्पित करने की कवि-प्रतिभा मौजूद थी उसी प्रकार राम कवि तुलसीदास भक्ति तथा दर्शन विषयक सिद्धांतों का विवेचन और मौलिक योगदान में दार्शनिक प्रतिभा से पूर्ण सम्पन्न थे। और जिस प्रकार कृष्ण कवि भक्ति तथा दर्शन के क्षेत्र में प्राप्त सिद्धांतों को ही लेकर चले हैं। मौलिकता का परिचय नहीं दे सके हैं उसी प्रकार रामकवि तुलसीदास भी नवीन घटनाओं को कल्पित करने में असमर्थ रहे हैं। केवल परम्परा से प्राप्त कथानक को ही लेकर ग्रंथ रचना की है। इस प्रकार कृष्ण कवियों में कल्पना और भावना की कवित्व शक्ति थी तो रामकवि तुलसीदास में एक दार्शनिक विचारवान मस्तिष्क था। एक हृदय पक्ष प्रधान है तो दूसरा बुद्धि या मस्तिष्क प्रधान।

रस

भरत के रस सूत्र की विभिन्न प्रकार की व्याख्या करते हुए आचार्यों ने विभावों, अनुभावों और व्यभिचारी भावों के संयोग से रस-निष्पत्ति मानी है। 'संयोग' और 'निष्पत्ति' का चाहे जो अर्थ किया जाये किन्तु यह तो निश्चित है कि रस विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के सम्मिलित प्रभाव का फल है रस को अधिकांश विद्वानों ने काव्य की आत्मा कहा किन्तु रसों की संख्या के बारे में मतभेद है। संस्कृत काव्यशास्त्र की परम्परा में अधिकांश विद्वान नवरस ही मानते हैं। आचार्य विश्वनाथ ने 'वात्सल्य' नामक दसवें रस को प्रतिष्ठित किया।

इसी प्रकार वैष्णव आचार्यों ने भक्तिरस नामक ग्यारहवें रस को अपने साहित्य में पूर्ण प्रतिष्ठा की । भक्तिरस भक्ति का विषय है, जिसका विवेचन भक्ति के अध्याय से सम्बन्धित है । शेष इस प्रकार के रसों के आधार पर ही आलोच्यकालीन कवियों की रचनाओं को देखने की चेष्टा करेंगे । सर्वप्रथम वात्सल्य को ही लेंगे --

वात्सल्य

भारतीय आचार्यों ने साधारणतया इसे शृंगार रस के अन्तर्गत ही परिगणित किया है, क्योंकि इसका स्थायी भाव वात्सल्य रति ही है । किन्तु आचार्य विश्वनाथ ने वात्सल्य को नवरसों से अलग एक स्वतन्त्र रस के रूपमें स्वीकार किया है । उन्होंने पुत्र विषयक रति(वात्सल्यपूर्ण स्नेह) को ही इस रस का स्थायी भाव माना है । पुत्र एवं पुत्री दोनों ही इसके आलम्बन विभाव होते हैं । बालोचित चेष्टाएं, बाल चपलता आदि इसमें उद्दीपन का कार्य करते हैं । आश्रय रूप में माता-पिता का मुस्कुराना, पुत्रों को पुकारना उन्हें गोद में लेना आदि चेष्टाएं अनुभाव होती हैं । शंका (अनिष्ट की आशंका) गर्व, हर्ष और आवेगादि संचारी भाव होते हैं । शृंगार रस की भांति वात्सल्य के भी दो भेद होते हैं-- संयोग और वियोग । संयोग वात्सल्य में हर्ष की प्रधानता होती है और वियोग में चिन्ता और करुणा आदि की । इन्हीं दोनों के अंतर्गत हम कृष्ण और रामकाव्य का विश्लेषण करके तुलना करेंगे ।

कृष्ण काव्य

आलोच्यकालीन कृष्ण काव्य के अन्तर्गत वल्लभ सम्प्रदाय में वात्सल्य रति का सर्वाधिक महत्व है । क्योंकि वल्लभ सम्प्रदाय में कृष्ण के बालरूप की ही प्रतिष्ठा थी और बाल चेष्टाओं का विशेष आदर था । इसी कारण सूर आदि वल्लभ सम्प्रदाय के हिन्दी कवियों ने वात्सल्य को रस की कोटि तक पहुंचा दिया और आचार्य विश्वनाथ के वात्सल्य के स्वतन्त्र रस सिद्धान्त को सिद्ध कर दिया । किसी भी अन्य कवि ने वात्सल्य का इस प्रकार सांगोपांग वर्णन नहीं किया है । अब हम वल्लभ सम्प्रदाय के कवियों के वात्सल्य रस विषयक पदों का दिग्दर्शन करेंगे :—

वल्लभ सम्प्रदाय के कवियों ने वात्सल्यासक्ति को बहुत महत्व दिया है । नन्द और यशोदा के साथ अपने हृदय का तादात्म्य स्थापित कर कृष्ण भक्त कवि प्रेम-मग्न रहते थे । सूरदास ने वात्सल्य रति का बड़ा ही मर्मस्पर्शी चित्रण किया है, जिसमें संयोग और वियोग दोनों पक्षों के हृदयग्राही चित्र हैं । नन्द के घर खेलते, डोलते, नाचते कृष्ण का बहुत ही सुन्दर चित्र सूरदास ने निम्न में उपस्थित किया है । वात्सल्य रस का सांगोपांग विवेचन इस पद में

---

१ बलि गई बाल-रूप-मुरारि ।
पाइ पैंजनि रटति रुन-झुन नचावति नन्द नारि ।
कबहुं हरि कों लाइ अंगुरी, चलन सिखावति ग्वारि ।
कबहुं हृदय लगाइ हित करि, लेति अंचल ढारि ।
कबहुं हरि को चितै चूमति, कबहुं गावति गारि ।
सूर सुर-नर सबै मोहे, निरखि यह अनुहारि ।
—सूरसागर(सभा)पद ७२६

किया गया है । कृष्ण आलम्बन है, यशोदा आश्रय, कृष्ण की अनुपम छवि, उनका ठुमक पैजनियां बजाते हुए चलना आदि उद्दीपन हैं । यशोदा का हरि को देखना, चूमना, आंचल में छिपाना, पीछे को और दुराना आदि अनुभाव हैं और हर्ष संचारी भाव है ।

इसी प्रकार 'सूर सागर'[1] के एक अन्य स्थल पर सूरदास ने बालकृष्ण के घुटनों के बल चलने का बहुत ही स्वाभाविक और सजीव वर्णन किया है । बालक कृष्ण मणिमय आंगन में अपने प्रतिबिम्ब को पकड़ने की चेष्टा करते हैं । यशोदा सुत की क्रीडाओं को देखकर बहुत प्रसन्न होती हैं । वह बार बार नन्द को इस सुख में सम्मिलित होने के लिए बुलाती हैं । नारी की मातृत्व-भावना स्वयं अकेले ही वात्सल्य का अनुभव कर सन्तुष्ट नहीं होती । बल्कि वात्सल्य के पूर्ण आस्वादन के लिए पति का योग चाहती है । मानव-मन की इस गहराई का सूक्ष्म निरीक्षण सूरदास ने अपनी बन्द आंखों से पूर्ण

---

१ किलकत कान्ह घुटुरुवनि आवत ।
मनिमय कनक नन्द कैं आंगनु बिंब पकरिबैं धावत ।
कबहुं निरखि हरि आपु छांह कौ, कर सौं पकरन चाहत ।
किलकि हंसत राजत द्वै दंतियां, पुनि पुनि तिहिं अवगाहत ।
बाल-दसा सुख निरखि जसोदा, पुनि-पुनि नन्द बुलावति ।
अंचरा तर लै ढांकि, सूर के प्रभु कौं दूध पियावति ।
—सूरसागर(सभा)पद ७२८ ।

तन्मयता के साथ किया है। सांसारिक अनुभवों से दूर रहते हुए भी सूर ने सांसारिक सम्बन्धों का अप्रतिम वर्णन किया है। पुरुष होकर भी वे माता के हृदय से सुपरिचित हैं और अन्धे होते हुए भी सूक्ष्मदर्शी हैं। माँ के हृदय की कोमल कामनाओं का निम्न पद में कितना सुन्दर स्फुरण हुआ है[1]। बच्चे के विकास के प्रति माँ के हृदय में अनन्य उत्सुकता रहती है। उसकी समस्त क्रियाएं और भावनाएं उसी में केन्द्रित हो जाती हैं।

माँ का हृदय बड़ा ही शंकालु होता है। घर से निकलते ही उसके बच्चे पर न जाने क्या आपत्ति आ जाय? इस कारण माँ यशोदा बालक कृष्ण को खेलते हुए दूर जाने से रोकती हैं[2]। माँ की कोमल भावनाओं के अतिरिक्त बच्चों की मनोवृत्तियों, व्यापारों और चेष्टाओं का साकार और सजीव चित्रण सूरदास ने किया है। बालकों की दैनिकचर्या के सूक्ष्म से सूक्ष्म भेद को, छोटे से छोटे व्यापार को और गूढ़ से गूढ़ अनुभूति को चित्रित करने में कवि ने असावधानी नहीं दिखलाई है। माखन खाते हुए कृष्ण का चित्र देखने योग्य है[3]।

---

१ जसुमति मन अभिलाष करैं।

कब मेरो लाल घुटुरुनि रेंगैं, कब धरनी पग द्वैक धरैं।

कब द्वै दाँत दूध के देखौं, कब तोतरे मुख बचन झरैं।

सूरसागर, पद सं० ६९४

२ सूरसागर (सभा) पद सं० ८३८

३ ,, (सभा संस्करण) पद सं० ७१८

बच्चों में स्पर्द्धा का भाव बड़ा तीव्र होता है। वे किसी भी बात में अपने हमजोलियों से पीछे नहीं रहना चाहते। कृष्ण की चोटी से बलराम की चोटी बड़ी है। वे अपनी चोटी को बढ़ाना चाहते हैं। यशोदा उन्हें चोटी बढ़ाने का लोभ देकर दूध पिलाती हैं, क्योंकि वे वैसे दूध पीते नहीं। पर जब फिर भी चोटी नहीं बढ़ी तो यशोदा से शिकायत करते हैं--

मैया कबहिं बढ़ैगी चोटी।

किती बार मोहिं दूध पियत भई,यह अजहूं है छोटी।

\+ + +

काचौ दूध पियावति पचि-पचि, देत न माखन रोटी[1]।

इसी प्रकार बालक कृष्ण के मचलने,हठ करने तथा रुदन करने आदि का बड़ा ही सजीव वर्णन सूर ने किया है।

समवयस्कों द्वारा चिढ़ाये जाने पर बच्चों के हृदय में जो आत्मगौरव की भावना जागृत होती है, वह उन्हें शिकायत करने के लिए उत्तेजित करती है। यही कारण है कि जब खेल ही खेल में बलराम ने कृष्ण को मोल लिया हुआ बताया तो कृष्ण ने भी घर आकर माता यशोदा से शिकायत की[2]। इसी प्रकार ग्वालों के साथ खेलते हुए झगड़ा करना, हारने पर दुखी होना और न खेलने की चेष्टा करना आदि का बड़ा ही सजीव चित्रण सूर ने किया है। इसी प्रकार गोचारण

---

१ सूरसागर(सभा) पद ७९८
२ ,, ,, पद ७८३
३ ,, ,, पद ८३२

करते हुए कृष्ण का बाल सखाओं के साथ मिलकर छाक खाना आदि का भी सविस्तार वर्णन है । कृष्ण-बाल-लीला के अन्तर्गत सूरदास ने गोपियों के प्रेम का विकास बहुत ही स्वाभाविक ढंग से किया है । बाल्यावस्था में साथ-साथ खेलने वाले सखा और सखी किस प्रकार किशोरावस्था में प्रिय और प्रिया बन गए,इसका बड़ा ही स्वाभाविक वर्णन सूरदास ने किया है । इसी प्रकार माखन-चोरी आदि का भी बाल-सुलभ वर्णन 'सूरसागर' में पर्याप्त मिलता है । जिससे सूरदास की बाल प्रवृत्ति का सच्चा अनुभव प्रदर्शित होता है ।

सूरदास के समान ही परमानन्ददास ने भी वात्सल्य रस प्रधान सुन्दर पदों की रचना की है । एक दिन एक मालिन नन्द के घर बेर बेचने आई । उसका नाम सुनते ही कृष्ण अंजली में सूखा धान भरकर ठुमुक ठुमुक कर दौड़ते चले आए[1] । उसका चित्रण परमानन्ददास ने बहुत ही सुन्दर ढंग से किया है । इसी प्रकार अष्टछाप के अन्य कवियों ने भी कृष्ण की बाल लीलाओं का चित्रण किया है, किन्तु वे बाल वर्णन सूरदास की जूठन प्रतीत होते हैं । अन्य सम्प्रदायों के कृष्ण कवियों ने या तो बाल वर्णन को महत्व नहीं दिया है , या वे इस क्षेत्र में असफल ही रहे । वास्तव में सूरदास ने बालक कृष्ण की जितनी बाल लीलाओं,चेष्टाओं और बाल मनोवृत्तियों का अपने साहित्य में उद्घाटन किया है,उतनी मनोवृत्तियों का वर्णन करना तो दूर रहा,कोई भी कवि उनकी कल्पना भी नहीं

---

१ कोउ मैया बेर बेचन आई ।

✦ ✦ ✦

परमानन्द स्वामी आनन्दे बहुत बेरि सब पाई ।

--डा०दीनदयालु गुप्त के परमानन्ददास पद संग्रह से पद सं०२७ ।

कर सकता । इस क्षेत्र में सूरदास हिन्दी साहित्य अथवा भारतीय साहित्य ही नहीं, विश्व-साहित्य में बेजोड़ हैं ।

रामकाव्य

रामकाव्यान्तर्गत तुलसीदास ने ही वात्सल्य का विस्तृत वर्णन किया है । अन्य राम कवियों ने या तो बाल वर्णन का स्पर्श ही नहीं किया, जिन्होंने स्पर्श भी किया, जैसे केशव, उन्होंने बाल वर्णन में रुचि न प्रदर्शित करते हुए केवल चलते हाथ उल्लेख मात्र कर दिया । अतः हमें राम काव्यान्तर्गत केवल तुलसी के ही बालवर्णन पर संतोष करना पड़ेगा । तुलसी के वात्सल्य वर्णन का क्षेत्र व्यापक है । पार्वती, राम, लक्ष्मण, सीता आदि के प्रति माता-पिता एवं स्वयं कवि के वात्सल्य का वर्णन तो मार्मिक है ही, राम-सीता के प्रति सास-ससुर अन्य गुरुजनों तथा सामान्य नर-नारियों का वात्सल्य भी महत्वपूर्ण है । वात्सल्यमयी मां के ममतापूर्ण हृदय की मर्मस्पर्शी व्यंजना ~~हिन्दी के क्षेत्र~~ का जो चित्ताकर्षक निरूपण तुलसी ने किया है, वह अन्यत्र दुर्लभ है । यह आवश्यक नहीं है कि बालक ही वात्सल्य का आलम्बन और वयोवृद्ध जन ही उसका आश्रय हों । पाल्य-पालक भाव के कारण दास-दासियों तथा भक्तों के प्रति राम का स्नेह भी वात्सल्य ही है । इसी कारण से उन्हें भक्त वत्सल कहा गया है । राम की भक्तवत्सलता का निरूपण तुलसी के अतिशय प्रिय विषयों में से एक है । स्नेह के इस रूप का वर्णन भी तुलसी के वात्सल्य निरूपण का एक प्रमुख अंग रहा है । वात्सल्य के संयोग और वियोग दोनों पक्षों का तुलसीदास ने

विशद् वर्णन किया है । `गीतावली`, `कवितावली`, `रामचरितमानस` के बालकाण्ड में संयोग वात्सल्य की वैविध्यपूर्ण झाँकियाँ प्रस्तुत की गई हैं । राम आदि के नैसर्गिक रूप की उनकी सुसज्जित सौन्दर्य की तथा आनन्ददायिनी बाल लीलाओं का बड़ा ही मनोरम चित्रण तुलसीदास ने किया है । यह वर्णन सबसे अधिक `गीतावली` में हुआ है, क्योंकि तुलसीदास को `गीतावली` में बाललीलाओं और बाल-सौंदर्य के वर्णन का अभीष्ट अवसर था । `गीतावली` के एक पद में तुलसीदास ने राम की बाल्यावस्था का बहुत ही सुन्दर चित्र खींचा है[१] । इस पद में धनुष और तरकस से राम की बाण-क्रीड़ा का चित्रण है । बालक राम का सहज सौंदर्य आभूषणों के सहयोग से अधिक आकर्षक हो गया है । अलंकार सौंदर्य को बढ़ाते हैं । वे सौंदर्य की सृष्टि नहीं करते हैं । राम में सहज सौंदर्य है । उनका लावण्य वर्णनातीत है । अत: उस शोभा का केवल अनुभव किया जा सकता है । उसे वाणीबद्ध नहीं किया जा सकता । अंतिम दो पंक्तियों में अपनी असमर्थता प्रकट करके कवि ने उसके घनीभूत प्रभाव की मर्मस्पर्शी व्यंजना की है ।

बाल वर्णन के प्रसंग में खेलों का वर्णन स्वाभाविक है । राम की क्रीड़ाओं के चित्रण में भी तुलसी के विशिष्ट दृष्टिकोण की झलक पाई जाती है । उनके राम मर्यादा पुरुषोत्तम,

---

१ छोटिऐ धनुहियाँ, पनहियाँ पगनि छोटी,
छोटिऐ कछौटी, कटि छोटिऐ तरकसी ।
लसत झँगूली झीनी दामिनि की छबि छीनी,
सुन्दर बदन सिर पगिया जु जरकसी ।
बय अनुहरत, बिभूषन बिचित्र अंग,
जोहे जिय आवति सनेह की सरकसी ।

—गीतावली १।४४

धर्मसंस्थापक और लोकरक्षक हैं । इसलिए असमीचीन, माखनचोरी अथवा बालाओं से छेड़-छाड़ उनके स्वभाव के प्रतिकूल है । वे बचपन में बाल-स्वभाव-वश एकाध बार गोली, भौंरा और चकडोरी खेलते अवश्य हैं, किन्तु ये उनके इष्ट खेल नहीं हैं । राम, राजकुमार हैं और आगे चलकर उन्हें दुष्ट राक्षसों का वध करना है, इसलिए तुलसीदास ने उन्हें आखेट, चौगान और शर-क्रीड़ा में विशेष तन्मय दिखलाया है ।

कृष्ण की बाल-लीला के चित्रण में तुलसीदास ने कृष्ण काव्य की परिपाटी का अनुसरण किया है । 'कृष्ण गीतावली' ग्रन्थ में तुलसीदास ने यशोदा के सामने अपनी सफाई देते हुए शरारती कृष्ण का उलाहना देने वाली गोपियों पर बातें बनाने का उलटा दोष लगाते हैं[1] । इसी प्रकार का एक पद[2] 'सूरसागर' में मिलता है जिसमें एक पंक्ति है —'मेरे कर अपनैं उर धारति आपुन ही चोली धरि फारि' तुलनात्मक दृष्टि से तुलसीदास तथा सूरदास के उक्त दोनों पद पूर्णतः मिलते हैं और तुलसी के इस पद पर सूर के पद का स्पष्ट प्रभाव है । किन्तु ऊपर वर्णित शृंगारिक पंक्ति तुलसीदास के पद में नहीं है, क्योंकि तुलसीदास

---

१ मो कहं झूठेहु दोष लगावहिं ।

मैया इन्हहिं बानि परगृह की नाना जुगुति बनावहिं ।

\+ \+ \+

करहिं बाहु सिर धरहिं आनके बचन बिरंचि लजावहिं ।

—कृष्ण गीतावली ५

२ सूरसागर(सभा)पद ६२२ ।

मर्यादावादी थे । सूर के पद का पूर्ण अनुसरण करते हुए भी नग्न श्रृंगार उन्हें मान्य नहीं था । अतः उसका परित्याग कर दिया ।

तुलसी के राम का प्रायः सम्पूर्ण बाल-वर्णन संयोग वात्सल्य का उदाहरण है । माता-पिता उन्हें गोद में खिलाते हैं, कौशल्या उन्हें सेज पर सुलाती है, तेल उबटन लगाती हैं, नहलाती हैं, सजाती हैं, पालने में झुलाती हैं, दुलारती हैं, अंगुली पकड़कर चलना सिखाती हैं, चुटकी बजाकर नचाती हैं आदि सभी माताएं और पुर-नारियां उनकी बाल-केलि को देख-देखकर आनन्दित होती हैं ।

<u>वियोग वात्सल्य-कृष्ण काव्य</u>

संयोग की भांति वियोग का वर्णन भी सूरदास ने वात्सल्य से ही किया है । कृष्णके बिना घर आंगन, गोकुल सब कुछ सूना है । जिस कृष्ण के अभाव में यशोदा पल भर भी नहीं रह सकती थीं, उसे वह कैसे दूर कर दें । अतः यशोदा

---

१ ललित सुतहिं लालति सचु पाये ।
कौसल्या कल कनक अजिरमहं,सिखवति चलन अंगुरियां लाये ।
किलकी किलकि नाचहि चुटकी सुनि, डरपति ज जननि पानि छुटाये ।
गिरि घुटुरुवनि टेकि उठि अनु[illegible]रि बोलत पूप देखाये ।
बाल-केलि अवलोकि मातुसब मुदित मगन आनन्द न समाये ।
—गीतावली १।३२।१, ५-६

कृष्ण को मथुरा भेजने को तैयार नहीं हैं[1]। यशोदा के मुख से निकले हुए ये शब्द कितने मर्मस्पर्शी हैं।

नन्द के मुख से यद्यपि इतनी विकलतापूर्ण उक्तियां नहीं निकलीं, फिर भी उनके हृदय में वियोग का सागर लहरा रहा है। यह वियोग का सागर पुरुषत्व के बांध से बंधा है। उनके भाव, बुद्धि और तर्क से संयत हैं, इसलिए अथाह होते उबल नहीं पड़ते[2]। नन्द को विश्वास है कि कंस कृष्ण का कुछ भी बिगाड़ नहीं सकता फिर भी कुछ न कुछ चिन्ता लगी ही रहती है।

कृष्ण अक्रूर के साथ मथुरा चले गए। यशोदा को आशा थी कि नन्द के साथ ही कृष्ण भी लौट आयेंगे, परन्तु कृष्ण ने मथुरा से नन्द को विदा कर दिया और नन्द असह्य वेदना के साथ अकेले आते दीख पड़ते हैं, तो यशोदा पुत्र-वियोग की तीव्रता के कारण आपे में नहीं रहतीं। वेदना के आधिक्य के कारण वे इस बात को भूल जाती हैं कि स्वयं नन्द भी विवश हैं और उनकी भी दशा बुरी है। वह उन्हें भी जी भर कर बुरा-भला कहती हैं। यशोदा के ये कठोर शब्द

---

१ मेरौ माई निधनी कौ धन माधौ।
बार-बार निरखि सुख मानति, तजति नहीं पल आधौ।
छिनु-छिनु परसति अंकन लावति, प्रेम प्रफुल्ल है पावौ।
\+ \+ \+
—सूरसागर(सभासंस्करण) पद सं०३५८८

२– भरोसौ कान्ह कौ है मोहिं।
सुनहि यशोदा कंस-नृपति-भय तू कत व्याकुल होहि।
—सूरसागर(सभा)-पद सं० [illegible]

पति के प्रति अनादर के शब्द नहीं हैं। बल्कि पुत्र वियोगिनी माता के हृदय की उस गहरी व्यथा को सूचित करते हैं जिसमें प्रिय वस्तुएं भी अप्रिय सी लगती हैं। दशरथ के समान पुत्र-वियोग के कारण प्राण-त्याग न करने पर यशोदा नन्द को उलाहना देती हैं। यशोदा को पुत्र-वियोग इतना अधिक कष्ट दे रहा है कि वह ब्रज छोड़कर मथुरा में देवकी और वसुदेव की दासी बनकर रहने को तैयार है। प्रेम में आत्म-विस्मृति की भावना गहरी हो जाती है और मिलन की उत्सुकता का उद्रेक समस्त भावों को तिरोभूत कर देता है[1]। इस पद के अंतिम शब्दों में मातृ-हृदय का समूचा वात्सल्य मानों स्वमार्गी उमड़ पड़ा है। पुत्र कहीं भी हो, सकुशल रहे, यही माता की कामना होती है। पुत्र के प्रिय खाद्य पदार्थ को देखते ही उसकी याद आ जाना स्वाभाविक ही है। माता को यह भी विश्वास नहीं होता कि उसके बिना अन्य कोई उसके पुत्र के खाने-पीने आदि की समुचित व्यवस्था कर सकता है। यह विश्वास वात्सल्यजनित ही है। कृष्ण राजा हो गए हैं, फिर भी यशोदा को चिन्ता है[2] कि उन्हें प्रातःकाल ही कौन बिना मांगे माखन रोटी देता होगा। यह वात्सल्य का अनुपम उदाहरण है।

---

१ हौं तौ माई मथुरा ही पै जैहौं।
दासी है वसुदेव राइ की, दरसन देखत रैहौं।
— सूरसागर (सभा) पद सं० ३७८८

२ सूरसागर (सभा) पद सं० ३७९१

रामकाव्य

रामकाव्यान्तर्गत तुलसीदास ने संयोग वात्सल्य की भांति वियोग वात्सल्य का भी सफल चित्रण किया है, किन्तु उन्होंने संयोग वात्सल्य का वर्णन अपेक्षाकृत अधिक विस्तार से किया है। उनके वियोग वात्सल्य में विस्तार न होकर घनत्व अधिक है। राजा दशरथ पुत्र-वियोग में इतने व्याकुल हो जाते हैं कि अपने प्राण तक छोड़ देते हैं। यहां वियोग वात्सल्य करुण रस में परिणित हो जाता है। कृष्ण कवियों में वियोग वात्सल्य का विस्तार से वर्णन है, किन्तु वह घनत्व नहीं है जो रामकवि तुलसीदास में है। कृष्ण काव्य में वर्णित वियोग वात्सल्य के पात्र नन्द और यशोदा आदि कृष्ण-वियोग में अत्यधिक दुखित चित्रित किए गए हैं। अत्यन्त व्याकुल और बेचैन दिखाए गए हैं। नन्द और यशोदा के साथ ही साथ ब्रज और गोकुल का सारा वातावरण भी कृष्ण-वियोग में दुखित और विक्षुब्ध चित्रित किया गया है। किन्तु कोई भी कृष्ण काव्य का पात्र वियोग वात्सल्य की उस अवस्था को प्राप्त नहीं है, जिस अवस्था को रामकाव्यान्तर्गत दशरथ प्राप्त हैं। दशरथ की इस अवस्था को शृंगार वियोग की एकादश अवस्था मरण के अन्तर्गत माना जा सकता है। तुलसीदास ने दशरथ के अतिरिक्त कौशल्या के भी वात्सल्य-वियोग का सफल चित्रण किया है[१]।

---

१ गीतावली २।५३

तुलसीदास ने विश्वामित्र के प्रसंग में भी वियोग-वात्सल्य का किंचित् चित्रण किया है[1]। तथापि इसका व्यापक निरूपण राम-वन-गमन के प्रसंग में हुआ है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि रामकवि तुलसीदास का वियोग वात्सल्य अत्यन्त तीव्र, संवेदनशील और मार्मिक है। मात्रा में न्यून होते हुए भी भावों की गहराई में असीम है।

तुलना और निष्कर्ष

उपर्युक्त संक्षिप्त विश्लेषित तथ्यों के आधार पर यही कहा जा सकता है कि कृष्ण काव्य में वर्णित वात्सल्य की तुलना में रामकाव्य नगण्य है। वास्तव में कृष्ण-कवि सूरदास की प्रतिष्ठापित वात्सल्य के क्षेत्र में रामकाव्य का क्या विश्व का कोई भी काव्य नहीं कर सकता है। इस क्षेत्र में सूरदास अतुलनीय और बेजोड़ हैं। वत्स के प्रति माता के वात्सल्य की जितनी मनोवृत्तियां सम्भव हैं, उन सब का सफल चित्रण सूरदास ने किया है। इसीलिए कहा जाता है कि सूरदास को मातृ-हृदय प्राप्त था। रामकवि तुलसीदास ने भी अपने ग्रन्थ 'गीतावली' में राम का बाल वर्णन ४४ पदों में विस्तार के साथ किया है, किन्तु यह बाल-वर्णन कृष्णकवि सूरदास के बालवर्णन के अनुकरण पर किया हुआ प्रतीत होता है, क्योंकि बहुत से पद 'सूर सागर' और 'गीतावली' में सूरदास और तुलसीदास के नाम से के अतिरिक्त श्याम और राम के नाम से अक्षरशः मिलते हैं, जैसे--

---

१ रामचरितमानस १।२०८।१-२

सूरसागर -- जसोदा हरि पालने झुलावैं ।

गीतावली-- पालने रघुपति झुलावैं ।

इसी प्रकार के अनेक पद हैं, जिनमें दोनों ग्रन्थों में पूर्ण साम्य है और यह तो निश्चित है कि 'गीतावली' ग्रन्थ सूरसागर के बाद लिखा गया है,क्योंकि सूरसागर ग्रन्थ तुलसीदास के समक्ष गीतावली लिखने के पूर्व ही आ चुका था, इसका समर्थन वेणी-माधवदास के के ग्रन्थ 'गोसाईं चरित' से भी हो जाता है[1]। यदि वेणीमाधवदास के ग्रन्थ 'गोसाईं-चरित' के को इ को प्रामाणिक न भी मानें, तब भी गीतावली का सम्पूर्ण अध्ययन करने के पश्चात् यही धारणा दृढ़ होती है कि गीतावली ग्रन्थ पूर्णत: कृष्ण काव्य के प्रभाव से लिखा गया है,क्योंकि इस ग्रन्थ में तुलसीदास ने जिस प्रकार राम के मर्यादित व्यक्तित्व का अरलील चित्रण किया है, वह कृष्ण काव्य से पूरा साम्य रखता है और ऐसा वर्णन तुलसी के अन्य ग्रन्थों में नहीं हुआ है । अत: यह निर्विवाद रूप से माना जा सकता है कि गीतावली में वर्णित राम का बाल वर्णन कृष्ण काव्य के अनुकरण पर किया गया है,अत: पदों की शब्दावली और भावों में पूर्ण साम्य है । तुलसी के अन्य ग्रन्थों जैसे मानस और कवितावली में राम का बाल वर्णन अति संक्षेप में किया गया है ।

उपर्युक्त वर्णित साम्य के अतिरिक्त कृष्ण और रामकाव्य के बाल वर्णन में पर्याप्त भिन्नता भी है । तुलसी का बाल वर्णन बाह्य और वर्णनात्मक अधिक है,आन्तरिक या मनोभावों

---

1 'गोसाईं चरित', वेणीमाधवदास, दोहा ३९

को संवेदनशील बनाने में अपेक्षाकृत कम समर्थ है । उसमें स्थिति का सांगोपांग निरूपण है, पर यह बाल वर्णन अभिनयात्मक नहीं हुआ है । समस्त सौन्दर्य एक दर्शक की भांति ही कवि के मुख से वर्णित है । पात्रों के सम्भाषण का अधिकतर अभाव है ।तुलसीदास ने राम के सौन्दर्य, उनकी बाल-छवि और बालक राम की वेशभूषा आर बाह्य रूप रंग का ही अधिकतर वर्णन किया है । बालक राम की मनोवृत्तियों एवं मनोवेगों की गहराई में वे नहीं गए हैं । उनकी तुलना में कृष्ण कवि सूरदास बालक कृष्ण के बाह्य सौन्दर्य के अतिरिक्त उनकी बाल मनोवृत्तियों का गहराई में वर्णन किया है । बालक की छोटी से छोटी चेष्टा उसके बाल-मनोभाव का जितनी गहराई से सूर ने वर्णन किया है, वह रामकाव्य में संभव नहीं है । सूरदास का बाल वर्णन अभिनयात्मक है, जैसे—

मैया कबहिं बढ़ैगी चोटी ।

किती बार मोहिं दूध पियत भई, यह अजहूं है छोटी ।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि कृष्ण काव्य में वर्णित वात्सल्य मनोविज्ञानिक, बालमनोभावों और मनोवृत्तियों से युक्त पूर्ण नैसर्गिक हैं । उसमें बालोचित स्वतन्त्रता, चंचलता, चपलतायुक्त स्वाभाविक चित्रण है । वह अभिनयात्मक और सम्भाषण पूर्ण है । जब कि रामकाव्यान्तर्गत वर्णित वात्सल्य बाह्य रूप, रंग, वस्त्र, आभूषण तक ही सीमित है, उसमें मनोभावों का विश्लेषण नहीं, फलत: वह स्वाभाविकता भी नहीं जो कृष्णकाव्य में है । इसके अतिरिक्त रामकाव्य में बाल वर्णन की अभिनयात्मकता तथा सम्भाषण का

अधिकतर अभाव है । अतः निष्कर्षरूप में यही कहा जा सकता है कि कृष्णकाव्य के वात्सल्य के समक्ष रामकाव्य नगण्य और निम्नश्रेणी का है ।

कृष्ण काव्य का वात्सल्य के क्षेत्र में रामकाव्य की तुलना में श्रेष्ठ होने के अनेक कारण हैं--

१- वल्लभ सम्प्रदाय में कृष्ण के बालरूप की उपासना की प्रतिष्ठा था, अतः वल्लभ सम्प्रदाय के कवि सूरदास आदि ने कृष्ण के बालरूप, उनकी बाल चेष्टाओं का सम्प्रदायगत उपासना के आधार पर अनेक प्रकार से वर्णन करके पूर्ण आनन्द का अनुभव किया । रामकाव्य में इस प्रकार की उपासना का कोई विधान नहीं था । अतः राम-कवियों ने इतने विस्तार से बाल लीला का वर्णन नहीं किया है ।

२- वल्लभ सम्प्रदाय के कवियों के समक्ष बाल लीला वर्णन के समय कृष्ण के बाल रूप की प्रतिमा रहती थी । गोकुल तथा ब्रज के समस्त मंदिरों में वल्लभ सम्प्रदाय के उपासना के आधार पर कृष्ण की बालमूर्ति की प्रतिष्ठापना थी । कृष्ण कवि इसी बाल प्रतिमा के समक्ष पदों का गायन करते थे । इस बाल प्रतिमा का प्रतिदिन नवीन प्रकार का शृंगार होता था । इसके अतिरिक्त श्रीनाथ जी की अष्ट प्रहर की सेवा का विधान था, जिसमें प्रथम प्रहर की सेवा में प्रभाती, जगाना, कलेऊ, गाय चराना आदि का सर्वाधिक महत्व था । इस सेवा का भार सूरदास पर था । सूरदास प्रतिदिन उक्त भाव के नए-नए पद बनाकर श्रीनाथ के समक्ष गाते थे । इस प्रकार बाल-लीला के पदों का सर्जन सूरदास की पूजा का अनिवार्य अंग था । अतः सूरदास ने बाल-लीला वर्णन में सर्वाधिक श्रेष्ठता प्राप्त की । रामकाव्य इस प्रकार की बाल लीला गायन के रूप में नहीं लिखा गया ।

३-

३- कृष्ण और रामकाव्य की भक्ति के भावों में भी मौलिक अन्तर था । कृष्ण कवियों की भक्ति अधिकांशतः सख्यभाव की था, जब कि रामकवि तुलसी की भक्ति दास्यभाव की थी । कृष्ण कवि अपने आराध्य से रामकवियों की अपेक्षा अधिक स्वतन्त्रता ले सकते थे । कृष्ण कवि अपने आराध्य से घुल-मिल सकते थे, परन्तु राम कवि तुलसीदास एक सेवक की भाँति दूर ही खड़े रहना उचित समझते थे । उनका ध्यान इस बात के लिए सदैव सचेत रहता था कि कहीं स्वामी का अपमान न हो जावे । यही कारण था कि तुलसीदास राम का बालरूप वर्णन नहीं कर सके, राम के मनोवेगों में प्रवेश नहीं कर सके ।

४- कृष्ण और राम दोनों आराध्यों के व्यक्तित्व में भी अन्तर था । कृष्ण-कवियों के आराध्य कृष्ण ग्राम्य वातावरण में पोषित गोप थे, किन्तु राम-कवि तुलसीदास के राम नागरिक जीवन से मर्यादित राजकुमार थे । राम के बाल जीवन के विकास की प्राकृतिक परिस्थितियाँ कम थीं । कृष्ण की अनेक लीलाओं माखनचोरी, दधि-दान आदि में बालोचित प्रवृत्तियों के विकास के लिए अधिक अवसर मिल गया था । राम के मर्यादा पुरुषोत्तम रूप में थोड़ी-सी भी उच्छृंखलता के लिए स्थान नहीं था । कृष्ण की भाँति वे ग्वालबालों के साथ न तो नाच गा सकते थे और न तो गोपियों की दधी चुरा सकते थे और न तो अनेक अश्लील लीलाओं को कर ही सकते थे । इसीलिए जहाँ कृष्ण कवि सूरदास के लिए श्रीकृष्ण के बाल चरित्र की बहुरंगी सामग्री थी वहाँ तुलसीदास के लिए राम के व्यक्तित्व का मर्यादित एवं संकुचित दृष्टिकोण था । यह तुलसी का कला-चातुर्य ही माना जायेगा ।

उनके चित्र खींचे हैं ।

शृंगार रस : कृष्णकाव्य

रसराज शृंगार का पूर्ण परिपाक कृष्ण - काव्य में हुआ है । शृंगार रस के दोनों पक्षों-- संयोग और वियोग का ऐसा सफल चित्रण कृष्ण कवियों ने किया है कि पाठक का मन तन्मय होकर भाव लोक में विचरण करने लगता है । सर्वप्रथम हम संयोग शृंगार का विश्लेषण करेंगे --

संयोग शृंगार

आंगन में माता-पिता, स्वजन पारिवारिक बन्धु आदि विद्यमान हैं । लोकल -लज्जा और वेदमर्यादा के प्रति द्वार और द्वारपाल पहरा देते हैं । पलक रूपी कपाट बंद कर कुल -प्रतिष्ठा की ताली से धर्म रूपी ताला भी द्वार पर लगा रक्खा है । पर अन्तस्तल के गुह्य से गुह्य कोने में छिपा हुआ राधा का मन कृष्ण ने नेत्रमार्ग से उर-पुर में प्रविष्ट होकर चुरा ही लिया । कृष्ण की इस अद्भुत चोरी का चित्रण सूर ने कितनी विचित्रता के साथ किया है ।[१] संयोग शृंगार को लेकर कृष्ण-भक्त कवियों ने राधा व कृष्ण के शृंगार के करने चलने, केश संवारने, नखशिखादि तथा रतिक्रम तक के सांगोपांग वर्णन किए हैं ।

---

१ मेरो मन गोपाल हर्यौरी ।

चितवत ही उर पैठि नैन मग,ना जानो धौं कहा कर्यौरी ।

सूरसागर(सभा) पद सं०२५६०

सूरदास का कथन है कि राधा रच-रच कर सेज संवारती है और भाँति-भाँति की कल्पनायें करती हुई कृष्ण मिलन की प्रतीक्षा करती है[1]। कृष्ण के मिलने पर राधा कृष्ण के संयोग का वर्णन सभी कृष्ण कवियों ने किए हैं। कृष्ण और राधा नव प्रेम रस में पगे वन के अंतराल में विहार व क्रीड़ा में अनुराग से युक्त व्यस्त हैं, वस्त्र शिथिल हैं, भगवान कृष्ण शोभायमान हैं[2]। कुम्भनदास ने राधाकृष्ण के साथ 'ढ पौढ़ने' के कुछ पद लिखे हैं। भगवान कृष्ण राधा के साथ कुंज में हैं। सखियाँ सब द्वार पर खड़ी हैं। राधा के साथ केलि करने में नंद नंदन की रुचि बढ़ी है--

राधा के संग पैठे कुंज सदन में, सहचरी सबै मिलि द्वारे ठाढ़ी।
नंद नंदन कुंवर वृषभानु तनया सौं करत केलि में सु रुचि बाढ़ी[3]।।

अन्य पदों में भी इसी प्रकार के वर्णन हैं। परमानन्द दास ने भी अपने ग्रन्थ 'परमानन्द सागर' में इसी प्रसंग के कई पद लिखे हैं[4]। निम्बार्क सम्प्रदाय के विट्ठल विपुलदेव व बिहारिन देव ने भी इसी प्रकार के संयोग व शृंगार का भी सुन्दर चित्रण किया है। राधा-वल्लभ सम्प्रदाय में कृष्ण के नित्य विहार का सिद्धान्त मान्य था।

---

१ सूर सागर (सभा) पद संख्या ३३२६

२ सूर सागर (सभा) पद संख्या १३०४

३ कुम्भनदास, पृ०१०२, पद सं०३०१

४ परमानन्द सागर, पृ०३५७, ३५८ पद सं०८१६-८२२

कृष्ण काव्य में संयोग के चित्रणों में विपरीत रति पर भी अनेक पद उपलब्ध होते हैं[1]। सुरतान्त के चित्रण परमानन्द दास इस प्रकार करते हैं कि राधा की हारावलि टूट गई है, वाम कपोल पर अलक लट छूट गई है, दोनों बाहों की वलयावलि फूट गई है, डगमगाती कुंभस्थल से छोट रही है, पीत वस्त्र धारण किए हैं, नेत्र आलस्यवश अरुणाभ वर्ण के हैं आदि[2]।

रामकाव्य

रामकाव्य में शृंगार रस सम्बन्धी स्थल कृष्ण काव्य की अपेक्षा बहुत कम हैं। जो वर्णन हैं वे मर्यादापूर्ण हैं। शृंगार वर्णन के प्रसंग राम-सीता तथा शिव-पार्वती के सम्बन्ध में है। शृंगार रस के विशिष्ट अंग पूर्व राग का भी वर्णन मिलता है। यह वर्णन शिव-पार्वती तथा राम-सीता दोनों के प्रसंगों में मिलता है। सीता और पार्वती दोनों के हृदय में गुण श्रवण के आधार पर जन्म-जन्मान्तर का सम्बन्ध होने के कारण प्रेम का उदय होता है। इस प्रसंग को लेकर, अभिलाषा, चिन्ता, स्मृति गुण कथन, व जड़ता के उदाहरण मिल जाते हैं। किन्तु विवाह के पूर्व का यह प्रेम मर्यादित है, इसमें कृष्णकाव्य की भांति काम दशाओं के विस्तृत वर्णन उपलब्ध नहीं होते हैं। किन्तु यह पूर्वराग अत्यन्त स्वाभाविक परिस्थितियों में सहज रूप से उत्पन्न होता है।

---

१ सूरसागर, पद सं०२६५१

२ परमानन्द सागर, पृ०३५८-३६२, पद सं०८२३-८३१

संयोग शृंगार

तात्त्विक रूप से भक्त कवि तुलसीदास शृंगाररस के कवि नहीं हैं, किन्तु कुछ स्थलों पर तुलसीदास ने संयोग शृंगार का बड़ा ही सरस हाव-भाव युक्त वर्णन किया है। राम प्रेम से पीछे सीता की ओर देखकर चित्त देकर और चित्त चुराकर आगे बढ़ गए[1]। एक स्थल पर लक्ष्मण-उर्मिला[2] के भी परस्पर सुलोचन कोनों से देखने का भी चित्र तुलसीदास ने खींचा है। परन्तु इस प्रकार के तिरछी नयन दृष्टि के वर्णन स्थल बहुत कम तथा संक्षिप्त रूप में हैं। राम-सीता के आपसी मधुर व्यवहार और प्रेमालाप का भी वर्णन तुलसीदास ने संयोग शृंगार के अन्तर्गत किया है। किन्तु संयोग शृंगार का कोई भी वर्णन तुलसीदास ने सांगोपांग रूप में नहीं किया है। कुछ वर्णन इस प्रकार के हैं— जैसे- विवाह के अवसर पर रामचन्द्र जी के पास बैठी हुई सीता कंकण में राम की छाया पड़ने पर अपनी सारी सुध-बुध भूलकर उसे देख रही[3] हैं। उनके हाथ जहाँ के तहाँ रुक गए हैं। पलकें भी वे नहीं गिराती हैं। निश्चितरूप से कुशल काव्य शिल्पी तुलसीदास की यह विशेषता है कि उन्होंने पूरे समाज और माता-पिता के बीच भी सीता को राम का दर्शन करा दिया है, किन्तु मर्यादा का भी

---

१ प्रेम सों पीछे, तिरीछे, प्रियाहि, चितै, चितु दै, चले लै चितु चोरी।

—कवितावली, अयोध्याकांड, पृ०२६

२ गीतावली बालकांड, पृ० १६८-१६९।

३ राम को रूप निहारति जानकी कंकन के नग की परछाहीं।

याते सबै सुधि भूलि गई, कर टेकि रही पल टारत नाहीं।

—कवितावली, बालकाण्ड, पृ०१६, छंद संख्या १७

उल्लंघन नहीं हुआ है, यदि दूसरा कवि होता तो सीता को राम का दर्शन प्रत्यक्ष ही आमने सामने करा देता, किन्तु तुलसीदास ने अत्यन्त कुशलता से कंकण-नग के माध्यम से राम सीता का सदाात्कार भी करा दिया किन्तु समाज को इसका पता भी नहीं चला, यह मर्यादापालन का अनुपम उदाहरण है । इसी प्रकार वन-गमन के प्रसंग में सीता की थकान देखकर राम के नेत्रों से अश्रुपात का होना,[1] मग में सीता को प्यासी देखकर लक्ष्मण के जल लाने के लिए जाने पर रामसीता का मधुर सम्भाषण,[2] आदि संयोग श्रृंगार के अनुपम उदाहरण हैं ।इसके अतिरिक्त गीतावली में राज्याभिषेक के पश्चात् प्रिया के प्रेम रस में पगे, जंभाई लेते आलस्यपूर्ण राम के प्रात:काल उठने के वर्णन में तुलसीदास ने रामसीता के संयोग श्रृंगार का चित्र उपस्थित किया है[3] ।

शिव-पार्वती को जगत के माता-पिता कहकर उनके संयोग श्रृंगार का वर्णन करना तुलसीदास ने अनुचित समझा है । इसके अतिरिक्त `कुमार संभव` में पार्वती के अश्लील श्रृंगार का वर्णन करने के कारण कालिदास के कोढ़ी हो जाने की किंवदन्ती भी प्रसिद्ध रही है ।इन्हीं कारणों से तुलसीदास ने शिव-पार्वती के श्रृंगार का खुलकर वर्णन नहीं किया है । फिर भी

---

१ कवितावली, अयोध्याकांड, पृ० २०, छंद संख्या ११

२ गीतावली, अयोध्याकांड, पृ० १८५, पं० १८

३ ,, उत्तरकांड, पृ० ३८२, पद सं० २

इस प्रसंग में तुलसीदास स्पष्ट कह देते हैं कि शिव-पार्वती अपने गणों सहित कैलाश पर्वत पर रहते हुए विविध-भोग विलास करते हैं। हर-गिरिजा को नित्य नए विहार करते हुए विपुल काल व्यतीत हो गए, तब तारकासुर को मारने वाले षट् वदन का जन्म हुआ है[1]। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि राम-साहित्य में संयोग शृंगार का स्पष्ट और नग्न चित्रण नहीं उपलब्ध होता है, वरन् सांकेतिक संक्षिप्त और मर्यादित रूप ही मिलता है। क्योंकि राम के मर्यादित चरित्र को लेकर दास्य भक्ति के अन्तर्गत उच्छृंखल संयोग शृंगार का वर्णन करना असम्भव था।

वियोग शृंगार :-

कृष्ण काव्य

संयोग शृंगार की भाँति वियोग शृंगार वर्णन भी कृष्ण साहित्य का प्रिय विषय रहा है। इस प्रिय विषय वियोग शृंगार को लेकर हिन्दी के कृष्ण कवियों ने असंख्य पदों की रचना की है। हिन्दी के कृष्ण कवियों में अष्ट छाप के कवियों का वियोग-वर्णन सर्वाधिक, उत्कृष्ट, सूक्ष्म एवं गंभीर है। अतः सर्वप्रथम उन्हीं अष्टछाप के कवियों के विरह-वर्णन को विश्लेषित करने का प्रयास किया जा रहा है।

अष्टछाप के सर्वश्रेष्ठ कवि सूरका संयोग पक्ष जितना पुष्ट और व्यापक है, उतना ही वियोग पक्ष भी। यदि सूर

के शृंगार-वर्णन पर एक व्यापक दृष्टि डाली जाय तो पूर्व राग से उत्पन्न राधा-कृष्ण और गोपी-कृष्ण का मधुर प्रेम संयोग की विविध लीलाओं में क्रमशः पुष्ट होता हुआ अंत में अपने वियोग-दशा में ही अपने चरम भाव को प्राप्त होता है । तात्पर्य यह कि सूर का वियोग-वर्णन उनके मधुर प्रेम की अंतिम और महत्वपूर्ण कड़ी है । यह वियोग वर्णन अक्रूर के ब्रज-आगमन से ही प्रारम्भ होता है । अक्रूर कृष्ण और बलराम को कंस के यहां ले जाने को आए हैं । यह बात शीघ्रातिशीघ्र सम्पूर्ण ब्रज में फैल जाती है । सूर ने कृष्ण के मथुरागमन से पूर्व ब्रजवासियों के कृष्ण-वियोग से उत्पन्न व्यथा का विविध रूपों में चित्रण किया है । कृष्ण के मथुरागमन का समाचार सुनकर गोपियों की मनोदशा बड़ी विचित्र एवं दयनीय हो जाती है ।वे अपना दुःख किसी के समक्ष न तो प्रकट ही कर सकती हैं और न कृष्ण के पास जाकर उन्हें रोक ही सकती हैं । वे अपना मर्म किसके सामने प्रकट करें,क्योंकि उनका प्रेम जो कृष्ण से है, वह तो गुप्त है । सूर ने गोपियों की द्वन्द्वात्मक मानसिक स्थिति का चित्रण अनेक रूपों में किया है[१] । कृष्ण जब रथारूढ़ होकर चलने को प्रस्तुत हुए तब गोपियां चित्रवत् खड़ी ही रह गईं । जिनके साथ उन्होंने जीवन के प्रारम्भ से लेकर आज तक विविध राग-रंगमयी मधुर क्रीड़ाएं की थीं, वे ही जीवनाधार कृष्ण आज उनसे वियुक्त होने जा रहे हैं और वे लाचार हैं कि कुछ नहीं कर पा रही हैं । सूर ने गोपियों की इस व्याकुलता की तुलना दावाग्नि से दग्ध द्रुम

---

१ सूरसागर --(ना०प्र०स०)पद संख्या ३५८६।

पंक्तियों से की है[१]। इसी प्रकार का वर्णन अष्टछाप के अन्य कवियों के साहित्य में भी उपलब्ध होता है, जो सूरदास के पिष्टपेषण के समान प्रतीत होता है। कृष्ण के मथुरागमन के पश्चात् ब्रज-वासियों की विरह-संतप्त दशा का चित्रण अष्टछाप के कवियों का मुख्य वर्ण्य विषय रहा है। यह प्रसंग कृष्ण-साहित्य में भ्रमरगीत के नाम से प्रसिद्ध है, जिसपर भागवत् का स्पष्ट प्रभाव है। इस प्रसंग का वर्णन सूरदास ने लगभग साढ़े सात सौ पदों में बड़ी तन्मयता के साथ किया है, जिसमें शृंगार एवं वात्सल्य दोनों रसों के वियोग दशा के भावों के सूक्ष्म एवं व्यापक भावपूर्ण चित्रण मिलते हैं। सूर ने उद्धव के संदेश लेकर आने से पूर्व की आशामयी उत्सुकता का बड़ा सूक्ष्म वर्णन किया है। गोपिकाएं उद्धव को जब ब्रज की ओर आते हुए देखती हैं, उस समय की उनकी हर्ष-विह्वल मनःस्थिति का सूर ने बड़ा ही स्वाभाविक वर्णन किया है। उन्होंने वेश-साम्य के कारण उद्धव को थोड़े समय के लिए कृष्ण ही मान लिया था, किन्तु उद्धव के निकट आने पर जब वे उन्हें भली भांति पहचान जाती हैं, तब वे दुःख-भार से आक्रान्त होकर मूर्च्छित होकर गिर पड़ती हैं। इसके पश्चात् उद्धव गोपियों को ज्ञान, योग, तप एवं निर्गुण ब्रह्म की उपासना का उपदेश देते हैं। इस नीरस उपदेश की खिल्ली उड़ाकर ज्ञानमार्ग क और योग मार्ग की अयोग्यता सिद्ध करना तथा भक्ति मार्ग की सर्वश्रेष्ठता सिद्ध करना ही भ्रमरगीत का मुख्य विषय है। इस विषय-प्रतिपादन में सूरदास तथा अन्य अष्टछाप के कवि पूर्ण सफल हुए हैं।

---

१ सूरसागर (ना०प्र०स०), पद संख्या ३६१२।

भ्रमर गीत प्रसंग में अष्टछाप के कवियों ने एक ओर ज्ञान तथा योग की तुलना में भक्ति को श्रेष्ठ बताया, दूसरी ओर काव्य की दृष्टि से विरह-भाव की सूक्ष्म और मनोवैज्ञानिक व्याख्या भी प्रस्तुत की । इस विरह-वर्णन में जड़ से लेकर चेतन तक सभी वस्तुओं का विरह व्याकुल होना चित्रित है । गोपाल के अभाव में गोपिकाओं को मधुवन के कुंज अंगार, लताएं विषम-ज्वाल मालाओं के समान तथा चन्द्रमा सूर्य के समान संतापकारी प्रतीत हो रहा है । गोपियों को काली रात नागिन की भाँति भयंकर लग रही है । उनके नैनों में पावस-ऋतु आकर बस गई है । इसी प्रकार के विभिन्न चित्रों के द्वारा सूरदास ने गोपियों के विरह की अभिव्यंजना की है ।

राधा के विरहावस्था के चित्रण में तो सूरदास ने अपनी कला-चातुरी का विशेष परिचय दिया है । एक राधा इतनी विरह-भाव-प्रवण हो जाती है कि कृष्ण के प्रस्वेद से सिक्त साड़ी को अति मलीन होने पर भी प्रक्षालित नहीं करती है, क्योंकि वही एकमात्र उनके प्रियतम कृष्ण की मधुरतम स्मृति के रूप में विद्यमान है । यह सूर के अद्भुत कला का परिचायक है । राधा सदैव अधोमुख रहती है तथा कृष्ण के वियोग में कमलिनी की भाँति म्लान हो गई हैं । इसी प्रकार के अनेक करुण चित्र राधा के तीव्र विरहावस्था के परिचायक हैं, जिनकी अभिव्यंजना कृष्ण-साहित्य के अतिरिक्त अन्यत्र दुर्लभ हैं । अद्यावधि प्राप्त सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य में वियोग-वर्णन यदि कहीं पूर्णता को प्राप्त है तो कृष्ण साहित्य में विशेषकर सूरदास के पदों में । इसी को देखकर आचार्य शुक्ल ने स्पष्ट घोषणा

की है कि वियोग की जितनी अन्तर्दशायें हो सकती हैं, जितने ढंगों से उनका वर्णन साहित्य में हुआ है और सामान्यतया हो सकता है वे सब उसके भीतर मौजूद हैं । इस प्रकार हम कह सकते हैं कि आलोच्यकालीन कृष्ण साहित्यान्तर्गत वल्लभ सम्प्रदाय के सभी कवियों ने विशेषकर सूरदास ने विरह का चित्रण बहुत मार्मिक, बहुत करुण तथा अत्यन्त सरल शैलियों में किया है, जिसका विश्लेषण ऊपर किया जा चुका है ।

राधा वल्लभ सम्प्रदाय के कवियों ने नित्य केलि के सिद्धान्त पर विश्वास करने के फलस्वरूप विरह को अपने काव्य में स्थान नहीं दिया है । निम्बार्क सम्प्रदाय के श्री वृन्दावन देव जी के विरह सम्बन्धी कुछ मार्मिक पद मिलते हैं[1] । सम्प्रदाय निरपेक्ष मीराबाई के पदों में भी विरह के सच्चे भाव के चित्रण उपलब्ध होते हैं । मीरा के विरह पदों में निर्गुण धारा के संतों के सदृश विरह की तीव्र एवं विरह-ज्वाल से व्याकुल होने के भी वर्णन मिलते हैं[2] ।

रामकाव्य

रामकाव्य में भी संयोग शृंगार की भांति वियोग शृंगार के वर्णन मिलते हैं । भोग-विलास की लालसा का इस विरह-वर्णन में कोई स्थान नहीं है । इस धारा के प्रमुख कवि तुलसीदास ने राम और सीता दोनों के समान भाव से विरह-पीड़ित होने का वर्णन किया है । सीता के विरह में व्याकुल राम को ऋष्यमूक पर्वत पर पहुंचकर सुग्रीव द्वारा प्राप्त सीता के वस्त्र व आभूषण देखकर

---

1 वृन्दावन देव जी-- निम्बार्क माधुरी, पृ०२५६, पद सं०५१-५५
2 मीराबाई -- 'मीराबाई की पदावली',पृ०१७७, पद सं० १५५

तीव्र विरह-वेदना होती है । मन प्रेम से विवश हो उठता है । तन में कंप छा जाता है । कमल-नयन अश्रु से पूर्ण हो उठते हैं । कुछ कहते हुए संकोच होता है, किन्तु सीता के सुन्दर, शील, स्नेह व गुण स्मरण करके हृदय में उमंग होती है । राम को ऐसा लगता है कि उनके समस्त पुण्य समाप्त हो गए । उनका अपने ऊपर किंचित भी वश नहीं रह जाता है । राम के वियोग का कष्ट इतना हृदय-विदारक है कि तुलसी के विचार में जो इसका वर्णन करता है, वह बहुत निष्ठुर और जड़ है[१] । राम के विरह का एक और चित्र तुलसी ने खींचा है । जब हनुमान सीता का पता लगाकर आते हैं, उस समय भगवान राम का शरीर शिथिल हो जाता है और नेत्र अश्रु-पूरित हो जाते हैं । भगवान राम की मानसिक स्थिति का चित्रण तुलसीदास ने बहुत ही काव्यात्मक ढंग से किया है--

---

१ सुनत बचन बिलोकत सिय के ।
प्रेम बिबस मन, कंप पुलक तनु नीरज नयन नीर भरे पिय के ।
सकुचत कहत, सुमिरि उर उमगत सील सनेह सगुन गन तिय के ।
स्वामिदसा लखि लखन सखा कपि, पिघले हैं आँच माठ मनौ घिय के ।
सोचत हानि मानि मन, गुनि गुनि गए निघटि फल सकल सुकृत के ।
बरनै रामबन्धु तेहि अवसर, बचन बिबेक अरु धीर रस पिय के ।
धीर धीर सुनि समुझि परस्पर, बहु उपाय उपटत हिय हिय के ।
तुलसिदास यह समउ कहैते, कवि लागत निपट-निठुर-जड़ जिय के ।
--गीतावली, किष्किन्धा काण्ड, पृ० ३५८, पद सं० १

कपि के सुन कल कोमल बैन ।

प्रेम पुलक सब गात सिथिल भए, भरे सलिल सरसीरुह नैन ।

सिय-बियोग सागर नागर मनु, बूड़न लग्यो सहित चित चैन ।

लही नाव पवन प्रसन्नता बरबस तहाँ गह्यौ गुन मैन ।

सकत न बूझि कुसल बूझे बिनु गिरा बिपुल ब्याकुल उर ऐन ।

ज्यौं कुलीन सुचि सुमति बियोगिनि सनमुख सहै बिरह सर पैन ।

धरि धरि धीर बीर कोसलपति किए जतन सकै उतरु दैन ।[1]

तुलसिदास प्रभु सखा-अनुज सौं सैनहिं कह्यौ चलहु सजि सैन ।।

तुलसीदास ने राम के विरह-वर्णन के अतिरिक्त सीता की वियोगावस्था के चित्रण भी गीतावली में सुंदर ढंग से किया है । सीता विरहाग्नि से दग्ध हो रही है और भगवान राम के दर्शन के लिए व्याकुल हैं । उनकी दशा उस लता के समान है, जो वियोगरूपी अग्नि से जलाई गई है, किन्तु भगवान राम के कृपादृष्टि रूपी जल से फिर हरी भरी हो जायगी । सीता की इस वियोगजन्य दशा का कवि ने उपमा के माध्यम से काव्यात्मक ढंग से बहुत ही सजीव चित्रण किया है ।[2] एक अन्य स्थल पर सीता इस प्रकार भी कहती हैं कि

---

१ गीतावली, सुन्दरकाण्ड, पृ०३१६, पद सं०२१

२ कबहुँ कपि राघव आवहिंगे ।

मेरे नयन चकोर प्रीति बस, राका ससि मुख दिखरावहिंगे ।

\+ \+ \+

तुलसिदास प्रभु मोह-जनित-भ्रम, भेद-बुद्धि कब बिसरावहिंगे ।

--गीतावली, सुन्दरकाण्ड, पृ०३०३, पद सं० १०

विरहानल से संतप्त मेरे शरीर के दग्ध होने में कोई सन्देह नहीं था, किन्तु नेत्र दिन-रात लगातार जल बरसाते रहते हैं[1] ।

'गीतावली' के अतिरिक्त 'रामचरित मानस' में भी तुलसीदास ने विप्रलम्भ श्रृंगार की व्यंजना अत्यन्त मार्मिक ढंग से की है । 'रामचरित मानस' के किष्किन्ध्याकाण्ड की निम्नलिखित पंक्तियों में आलम्बन तथा उद्दीपन आदि उपकरणों से परिपुष्ट होकर 'रति' स्थायीभाव[2] किस प्रकार विप्रलम्भ श्रृंगार की अभिव्यंजना करने में समर्थ है । द्रष्टव्य है कि कवि ने अपनी इस उद्भावना के अन्तर्गत नायक राम को तो आश्रय रूप में अंकित किया है और नायिका सीता को यहां आलम्बन धर्म का पालन करते हुए दिखाई गई हैं । सीता के प्रति राम का प्रगाढ़ प्रेम ही यहां स्थायी भाव के रूप में प्रतिष्ठित है । राम का विलाप-कलाप ही यहां अनुभाव व्यापार का पूरक है । इसके अतिरिक्त यहां स्मृति, उन्माद आवेग एवं जड़ता के संचारी भाव भी 'रति' स्थायी के साथ ही बढ़े हुए दिखाई पड़ते हैं । प्रकृति अपने विभिन्न सौन्दर्य-मय उपादानों के साथ यहां न केवल अलंकरण के निमित्त प्रस्तुत हुई है, वरन् उसके द्वारा कवि ने वियोग के उद्दीपन कार्य को भी सफलता पूर्वक सम्पादित कराया है । उपमेय रूप में सीता के

---

१ गीतावली, सुन्दरकाण्ड, पृ०३०२, पद सं०८

२ हा! गुनखानि जानकी सीता । रूप सील व्रत नेम पुनीता ।
हे! खग मृग हे! मधुकर श्रेनी । तुम देखी सीता मृगनैनी ।
+ + +
श्रीफल कनक कदलि हरषाहीं । नेकु न संक, सकुच मन माहीं ।
सुनु जानकी तोहि बिनु आजू । हरषे सकल पाइ जनु राजू ।
—मानस किष्किन्धा २८८, ७,८,१२ ।

विभिन्न अंगों की चर्चा न करके कवि ने केवल उपमानों के वर्णन द्वारा ही वियोग-श्रृंगार के सौन्दर्य की साधना की है ।

उद्वेग, दैन्य, विषाद एवं उन्माद की दशाओं से युक्त सीता के करुणात्मक वियोग का चित्र हमें 'मानस' के निम्न अवतरणों में देखने को मिलता है । इस अवतरण में सीता की वियोग जन्य पीड़ा तो अपनी पराकाष्ठा पर पहुंची हुई दीख पड़ती है, साथ ही रावण के आतंकपूर्ण दुर्भावना के कारण यहां नैराश्य एवं आत्म-प्रतारणा की भावना भी इतनी घनीभूत हो उठी है कि राम के पुनर्मिलन की आशा का तत्व प्रायः नहीं के बराबर दीख पड़ता है । इस प्रकार आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट वियोग की एकादश दशाओं में से सीता असंदिग्ध रूप से 'उन्माद' की दशा को प्राप्त है । इसके अतिरिक्त चिन्ता, प्रलाप, विषाद, एवं ग्लानि आदि संचारी भाव की सफल व्यंजना हुई है ।

<u>तुलना एवं निष्कर्ष</u>

उपर्युक्त संक्षिप्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि श्रृंगार से सम्बन्ध रखने वाले सभी प्रसंगों का सांगोपांग वर्णन कृष्ण एवं

---

१ तजौ देह करु बेग उपाई । दुसह बिरह अब नहिं सह जाई ।
आनि काठ रचु चिता बनाई । मातु अनल पुनि देहि लगाई ।
\+ \+ \+
कह सीता बिधि भा प्रतिकूला । मिलिहि न पावक मिटिहि न सूला ।।
--मानस सुन्दरकाण्ड ११-७,८,९,१०,११।

राम दोनों धाराओं के कवियों में मिलता है । रूप देखकर मोहित होना कुंज गलियों एवं वनों में विहार करना उन्मुक्त प्रकृति की गोद में संयोगावस्था की विविध लीलाएं करना आदि कृष्ण शाखा के विशेषताएं हैं किन्तु राम-धारा के अन्तर्गत शृंगार का शिष्ट शृंगार का एवं मर्यादित रूप ही मिलता है । कृष्ण काव्य-धारा का शृंगार ग्राम्य वातावरण में सम्पन्न है, जब कि रामधारा का शृंगार नागरिक जीवन की मर्यादा से पूर्ण है । व्यक्तिगत महत्ता की छाप लगाते हुए साहित्यिक सौन्दर्य के साथ शृंगार के अत्यन्त स्वाभाविक एवं सरल चित्र कृष्ण भक्तों ने अंकित किए हैं । शृंगार के सूक्ष्म वर्णन कृष्ण-काव्य-धारा एवं राम-काव्य-धारा दोनों में है, किन्तु जो सहजता, सरलता कृष्ण-धारा के शृंगार-प्रवाह में है, वह राम काव्य-धारा के इस प्रकार के अंशों में नहीं है । सुरति के सूक्ष्मतातिसूक्ष्म वर्णन करने के अनन्तर भी कृष्ण भक्ति-साहित्य अश्लीलता परक नहीं आभासित होता है, वरन् भक्ति परक तथा रस परक आभासित होता है, यह एक आश्चर्यजनक तथ्य है । कारण केवल यही है कि कृष्ण-भक्त-कवियों के हृदय भक्ति-भाव से पूर्ण थे । अतः जो कुछ भी उन्होंने लिखा, वह उस भक्ति-भाव में पवित्र एवं परिप्लुत हो गया । राम-धारा के अधिकांश कवियों ने सदैव शृंगार वर्णन में मर्यादा का पालन सावधानी से किया है, अतः उनका साहित्य कहीं भी अश्लीलता का स्पर्श नहीं कर सका है । केवल राम-धारा के रसिक सम्प्रदाय के कवियों ने अश्लीलता परक शृंगार का वर्णन किया है, किन्तु यह शृंगार कृष्ण काव्य से अनुप्राणित है ।

कृष्ण-साहित्य में वियोग शृंगार के जितने भी चित्रण हैं वे कृष्ण से मिलकर बिछुड़ने के अनन्तर हैं । कृष्ण के

से मिलने के से पूर्व विरहानुभूति का इस शाखा के साहित्य में नितांत अत्यन्त अभाव है । वास्तविक विरह वर्णन मथुरा-गमन के पश्चात् आता है । समस्त तरह से मोहित करके समस्त प्रकार के रसों से अभिभूत करके रास-दिन केलि क्रीड़ा करके गोपियों एवं राधा की प्रत्येक इच्छा पूर्ण करने के पश्चात् निष्ठुर कृष्ण कर्तव्य-प्रेरित होकर मथुरा चले गए और राधा व गोपियों का जीवन स्वयं विरह बन गया । विरह के कष्ट, पीड़ा, दुःख और करुणा आदि का बहुत ही मार्मिक चित्रण कृष्ण काव्य में हुआ है । कृष्ण काव्य का विरह वर्णन हिन्दी साहित्य में बेजोड़ है ।उसमें जहां एक ओर वियोग श्रृंगार का सुन्दर वर्णन है,वहीं भक्ति एवं ज्ञान की भी चर्चा है । 'भ्रमरगीत' में भक्ति ज्ञान योग आदि का वर्णन करके कृष्ण कवियों ने भक्ति की श्रेष्ठता का प्रति-पादन किया है ।

रामधारा के सर्वश्रेष्ठ कवि गोस्वामी तुलसीदास जी के वियोग-श्रृंगार के सम्बन्ध में निष्कर्ष रूप से यही कहना पड़ता है कि परम्परा का पालन करते हुए भी कवि ने वर्णन की स्थूलता से बचने की भरपूर चेष्टा की है । यही कारण है कि उनकी वियोग-व्यंजना में न तो हमें आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट दसों काम-दशाओं के परिगणन की प्रवृत्ति का प्रचुर प्रभाव ही दृष्टिगोचर होता है, और न उसमें नायक-नायिकाओं की शारीरिक कृशता का अविश्वसनीय वर्णन ही प्राप्त होता है । वे यहां कृष्ण कवियों के ऊहात्मक और अतिशयोक्तिपूर्ण विरह-वर्णन से बहुत दूर हैं । तुलसीदास का विरह-वर्णन सहज,स्वाभाविक और परिस्थितिजन्य है, जब कि कृष्ण कवियों का विरह वर्णन कहीं कहीं बच्चों के खिलवाड़ सा प्रतीत होता है । इसी को देखकर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है कि 'परिस्थिति

की गम्भीरता के अभाव में गोपियों के वियोग में वह गम्भीरता नहीं दिखाई पड़ती है, जो सीता के वियोग में है । सीता अपने प्रिय से वियुक्त होकर कई सौ कोस दूर दूसरे द्वीप में राक्षसों के बीच पड़ी हुई थीं । गोपियों के कृष्ण केवल दो चार कोस दूर के एक नगर में राज-सुख भोग रहे थे । सूर का वियोग-वर्णन वियोग-वर्णन के लिए ही है, परिस्थिति के अनुरोध से नहीं । कृष्ण गोपियों के साथ क्रीड़ा करते-करते कुंज या झाड़ों में जा छिपते हैं या यों कहिए कि थोड़ी देर के लिए अन्तर्धान हो जाते हैं, बस गोपियां मूर्च्छित होकर गिर पड़ती है[1] । यद्यपि आचार्य शुक्ल का यह कथन पर्याप्त पक्षपात पूर्ण है, क्योंकि उनके हृदय में गोस्वामी तुलसी दास के प्रति पूज्य एवं सर्वनिष्ठता की ग्रन्थि बन चुकी थी । जिसके कारण तुलसी दास के समक्ष हर क्षेत्र में उन्हें सभी कवि हल्के ही दिखाई पड़े किन्तु उपर्युक्त कथन में आंशिक सत्यता भी है । निष्पक्ष होकर यदि कृष्ण एवं रामसाहित्य के संपूर्ण वर्णनों को देखा जाय तो निश्चित रूप से कृष्ण साहित्य शृंगार के क्षेत्र में परिमाण एवं गुण दोनों में राम-साहित्य से श्रेष्ठ ही कहा जा सकता है । इसका मूल कारण कृष्ण एवं राम के व्यक्तित्व में अंतर है । कृष्ण का व्यक्तित्व शृंगार रस के अनुकूल था जबकि राम का चरित्र मर्यादा के कारण इसके अनुपयुक्त था ।

<u>अन्य रस</u>

भगवान के शील, शक्ति और सौन्दर्य इन तीन विभूतियों में से कृष्ण कवियों ने केवल भगवान कृष्ण के सौन्दर्य का ही

---

१ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : `सूरदास`, पृ० १७२

चित्रण किया है । सौन्दर्य के इस चित्रण में कृष्ण की बाल एवं यौवन की सरल लीलाओं का समावेश है । आलोच्यकालीन कृष्ण कवियों ने भगवान कृष्ण की इन बाल और यौवन की सरल लीलाओं को क्रमशः वात्सल्य और शृंगार रसों के अन्तर्गत चित्रित करके हिन्दी साहित्य में एक चमत्कार पैदा कर दिया है । इन दोनों रसों के अतिरिक्त कृष्ण कवियों ने या तो अन्य रसों का चित्रण ही नहीं किया यदि किया भी तो बहुत ही कम, क्योंकि अन्य रसों के चित्रण में कृष्ण कवियों का मन ही नहीं कम रमा । अतः कृष्ण काव्य की तुलना केवल वात्सल्य और शृंगार रसों की दृष्टि से ही समीचीन है । अन्य रसों की तुलना संक्षेप में केवल संकेत के रूप में प्रस्तुत है ।

हास्य रस --

<u>कृष्ण काव्य</u>

कृष्णकवियों ने वात्सल्य एवं शृंगार के भावों के मध्य कहीं-कहीं प्रसंग के अनुसार हास्य, करुण, वीर आदि रसों के भावों की भी व्यंजना की है । कृष्ण कवियों ने सर्वविदित सूर की शैली ही विनोदप्रिय रही है । उनके लीला पदों में स्थान-स्थान पर कृष्ण की हास्यजनक चेष्टाओं एवं क्रियाकलापों के द्वारा हास्य रस के भावों की सुन्दर अभिव्यंजना हुई है । कृष्ण प्रारम्भ से ही बहुत नटखट-बाहुबद्ध, व चतुर एवं तुरन्त उत्तर देने वाले थे । एक समय वे किसी गोपिका के यहाँ चोरी करते हुए पकड़े गए । उनका हाथ दधि भाजन में ही था कि किसी गोपिका ने उन्हें उसी स्थिति में पकड़ लिया, किन्तु कृष्ण किस प्रकार बात बनाकर स्वयं को निर्दोष सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं, वह द्रष्टव्य है--

मैं जान्यौ, यह मेरौ घर है, ता धोखै मैं आयौ ।

देखत हौं, गोरस मैं चांटी काढ़न कौं कर नायौ ।।

इसी प्रकार सूरदास का एक बहुत प्रसिद्ध पद है, जिसमें कृष्ण चोरी के माल सहित पकड़ लिए जाते हैं । गोपियां उन्हें यशोदा के पास लाती हैं, किन्तु वहां भी कृष्ण अपनी चतुराई से छूट जाते हैं[२] । इस पद में हास्य रस के विभाव, अनुभाव आदि सभी अंगों का सन्निवेश हुआ है । कृष्ण तथा यशोदा क्रमशः आलंबन तथा आश्रय हैं । कृष्ण की वाक् पटुता तथा 'दोना' को पीछे छिपाने की चेष्टा उद्दीपन विभाव एवं यशोदा का मुस्कुराना अनुभाव है ।

इसी प्रकार कृष्ण की बाल लीला को लेकर सूरदास ने 'सूरसागर' में हास्य रस के अनेक प्रसंगों की उद्भावना की है । बाल लीला के अतिरिक्त भ्रमरगीत प्रसंग में भी शिष्ट और प्रौढ़ हास्य के अनेक उदाहरण मिलते हैं[३] । अन्य कृष्ण-कवियों ने सूरदास का ही अनुसरण किया है ।

----

१ 'सूरसागर', पद सं०८९७ ।

२ मैया मैं नहिं माखन खायौ ।

ख्याल परै ये सखा सबै मिलि, मेरैं मुख लपटायौ ।

+ + +

डारि सांटि मुसुकाइ यशोदा, स्यामहिं कंठ लगायौ ।।

—सूरसागर, पद सं०९५२

३ सूरसागर, पद सं०४२४९,४२५० आदि ।

रामकाव्य

रामकाव्यान्तर्गत तुलसीदास की ही रचनाओं में समी रसों की अभिव्यंजना हुई है, किन्तु तुलसीदास की प्रवृत्ति हास्यरस की ओर अधिक नहीं दृष्टिगोचर होती है । उन्होंने आनुषंगिक रूप से स्थान स्थलों पर हास्य रस की व्यंजना की है । वह भी शिष्ट, मर्यादित और उद्देश्य गर्भित है । विश्व-विमोहिनी राजकुमारी पर आसक्त बूढ़े नारद ने भगवान से सुन्दरतम रूप मांगा । भगवान ने उन्हें बन्दर का रूप दे दिया, परन्तु नारद मोहवश अपने को कामदेव की तरह सुन्दर समझ कर स्वयंवर-सभा में इस विश्वास के साथ डटे रहे कि राजकुमारी मुझे छोड़कर अन्य वर को वरण नहीं करेगी । राजकन्या ने उनकी हास्यास्पद आकृति को देखी और[१] जहां नारद सगर्व और भ्रान्त-मन बैठे थे उधर वह गई ही नहीं । यह एक शिष्ट परिहास का सर्वोत्तम उदाहरण है । इसी प्रकार सीता तथा उनकी[२] सखियों और केवट द्वारा किया गया परिहास हास्यकोटि का है ।

तुलना और निष्कर्ष

दोनों धाराओं के कवियों ने हास्यरस की उद्भावना आनुषंगिक रूप से बहुत ही अल्पमात्रा में किया है ।

---

१ रा०च०मा०, १।१३५।४

२ कवितावली २।२८

रा०च०मा० २।१००।२-३

कृष्ण कवियों ने इसकी व्यंजना अधिकतर बाल लीला के पदों में, किन्तु राम कवि तुलसीदास ने अपनी रचनाओं में अवसरानुकूल सर्वत्र किया है।

करुण रस

कृष्ण काव्य :-

सूरसागर के दावानल-प्रसंग में करुण रस के भावों की अभिव्यंजना हुई है। सभी ग्वाल-बाल करुण स्वर में कृष्ण से विनती करते हैं कि उन्हें अविलम्ब इस आपत्ति से मुक्त करें--

अब कै राखि लेहु गोपाल।
दसहूं दिसा दुसह दवागिनि उपजी है इहि काल।
पटकत बाँस, काँस कुस चटकत, लटकत ताल तमाल।
उचटत अति अंगार फुटत झर, झपटत लपट कराल।
धूम धुंधि बाढ़ी धर अम्बर, चमकत बिच बिच ज्वाल।
हरिन, बराह, मोर, चातक, पिक जरत जीव बेहाल।[1]

इस पद में दु:ख एवं शोक स्थाई भाव हैं। अंगारों का उचटना, बाँसों का पटकना, कराल लपटों का झपटना और बेहाल जीवों का जलना उद्दीपन एवं आलम्बन विभाव हैं तथा कृष्ण को रक्षा के लिए पुकारना स्मरण संचारी भाव है।[2] इसके अतिरिक्त कृष्ण के विरह से राधा शोक की मूर्ति बन गई है। इसका भी चित्रण सूरदास ने

---

१ सूरसागर, पद सं० १२३३

२ ,, पद सं० ४३३३

करुण की भाँति ही किया है ।

रामकाव्य

रामकाव्य-धारा में तुलसीदास ने राम-वन-गमन और लक्ष्मण-मूर्च्छा के प्रसंगों में शोक का विशेष रूप से हृदय-द्रावक चित्रण किया है । कवि की निम्नांकित उक्ति करुण रस व्यंजना करने में पूर्ण समर्थ है[1] । इस दोहे में करुण रस और 'शोक' शब्द का प्रयोग देखकर स्वशब्द-वाच्यत्व दोष का भ्रम पैदा होता है, किन्तु इन शब्दों के प्रभाव को देखने से पता चलता है कि ये शब्द रस के अपकर्षक नहीं हैं, बल्कि सशक्त अनुभावों और संचारी भावों के साथ प्रयुक्त होकर करुण रस की अभिव्यक्ति में पूर्ण सहायक हैं । राम-वन-गमन पर आलम्बित शोक व्यक्ति या परिवार तक ही सीमित न होकर जन-जन में व्याप्त है । अतः सहृदय मात्र के हृदय को द्रवीभूत कर देने वाला है । राम के वियोग में मनुष्य ही नहीं, पशु-पक्षी भी शोक-मग्न हैं । वृक्ष और लताएं तक मुरझा गई हैं[2] । परन्तु राम को तनिक भी शोक नहीं है । राम केवल तीन स्थलों पर शोकाकुल हुए हैं--पिता की मृत्यु का समाचार सुनकर, जटायु के निधन पर और लक्ष्मण के मूर्छित होने पर । तीसरे स्थल का दृश्य अत्यन्त कारुणिक है । उसमें राम के शील स्नेह, पश्चात्ताप और शोक की हृदयस्पर्शी व्यंजना हुई है --

---

१ मुख सुखाहिं लोचन स्रवहिं, सोकु न हृदयँ समाइ ।
मनहुं करुन रस कटकईं, उतरी अवध बजाइ ॥
--रा०च०मा०, २।४६

२ रा०च०मा०, २।८३, २।१४२ ।

अर्ध राति गइ कपि नहिं आयउ । राम उठाइ अनुज उर लायउ ॥
सकहु न दुखित देखि मोहि काऊ । बंधु सदा तव मृदुल सुभाऊ ॥
मम हित लागि तजेउ पितु माता । सहेहु बिपिन हिम आतप बाता ॥
सो अनुराग कहां अब भाई । उठहु न सुनि मम बच बिकलाई ॥
जौं जनतेउं बन बंधु बिछोहू । पिता बचन मनतेउं नहिं ओहू ॥
सुत बित नारि भवन परिवारा । होहिं जाहिं जग बारहिं बारा ॥[1]
अस बिचारि जिय जागहु ताता । मिले न फेरि सहोदर भ्राता ॥

तुलना और निष्कर्ष

कृष्ण एवं रामधारा के कवियों का करुण रस व्यंजना को देखने से पता चलता है कि इस क्षेत्र में रामकाव्य, कृष्ण-काव्य की तुलना में श्रेष्ठ है । रामकवि तुलसी का करुण रस हिन्दी साहित्य में बेजोड़ है । प्रबन्ध काव्य के क्षेत्र में सभी रसों के साथ करुण रस को सीमित करते हुए भी तुलसीदास ने उसकी रस-व्यंजना को असीम बना दिया है, जो पाठक के हृदय पर अमिट प्रभाव डालकर उसे रोने के लिए बाध्य कर देता है । करुण रस का ऐसा हृदय द्रावक वर्णन कोई भी कृष्ण कवि नहीं कर सकता है ।

रौद्र रस :--

कृष्ण काव्य

कृष्ण काव्य के अन्तर्गत सूरदास ने गिरि-धारण -लीला के प्रसंग में रौद्र रस के भाव की अभिव्यंजना की है । कृष्ण के कथनानुसार ब्रजवासियों ने इन्द्र की पूजा त्याग कर गोवर्द्धन की

---

१ रा०च०मा०, ६।६१,१-४ ।

पूजा की । इन्द्र ने ब्रजवासियों की धृष्टता का बदला लेने का
निश्चय किया । इन्द्र ने क्रोधाविष्ट होकर अपना निश्चय इस
प्रकार प्रकट किया कि वह रौद्ररस की कोटि तक पहुंच गया है:--

प्रथमहिं देउं गिरिहि बहाई ।
ब्रज घातनि करौं चुरकुट देउं धरनि मिलाई ।
मेरी इन महिमा न जानी, प्रगट देउं दिखाइ ।
बरसि जल ब्रज धोइ डारौं, लोग देउं बहाइ ।
खात खेलत रहे नीकें, करी उपाधि बनाइ ।
बरस दिन मोहिं देत पूजा, दई सौउ मिटाइ ।
रिस सहित सुर राज लीन्हें, प्रलय मेघ बुलाइ ।
सूर सुरपति कहत पुनि पुनि, परौ ब्रज पर धाइ ।[1]

इस पद में क्रोध स्थाई भाव, इन्द्र आश्रय, ब्रजवासी आलम्बन पूजा
को मिटा देना उद्दीपन विभाव, पर्वत को धूल में मिलाना मेघों को बुलाकर
ब्रज को बहाने के लिए आदेश देना आदि अनुभाव और खोई हुई पूजा की
स्मृति संचारी भाव है ।

रामकाव्य

रामकाव्य-धारा के सर्वश्रेष्ठ कवि तुलसीदास
ने कई प्रसंगों में रस-निष्पादक क्रोध की प्रभावकारी व्यंजना की है ।
परशुराम का क्रोध प्रसिद्ध है । चिढ़चिढ़े लोगों को चिढ़ाना बाल स्वभाव
है । लक्ष्मण की धृष्टता पर[2] जनक की सभा में परशुराम का क्रोध रौद्र रस
की व्यंजना में पूर्ण समर्थ है । समुद्र और रावण के प्रति राम एवं अंगद का

---

१ सूरसागर, पद सं० १४७०

२ कवितावली १।२०

क्रोध-निरूपण भी रस-दशा को प्राप्त है ।

तुलना और निष्कर्ष

रामकवि तुलसीदास की रौद्र-रस-व्यंजना कृष्ण कवि सूरदास से श्रेष्ठ है । वास्तव में दोनों काव्य-धाराओं का रौद्र रस की दृष्टि से तुलना करना भी उचित नहीं है,क्योंकि एक प्रबन्धकाव्य का विशाल नगरी में पल्लवित हुआ तो दूसरा मुक्तक के सीमित सांचे में । प्रबन्ध काव्य के विशाल कलेवर में ह सभी रसों का पूर्ण परिपाक होना आवश्यक है । अतः गौण रस के रूप में भी रौद्र रस की पूर्ण अभिव्यंजना राम साहित्य में सफलता के साथ हुई, किन्तु मुक्तक के सीमित आकार में सभी रसों की व्यंजना होना अनिवार्य नहीं । अतः कृष्ण कवियों नेअरुचि के साथ रौद्र रस का वर्णन किया,जिससे वे इस क्षेत्र में असफल रहे ।

वीर रस --

कृष्ण काव्य

कृष्ण कवि सूर में वीर रस के भाव 'भीष्म प्रतिज्ञा' से सम्बद्ध पद में मिलते हैं । इस पद में पितामह भीष्म रणभूमि में कृष्ण की[१] शस्त्र ग्रहण न करने की प्रतिज्ञा भंग करवाने का निश्चय प्रकट करते हैं । इसमें भीष्म नायक आश्रय, प्रतिनायक कृष्ण आलम्बन,कृष्ण की शस्त्र ग्रहण न करने की प्रतिज्ञा उद्दीपन और उसकी

१ आजु जौ हरिहिं न शस्त्र गहाऊं ।
तौ लाजौं गंगा जननी कौं, सान्तनु सुत न कहाऊं ।
स्यन्दन खण्डि महारथि खंडौं,कपिध्वज सहित गिराऊं ।
पांडव-दल सन्मुख ह्वै धाऊं, सरिता रुधिर बहाऊं ।
इतौ न करौं सपथ तौ हरि की, क्षत्रिय गतिहिं न पाऊं ।
सूरदास ब रन भूमि विजय बिनु, जियत न पीठि दिखाऊं ।
--सूरसागर,पद २७७

स्मृति संचारी तथा स्पन्दन और महारथियों को लंछित करने, धुन की नदी बहाने आदि की प्रतिज्ञा अनुभाव है। इसके अतिरिक्त मथुरा में कंस के मल्लों और कंस के वध वर्णन वाले पदों में भी वीररस का पूर्ण परिपाक हुआ है[1]। सूरदास ने शृंगार के अंग रूप में भी वीर रस का चित्रण किया है[2]।

रामकाव्य

रामकाव्य-धारा में तुलसीदास ने वीररस का सांगोपांग वर्णन किया है। रस-शास्त्रियों ने वीर रस को गौरव और व्यापकता देने के लिए उसके चार भेद किए हैं--दया वीर, दान वीर, धर्म वीर और युद्ध वीर। वस्तुतः प्रथम तीन में व्यक्त उत्साह रस कोटि तक नहीं पहुंचता। केवल वीर रस को गौरव देने के लिए ही काव्य-शास्त्रियों ने उनका भी वीर रस में परिगणन किया है। युद्ध वीर ही प्रमुख वीररस है। तुलसी के राम में वीर रस के उक्त चारों भाव समयानुसार मिलते हैं[3]। वे दानवयाहु हैं, जयंत और बालि जैसे पात्रों पर भी उन्होंने दया की है[4]। धर्म संस्थापन के लिए तो उनका अवतार ही हुआ है। उनके दया वीर और धर्म वीर के वर्णनों को पढ़कर वीर रस की अनुभूति प्रायः नहीं के बराबर होती है। तुलसी साहित्य में

---

१ सूरसागर, पद सं० ३६६१, ३६६७।

२ ,, ,, २४४७।

३ रा०च०मा० ३।२।६-७, ४।१०।१

४ ,, ४।६।३, ७।२१।२

वीररस की पूर्ण व्यंजना राम, लक्ष्मण, हनुमान अंगद आदि पात्रों के युद्धोत्साह के वर्णनों में अनेक स्थलों पर हुई है। उदाहरणार्थ क्रमशः लक्ष्मण एवं अंगद की निम्नांकित उक्तियों में वीररस का ओज या प्रवाह द्रष्टव्य है[1]। 'कवितावली' और 'रामचरित मानस' के लंका कांड का अधिकांश भाग युद्धोत्साह की व्यंजना से परिपूर्ण है। संग्राम की उग्रता और प्रचण्डता के दृश्य अत्यंत सजीवता के साथ प्रस्तुत किए गए हैं[2]।

<u>तुलना और निष्कर्ष</u>

उपर्युक्त अति संक्षिप्त विश्लेषण के बाद हम इसी निर्णय पर पहुंचते हैं कि रामकवियों में अकेले तुलसी की ही तुलना में वीर रस की व्यंजना में समूचा आलोच्यकालीन कृष्ण साहित्य असफल और हेय है। यदि सूक्ष्मता से विचार किया जाय तो विदित होगा कि वीररस की व्यंजना कृष्ण के व्यक्तित्व के प्रतिकूल था, क्योंकि

---

१ (अ) सुनहु भानुकुल पंकज भानू । कहौं सुभाउ न कछु अभिमानू ।।
जो तुम्हारि अनुशासन पावौं। कंदुक इव ब्रह्माण्ड उठावौं ।।
काचे घट जिमि डारौं फोरी। सकौं मेरु मूलक जिमि तोरी ।।
रा० च मा० १।२५३
(ब) कौसलराज के काज हौं आजु त्रिकूट उपारि लै बारिधि बोरौं ।
\+ \+ \+
बालि को बालक तौ तुलसी सबहू मुख के रन में रद तोरौं ।
—कवितावली ६।१४

२ कवितावली ६।३५

कृष्ण कवियों ने कृष्ण के केवल लोकरंजक स्वरूप को ही ग्रहण किया जब कि राम कवियों ने भगवान राम के लोकरंजक स्वरूप को महत्त्व न देकर उनके लोकरक्षक स्वरूप को विशेष प्रतिष्ठित किया है । अत: लोक-रक्षकता के कारण वीर वत्सल रस का भाव राम साहित्य में स्वत: आ गया ।

भयानक रस

कृष्ण काव्य

कृष्णकाव्यान्तर्गत सूरदास ने दावानल का बहुत भयपूर्ण वर्णन किया है[१] । जिससे भयानक रस की पूर्ण अभि-व्यक्ति होती है । यहां पर भयंकर दावानल को देखकर उत्पन्न 'भय' स्थायी भाव है । दावानल आलम्बन और ग्वाल-जन आश्रय हैं । वृक्षों का भहराकर गिरना, लपटों का भपटना आदि उद्दीपन, ग्वालों का बेहाल होना, कृष्ण को पुकारना आदि अनुभाव तथा केशी, बकासुर आदि का वध कर उनकी रक्षा करने की पूर्व स्मृति संचारी भाव है ।

---

१ भहरात भहरात दवानल आयौ ।
घेरि चहुंओर, करि सोर अंदोर बन, धरनि आकास चहुं पास छायौ ।
बरत बन बास, थरहरत कुस कांस, जरि उड़त है भांस अति प्रबल धायौ।
भपटि भपटत लपट, फूल-फल चट-चटकि फटत, लट लटकि द्रुम द्रुम नवायौ।
अति अगिनि-भार, भंभार धुंधारकरि, उचटि अंगार भंभार छायौ ।
बरत बनपात, भहरात भहरात, अररात, तरु महा धरनि गिरायौ ।
+ + +
--सूरसागर, पद सं० १२१४

रामकाव्य

रामकाव्य-धारा में अन्य रसों के समान भयानक रस का भी चित्रण हमें तुलसी-साहित्य में मिलता है । तुलसीदास ने विभिन्न स्थलों पर इस रस की प्रसंगानुरूप उद्भावना की है । शिव की बारात को देखकर बराती बाल वनिताओं को, राम के असंख्य रूपों को देखकर सती को, अथवा संग्राम की प्रचण्डता को देखकर कायरों को भय हुआ है । किन्तु ऐसे प्रसंगों में भयानक रस का परिपाक दृष्टिगत नहीं होता है, क्योंकि इन स्थलों को पढ़ते समय भावुक के चित्त का स्थायी भाव भय, भयानक रसत्व को नहीं प्राप्त होता है । उदाहरण के लिए शिव की बारात की भयानकता को पढ़कर पाठक को भय व की अनुभूति न होकर विनोद की अनुभूति होती है । भयानक रस का यथार्थ उदाहरण 'लंका दहन' के प्रसंग में मिलता है[1] । इस प्रसंग को पढ़ते ही पाठक को भयानक रस की पूर्ण अनुभूति प्राप्त होती है ।

तुलना और निष्कर्ष

भयानक रस का उदाहरण कृष्ण एवं राम दोनों काव्य-धाराओं में अति अल्पमात्रा में प्राप्त होता है । दोनों

---

१ बालधी बिसाल बिकराल, ज्वाल-जाल मानौ लंक लीलिबे को काल रसना -
पसारी है ।
कैधौं ब्योम बीथिका भरे हैं भूरि धूमकेतु, बीररस बीर तरवारि सी उघारी है।
तुलसी सुरेस चाप कैधौं दामिनी कलाप, कैधौं चली मेरु तें कृसानुसरि भारी है
देखें जातुधान, जातुधानी अकुलानी कहैं, कानन उजार्‌यो अब नगर प्रजारी है ।

—कवितावली ५।५

धाराओं के कवियों ने इस रस का प्रसंगानुरूप अति संक्षेप में वर्णन किया है ।

वीभत्स रस---

कृष्ण काव्य

कृष्ण काव्य कोमल भावनाओं से ही प्रेरित होकर सृजित हुआ है । इस धारा के कवियों ने सौन्दर्य और सरसता को ही अपने काव्य में स्थान दिया है । कुरूपता और कठोर भावनाएं इस काव्य-धारा के लिए अनुपयुक्त समझी गई है अतः वीभत्स रस के प्रसंग को आलोच्यकालीन कृष्ण काव्य में से ढूढ़ निकालना दुस्तर कार्य है ।

रामकाव्य

रामकाव्य-धारा के सर्वश्रेष्ठ कवि तुलसीदास की रचनाओं में वीभत्स रस के उदाहरण कई स्थलों में प्राप्त होते हैं । तुलसीदास ने भक्ति के प्रसंग में वैराग्य जाग्रत करने के लिए भी वीभत्स रस के स्थायी भाव जुगुप्सा की व्यंजना की है, किन्तु वहां पर भक्ति प्रधान है, अतः शुद्ध वीभत्स रस की अनुभूति नहीं होती है । वीभत्स रस का उत्कृष्टतम उदाहरण तुलसीदास ने युद्ध-वर्णन के प्रसंग में उपस्थित किया है, जिसको पढ़कर मन में अनायास ही घृणा का भाव पूर्ण रसत्व को प्राप्त हो जाता है ।

१खोपरी की कटोरी खाये, आंतनि की सेल्ही बांधे, मुंड के कमंडलु खपर-
किए कोरि कै ।

जोगिनि झुटुंग झुंड झुंड बनी तापसी सी तीर तीर बैठीं सो समर सरि-
खोरिकै ।

१ ---कवितावली ६।५०

तुलना और निष्कर्ष

बीभत्स-रस की दृष्टि से कृष्ण काव्य शून्य है । कृष्ण की सरस लीलाएं बीभत्स रस के सर्वथा प्रतिकूल थीं । अत: कृष्ण कवियों ने इस रस को अपने पदों में स्थान नहीं दिया,किन्तु रामकवि तुलसीदास प्रबन्धकार थे । उनके लिए सभी रसों का चित्रण आवश्यक था, अत: उन्होंने अन्य रसों के साथ-साथ बीभत्स रस का भी पूर्ण परिपाक प्रसंगानुसार अपनी रचनाओं में उपस्थित किया है ।

अद्भुत रस

कृष्ण काव्य:--

कृष्ण काव्यान्तर्गत सूरदास ने कृष्ण लीला के `माटी -भक्षण` प्रसंग में अद्भुत रस की सुन्दर अभिव्यक्ति की है । कृष्ण के मुख में अखिल ब्रह्माण्ड के दर्शन प्राप्त कर नंदरानी स्तब्ध हो जाती हैं--

> नंदहिं कहति जसोदा रानी ।
> माटी कै मिस मुख दिखरायौ, तिहूं लोक रजधानी ।
> स्वर्ग,पताल,धरनि,बन,पर्वत,बदन मांझ रहे आनी ।
> नदी सुमेरु देखि चकित भइ, याकी अकथ कहानी ।
> चितै रहे तब नंद जुवति-मुख, मनमन करत बिनानी ।[१]

---

१ सूरसागर, पद सं० ८७४

रामकाव्य

रामकाव्य-धारा में तुलसीदास ने राम का ऐसा अलौकिक चरित्र वर्णित किया है कि उसको पढ़कर स्वभावत: विस्मय की अनुभूति होने लगती है । इसके अतिरिक्त भी तुलसीदास ने कई प्रसंगों में जानबूझकर अद्भुत रस की अभिव्यंजना की है,जैसे हनुमान के समुद्र लांघने, अंगद के पांव रोपने, राक्षसों और वानरों के विस्मय-कारी युद्ध आदि में अद्भुत रस का पूर्ण परिपाक हुआ है । भगवान राम ने कृष्ण की भांति ही माता कौशल्या और काक-भुशुण्डि को अपना अद्भुत रूप दिखाया है[1] । उन स्थलों पर भी विस्मय की पूर्ण निर्व्यंजना की गई है । वास्तव में तुलसीदास ने भगवान राम के लौकिक चरित्र का वर्णन करते हुए भी उसे अलौकिक बना दिया है,जिससे अद्भुत रस के आलम्बन रामचरित द्वारा गोस्वामी जी की वह स्वाभाविक विश्व व्याप्त सहृदयता लक्षित होती है,जो हिन्दी के और किसी कवि में नहीं है ।

तुलना और निष्कर्ष

दोनों काव्यधाराओं के कवियों की रचनाओं में अद्भुत रस के उदाहरण मिलते हैं । वास्तव में दोनों शाखाओं के कवियों के उपास्य कृष्ण एवं राम दोनों का चरित्र ही विस्मयकारी है,अत: दोनों साहित्यों में पग-पग पर इस रस की व्यंजना हुई है,किन्तु कृष्ण की लीलाएं राम के चरित्र से अधिक विस्मयकारी हैं,अत: कृष्ण काव्य रामकाव्य की अपेक्षा इस दृष्टि से अधिक समृद्ध है ।

---

१ रा०च०मा० १।२०१।१,७।८०।२

शान्तरस—

<u>कृष्ण काव्य</u>

कृष्ण कवि सूरदास ने विनय के पदों में शान्त रस का उदाहरण प्रस्तुत किया है । सूरदास ने संसार की क्षणिकता, आत्मदैन्य आदि का वर्णन करके संसार से विरक्ति की भावना पैदा की है[1] ।

<u>रामकाव्य</u>

रामकाव्य-धारा में तुलसीदास के अन्तर्गत शान्त रस की व्यंजना स्थान-स्थान पर हुई है, किन्तु यह शांत रस भक्तिरस के साथ मिला हुआ प्रतीत होता है । वास्तव में तुलसी साहित्य का पर्यवसान भक्तिरस में ही हुआ है । केवल कुछ ही स्थलों पर तुलसीदास ने शुद्ध शांत रस का[2] उदाहरण प्रस्तुत किया है । ये स्थल 'कवितावली' के उत्तरकांड, 'विनयपत्रिका' और 'वैराग्य संदीपनी' के कतिपय पद्य हैं । 'रामचरित मानस' में शांत रस कहीं भी भक्ति रस से स्वतन्त्र नहीं है । जहां-जहां शांत रस का निरूपण है, वहां उसका पर्यवसान भक्ति में ही हुआ है ।

<u>तुलना और निष्कर्ष</u>

शान्त रस की दृष्टि से दोनों साहित्य पर्याप्त समृद्ध हैं । कृष्ण कवियों ने जिस तन्मयता से संसार की असारता

---

१ बौरे जीवन वृथौ तन धारौ ।

कियौ न संत-समागम कबहूं, लियौ न नाम तुम्हारौ ।

\+ \+

—सूरसागर, पद सं०१५२

२ विनयप० १२२।३-५

और क्षणभंगुरता का वर्णन करके मन को संसार से विरक्त होने की प्रेरणा दी है, उसी प्रकार राम कवियों ने भी वैराग्य की भावना पर जोर दिया है । दोनों धाराओं के कवियों ने० संसार को छोड़कर भगवान से भक्ति करने का संदेश दिया, अत: दोनों साहित्यों में शांत रस का पर्यवसान भक्ति में हो है ।

उपर्युक्त रस-प्रकरण के समग्र विश्लेषण के बाद हम इसी निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि आलोच्यकालीन कृष्ण कवियों ने वात्सल्य और शृंगार रस के क्षेत्र में सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य में अपना अन्यतम स्थान बना लिया है । रामकाव्य ही नहीं, सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य इस क्षेत्र में उनकी तुलना में नगण्य है । इन दोनों रसों के सीमित दायरे में ये कृष्ण कवि असीम हैं इसका कारण कृष्ण के सौन्दर्य पक्ष का ग्रहण और उनकी सरस लीलाओं का कृष्ण संप्रदायों में महत्व होना है । अन्य रसों के चित्रण में कृष्ण कवियों का मन नहीं रमा है, अत: वे या तो अन्य रसों का चित्रण ही नहीं कर सके हैं, यदि चित्रण किया है तो अनिच्छापूर्वक अत: वात्सल्य और शृंगार को छोड़कर अन्य रसों के चित्रण में कृष्ण कवि असफल हैं, किन्तु रामकवियों ने भगवान राम के सम्पूर्ण चरित्र को अपने काव्य का विषय बनाया और उनके सम्पूर्ण चरित्र को लेकर प्रबन्ध काव्यों की रचना की। प्रबन्ध काव्य के सर्वप्रमुख भेद महाकाव्य का विशेष रूप से राम साहित्य में सृजन हुआ। महाकाव्य के लिए सभी रसों का पूर्ण परिपाक होना आवश्यक है अत: रामकवि तुलसी की रचना 'राम-चरित-मानस' में सभी रसों की पूर्ण अभिव्यंजना हुई है । तुलसीदास के वात्सल्य और शृंगार के क्षेत्र में तो कृष्ण कवियों से अवश्य ही पीछे रहे हैं, किन्तु वीर, अद्भुत, वीभत्स, रौद्र आदि रसों की दृष्टि से वे कृष्ण कवियों से कई गुना श्रेष्ठ हैं ।

चतुर्थ अध्याय

-o-

(कला पक्ष)

काव्य रूप तथा छंद प्रयोग

चतुर्थ अध्याय

-o-

(कला पक्ष)

काव्य रूप तथा छन्द-प्रयोग

आलोच्यकालीन काव्य रूपों की भिन्नता के कारण

विवेच्यकाल के कृष्ण काव्य और राम-काव्य की समस्त रचनाओं के अध्ययन एवं विश्लेषण से प्रतीत होता है कि कृष्ण-कवियों की प्रवृत्ति गेय पद शैली की ओर अत्यधिक थी और इसी में वे पूर्णत: सफल भी हैं और राम कवियों को प्रबन्ध या आख्यान शैली विशेष प्रिय है । यद्यपि कुछ कृष्ण-कवियों जैसे नन्ददास के ग्रन्थ `रुक्मिनी-मंगल`, `रूप मंजरी`, `रास-पंचाध्यायी` `भंवरगीत` नरोत्तमदास के `सुदामा चरित` तथा पृथ्वीराज के `वेलि कृष्ण रुक्मिणी री` आदि में प्रबन्धात्मकता के दर्शन होते हैं । इसी प्रकार राम-कवि तुलसी ने `रामचरित मानस` की प्रबन्ध शैली के साथ पद-शैली के क्षेत्र में `विनयपत्रिका`, `गीतावली` तथा `कृष्णगीतावली` ग्रन्थों में पूर्ण सफलता प्राप्त की है । किन्तु अधिकांश कृष्ण काव्य कीर्तन प्रधान होने के कारण पदों के आकार में और रामकाव्य वर्णन प्रधान होने के कारण प्रबन्ध या आख्यान के रूप में विशेष विकसित

हुआ और अपनी शिल्पगत भिन्नता के कारण दोनों ने अपने-अपने प्रिय छन्दों तथा भिन्न राग-रागिनियों में विकास प्राप्त किया। दोनों छन्द-शास्त्रीय तथा संगीत शास्त्रीय दृष्टि से भी भिन्न हो गए। इनमें से रामकाव्य छंद शास्त्र के किन्तु कृष्ण काव्य संगीतशास्त्र के अधिक नजदीक है। इस शिल्पगत भिन्नता के कुछ मूल कारण हैं, जिसके फलस्वरूप कृष्णकाव्य ने पद शैली तथा राम-काव्य ने प्रबन्ध शैली में विशेष सफलता प्राप्त की। वे मूल कारण निम्नलिखित हैं:--

(१) परम्परा तथा पृष्ठभूमि की भिन्नता

मध्ययुगीन हिन्दी कृष्ण तथा रामकाव्य की पृष्ठभूमि में संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश का प्रचुर कृष्ण तथा राम साहित्य विद्यमान था। इन साहित्यों में कृष्ण तथा राम को लेकर भिन्न-भिन्न काव्य शैलियाँ भी विकसित थीं। जहाँ एक ओर आलोच्यकालीन कृष्णकाव्य के कीर्तन और पदों की शैली के मूल में भागवत पुराण, आलवार गायकों, चण्डीदास, जयदेव और विद्यापति की गेय पद शैली की परम्परा थी, वहाँ राम काव्य के मूल में प्रबन्ध तथा नाटक के रूप में 'वाल्मीकि रामायण' तथा 'हनुमन्नाटक' के आदर्श विद्यमान थे। फलत: हिन्दी के कृष्ण तथा राम कवियों ने अपनी भिन्न पूर्व परम्परा से भिन्न काव्य रूपों का अनुसरण किया। दोनों धाराओं के किसी भी कवि ने किसी नितान्त नई अभिव्यंजन प्रणाली का सृजन

(२)सम्प्रदायगत धार्मिक विश्वासों एवं दार्शनिक मान्यताओं की भिन्नता

आलोच्यकालीन हिन्दी कृष्ण और राम-काव्य मूल रूप से वेदान्त दर्शन की विभिन्न शाखाओं से प्रभावित था। वेदान्त दर्शन की इन शाखाओं ने मध्ययुग में विभिन्न धार्मिक संप्रदायों का रूप ग्रहण कर लिया था। इन विभिन्न धार्मिक संप्रदायों में भक्ति के आधार पर साम्य होते हुए भी सम्प्रदायगत कुछ विशिष्ट एवं भिन्न विश्वासों और आचारों के कारण भिन्नता भी थी। विष्णु तथा राम के उपासक संप्रदायों में अन्य देवताओं के प्रति श्रद्धा व्यक्त करते हुए राम की कथा को कहने और सुनने में विश्वास रखने की प्रणाली थी। इस विश्वास को रामभक्ति धारा के कवियों ने उसी के अनुसार काव्य-रूप दिया। प्रारम्भ में बहुदेववाद के अनुसार अन्य देवताओं की वन्दना करते हुए राम-कथा को सम्पूर्णता के साथ वर्णित करने के लिए मुक्तक तथा गीति काव्य का रूप नितान्त अनुपयुक्त था। इसी कारण "गीतावली" तथा "कवितावली" जैसे गीतिबद्ध और मुक्तक काव्य ग्रन्थ भी प्रबन्धात्मकता को लिए हुए हैं। जहां प्रबन्ध का आश्रय नहीं लिया गया, वहां नाटक का रूप अपनाया गया, क्योंकि राम की कथा को लेकर रामलीला की प्रणाली में राम-भक्तों का धार्मिक विश्वास था।

आलोच्यकालीन हिन्दी कृष्ण-भक्ति सम्प्रदायों में कृष्ण की लीलाओं का गान और कीर्तन करना ही एक प्रमुख धार्मिक विश्वास था। कृष्ण-भक्त कृष्ण की लीलाओं का गान करते-करते आत्म-विभोर हो जाते थे। अतः कृष्ण भक्ति धारा में उसी काव्य रूप को महत्व था जिसमें गेयता हो, साथ ही भजन तथा कीर्तन मे

रूप में ही । मीरा के पद उनके स्वयं गाए गए रूप में ही अधिक प्रसिद्ध हैं । जिस प्रकार राम के उपासक ग्रन्थ को पढ़-सुनकर अथवा राम-लीला को नेत्रों से देखकर आत्मविभोर हो उठते थे, उसी प्रकार कृष्ण-भक्त, एक तारा, तानपूरा, मंजीरे और करताल के साथ भजन गा-गाकर अथवा कृष्ण का कीर्तन करके अपने हृदयगत भावों को व्यक्त करते हुए मुग्ध हो जाते थे । धर्म के इस मूल विश्वास ने ही कृष्ण काव्य में पद शैली का रूप धारण कर लिया ।

(3)कृष्ण तथा राम के चरित्रों में भिन्नता

कृष्ण का सम्पूर्ण वर्णित चरित्र लीलाओं का समूह है । ये सारी लीलायें भावमय और रसमय जीवन के चित्र हैं । इनमें कृष्ण-कवियों को कृष्ण की बाल और यौवन की लीलाएं ही सर्वाधिक प्रिय हैं । कृष्ण का ऐश्वर्यमय तथा शक्ति और शक्ति से युक्त चरित्र कृष्ण कवियों को उतना मुग्ध नहीं करता जितना उनका सौन्दर्यमय तथा रसिक स्वरूप । इसीलिए शक्ति तथा ऐश्वर्य के स्थलों में कृष्ण-कवियों की लेखनी शिथिल दिखाई पड़ती है, केवल कृष्ण काव्य के भावमय स्थल ही साहित्य की अमूल्य निधि हैं । इन रस पूर्ण, भाव मय लीलाओं को व्यक्त करने के लिए केवल गीति काव्य की शैली ही उपयुक्त थी ।

भगवान कृष्ण विष्णु के लीलावतार थे, जब कि राम उनके गुणावतार थे । अतः राम में शील, शक्ति, सौन्दर्य ऐश्वर्य एवं समस्त गुणों का समन्वय है । राम का चरित लोक-चरित है, जिसमें जीवन की व्यापकता अपने सम्पूर्ण रूप में है । जीवन का कोई क्षेत्र छूटा नहीं है, जिसमें राम चरित्र की गति न हो । अतः राम चरित्र और राम-कथा की इस व्यापकता ने राम-कवियों को प्रबन्ध रचना के लिए

चित्रण कर दिया । यह कथा इतनी समृद्ध थी कि प्रबन्ध काव्य के अतिरिक्त अन्य किसी भी छोटे कलेवर में उसको सीमित करना असम्भव था ।

(४) कवि-प्रतिभा की भिन्नता

किसी भी काव्य रूप को अपनाने के लिए कवि की रुचि एवं प्रतिभा का विशेष हाथ रहता है । अपनी काव्य-प्रतिभा एवं ग्रहणशीला शक्ति के अनुसार ही कवि काव्य रूप का चयन करता है । आलोच्यकाल में ऐसे भी कवि हुए हैं जिन्होंने तत्कालीन प्रचलित समस्त काव्य-शैलियों में समान योग्यता तथा सफलता के साथ काव्य-रचना की हैं । जैसे तुलसीदास जी इसके सफल उदाहरण हैं । फिर भी कवि की समस्त रचनाओं में उसकी विशेष रचना ही सर्वाधिक सफल होती है, जो कवि की रुचि तथा प्रतिभा की परिचायक होती है । इस दृष्टि से तुलसी की काव्य-प्रतिभा ['मानस' के प्रबन्ध रूप में तथा सूर की काव्य-प्रतिभा] 'सूर सागर' के गेय पदों में मुक्तक के रूप में सर्वाधिक सफल है ।

(५) विषय का आधार फलक विस्तृत या संकुचित होना

राम-कवियों के सामने रामचरित के साथ-साथ समाज, राजनीति तथा जीवन की विभिन्न परिस्थितियां एवं उनका चित्रण था, जिसके लिए प्रबन्ध शैली ही उपयुक्त थी । किन्तु कृष्ण कवि समाज, राजनीति एवं जीवन की विभिन्न परिस्थितियों से उदासीन थे । उनके लिए सामाजिक मर्यादा एवं सामाजिक आदर्श महत्वहीन थे । कृष्ण कवियों के हृदय में केवल कृष्ण की बाल एवं यौवन की लीलाओं के प्रति अनुराग था, अतः उनके

वर्णन का आधार फलक सीमित एवं संकुचित था, जिसके लिए प्रबन्ध शैली उपयुक्त न होकर केवल गीति या पद शैली ही उपयुक्त थी ।

(६) भाषा सम्बन्धी भिन्नता

उपर्युक्त कारणों के अतिरिक्त काव्य रूपों की भिन्नता में भाषा भी एक प्रमुख कारण है । अवधी भाषा दोहा, चौपाई युक्त प्रबन्ध काव्य के लिए जितनी उपयुक्त है, उतनी पद साहित्य के लिए नहीं । इसी प्रकार ब्रज भाषा इतनी सरस भाषा है कि नीरस वर्णनात्मक स्थलों वर्के उपयुक्त न होकर केवल सरस भावमय गेय पदों के लिए ही सफल है । अतः राम कवि तुलसी ने प्रबन्ध काव्य तो अवधी में किन्तु गीति काव्य, "विनय पत्रिका", "गीतावली" आदि ब्रजभाषा में लिखा । इसी प्रकार सूर आदि कृष्ण-कवियों ने पदों की रचना तो बड़ी सफलता से की किन्तु वर्णनात्मक स्थलों में ब्रजभाषा की अनुपयुक्तता के कारण उनमें शैली की शिथिलता स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है ।

तुलना और निष्कर्ष

ऊपर वर्णित भिन्नता के कारण काव्य रूपों में भी भिन्नता का होना स्वाभाविक था, किन्तु कुछ ऐसे भी तत्व थे, जिसके कारण काव्य रूप भिन्न होते हुए भी एक दूसरे के निकट प्रतीत होते हैं । जैसे प्रबन्ध काव्यों के भावमय स्थलों में गीति शैली तथा गीति शैली के अन्तर्गत वर्णनात्मक स्थलों में

प्रबन्ध शैली के दर्शन होते हैं । सूर सागर इसका प्रबल प्रमाण है । कृष्ण तथा राम-काव्य के सभी कवियों में यह रूप दिखाई पड़ता है, इसका कारण भक्ति साहित्य के मूल विषय की एकरूपता थी । दोनों धाराओं के अधिकांश कवि भगवान के सगुण रूप के उपासक थे । किसी भी भक्त-कवि की महान साहित्यकार बनने की लालसा नहीं थी । काव्य सृजन का उद्देश्य अप्रधान होने के कारण किसी भी आलोच्यकालीन भक्ति कवि ने काव्य रूपों के क्षेत्र में नए प्रयोग नहीं किए । केवल राम कवि केशव ने अवश्य ही अपनी रचना 'राम चन्द्रिका' में भक्ति की साधना न करके केवल काव्य-साधना ही की है । इसी कारण उनका यह ग्रन्थ काव्यशास्त्र निरूपण एवं पाण्डित्य प्रदर्शन तक ही सीमित है ।

आलोच्यकाल के अधिकांश कृष्ण तथा राम कवियों के कथ्य विषय के अन्तर्गत एक ही रस प्रधान था, वह था भक्ति रस । केवल रामकवि केशवदास ही इसके अपवाद हैं । आलोच्यकालीन ये भक्त कवि अपने उपास्य के गुणगान में तन्मय होकर अपने आत्मतुष्टि आन्तरिक उद्गारों को काव्य के रूप में अभिव्यक्त किए हैं । फलस्वरूप समस्त भक्ति काव्य गेय हो गया है । 'रामचरित मानस' दोहा चौपाई में होते हुए भी गेय है । कृष्ण काव्य तो पूर्ण रूप से गेय पदों में ही सृजित है । सम्पूर्ण भक्ति साहित्य के गेय होने का प्रमुख कारण युग की मांग भी थी । उस समय भारतीय सगुण भक्ति का ह्रास हो रहा था तथा इस्लाम और सिद्धों, नाथों, संतों तथा सूफियों का प्रचार बढ़ रहा था । अतः आवश्यकता इस बात की थी

कि भगवान के लोक-रक्षक गुणों, कार्यों एवं लोक-रंजक लीलाओं का जनता में प्रचार करके सगुण भक्ति के प्रति लोगों की आस्था दृढ़ रखी जाय। इसके प्रचार का प्रमुख साधन भजन, कीर्तन और गीत थे। अतः समस्त काव्य चाहे कृष्ण काव्य हो चाहे राम काव्य, गेय हो गया है। गेयता का यह गुण प्रबन्ध काव्यों के छन्दों में भी है।

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि कृष्ण काव्य ने जहाँ पदों की परम्परा, लीला-कीर्तन के धार्मिक विश्वास तथा कृष्ण चरित्र की रसमयता के कारण पदों की शैली ग्रहण की, वहाँ राम कवियों ने प्रबन्ध काव्यों की परम्परा, उपास्य के शील शक्ति एवं ऐश्वर्य वर्णन में विश्वास तथा राम चरित्र की व्यापकता के कारण प्रबन्ध तथा नाटक शैली को अपनाया। इन दोनों धाराओं के कवियों के काव्य में शिल्पगत भेद होते हुए भी भक्ति के आधार पर काव्य रूपों में साम्य भी है। इसी साम्य के कारण समस्त भक्ति काव्य गेय हो गया है। चाहे तुलसी का प्रबन्ध ग्रन्थ 'मानस' ही क्यों न हो, वह भी गेय है और सूर का सूरसागर भी पद शैली के साथ ही साथ प्रबन्ध के लक्षण भी लिए हुए है। इन दोनों धाराओं के कवियों में पदों तथा प्रबन्ध काव्यों के मिश्रित रूप भी मिलते हैं। शास्त्रीय तथा शुद्ध शुद्ध काव्य रूप की दृष्टि से बहुत ही कम रचनाएं आलोच्यकाल में उपलब्ध होती हैं।

मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य में प्राप्त प्रमुख काव्य-रूप तथा छंद-प्रयोग

आलोच्यकालीन रचनाओं में साहित्य की निम्नलिखित प्रमुख शैलियां उपलब्ध होती हैं । इन शैलियों के अनुरूप छंद-विधान भी दोनों धाराओं के काव्यों में प्राप्त होता है ।

१- प्रबन्ध या आख्यान शैली

२- पद शैली

३- मुक्तक शैली

४- मिश्रित शैली

(अ) आख्यान और पद मिश्रित शैली ।

(ब) आख्यान और मुक्तक मिश्रित शैली ।

५- संवाद-परक नाट्य शैली

६- गद्य शैली

७- अन्य गौण शैलियां

(अ) भ्रमर-गीत शैली

(ब) रास लीला आदि की शैली

प्रबन्ध शैली का प्रधान गुण वर्णनात्मकता है और पद शैली की प्रधान विशेषता गेयता है । मुक्तक पूर्वापर सम्बन्ध से रहित छन्द रचना है । वास्तव में पद भी एक प्रकार का मुक्तक है, किन्तु गेयता प्रधान होने के कारण उसे मुक्तक से भिन्न स्वतन्त्र शैली के रूप में स्वीकार किया जाता है । प्रबन्ध शैली के लिए पद-रचना से

भिन्न प्रकार की कला की अपेक्षा होती है । वस्तु-संयोजन, कथा-कथन, भाव-निरूपण सब का सामंजस्य स्थापित करने के साथ-साथ प्रवाह को अक्षुण्ण रखना आवश्यक होता है । पदकार केवल भावमय अथवा रमणीय स्थलों का चयन करके उन्हीं की अभिव्यक्ति तक अपने को सीमित रख सकता है । पुनरावृत्ति पदकार के लिए दोष नहीं है, किन्तु प्रबन्धकार एक तो भावमय स्थलों के बीच इतिवृत्तात्मक नीरस स्थलों की उपेक्षा नहीं कर सकता, दूसरे किसी प्रकार की पुनरावृत्ति प्रबन्ध को सदोष बना देती है । एक ही पात्र की मनःस्थिति के आलेखन से उसका दायित्व समाप्त नहीं होता, वरन् उसे अनेक पात्रों की मानसिक अवस्था का संश्लिष्ट चित्रण करना होता है । कथा को विकसित करने के लिए एक जीवन्त वातावरण की सृष्टि करना अनिवार्य है, जिसके लिए उसे लोक जीवन के विविध पक्षों तथा लोक-स्वभाव के विविध रूपों से परिचित होना भी आवश्यक है । यह बात नहीं है कि पदकारों को उक्त वस्तुओं के परिज्ञान की अपेक्षा नहीं होती, फिर भी उनका प्रधान उद्देश्य गेय भावाभिव्यक्ति ही होता है । अन्य सब कुछ उसकी पृष्ठभूमि में गौणरूप से स्थित रहता है । परन्तु प्रबन्धकारों को भाव-निरूपण के साथ लोक जीवन और लोक-चेतना से सम्बद्ध सभी वस्तुओं को पर्याप्त महत्व देना होता है ।

ऊपर विश्लेषित प्रबन्ध और पदशैली के स्वरूप-लक्षणों को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि आलोच्यकालीन कृष्ण एवं राम काव्यों में प्रबन्ध और पदशैली का प्रयोग पर्याप्त मात्रा में हुआ है । कुछ मुक्तक शैली का प्रयोग अत्यल्प है । इनमें से कृष्ण काव्य में पद शैली तथा रामकाव्य में प्रबन्ध शैली की विशेष सफलता है । कृष्ण

तथा राम कवियों ने उपर्युक्त शैलियों का एक-दूसरे के साथ मिश्रित प्रयोग भी किया है और इनका नितान्त स्वतन्त्र प्रयोग भी। मुख्य रूप से पद शैली में रचना करने वाले सूर के `सूरसागर` में कथा-क्रम का सूक्ष्म रूप में कुछ-न-कुछ निर्वाह मिलता है और पद शैली के साथ-साथ वर्णनात्मक स्थलों में प्रबन्ध शैली को अपनाया गया है। इसी प्रकार तुलसीदास के कुछ काव्यों में आख्यान शैली के साथ-साथ भावमय स्थलों में पदशैली का प्रयोग भी मिलता है। इस पद शैली तथा प्रबन्ध शैली के मिश्रित रूप के प्रबल प्रमाण `गीतावली` तथा `कृष्ण-गीतावली` हैं। इसके अतिरिक्त मुक्तकों के साथ प्रबन्ध शैली का मिश्रित रूप भी मिलता है, जैसे तुलसी की `कवितावली` तथा नरोत्तमदास का `सुदामा-चरित`। नंददास ने अवश्य ही अपनी रचनाओं `रास-पंचाध्यायी` तथा `भंवरगीत` आदि में मिश्रित शैली का प्रयोग नहीं किया है। उन्होंने दोनों शैलियों को पृथक-पृथक व्यवहृत किया है। इसी प्रकार तुलसीदास का `रामचरितमानस` भी शुद्ध प्रबन्ध शैली का तथा `विनयपत्रिका` शुद्ध पद शैली का उदाहरण है। इनमें शैलीगत मिश्रण नहीं है।

अब हम इन शैलियों के अन्तर्गत आने वाले ग्रन्थों तथा इनमें प्रयुक्त छंदों के बारे में पृथक-पृथक विचार करेंगे।

प्रबन्ध शैली

प्रबन्ध काव्य की वस्तुतः में अनेक परिभाषाएं मिलती हैं। ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धनाचार्य ने प्रबन्ध काव्य में रस के समुचित परिपाक को ही सबसे अधिक महत्व दिया है। आनंदवर्धन का मत है कि कथा का प्रबन्ध, प्रसार एवं विन्यास सब कुछ रस की दृष्टि से

रखकर किया जाना चाहिए । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का कथन है कि 'प्रबन्धकाव्य में मानव-जीवन का एक पूर्ण दृश्य होता है । उसमें घटनाओं की सम्बद्ध शृंखला और स्वाभाविक क्रम के ठीक-ठीक निर्वाह के साथ-साथ हृदय को स्पर्श करने वाले नाना भावों का, रसात्मक अनुभव कराने वाले प्रसंगों का समावेश होना चाहिए । इतिवृत्त मात्र के निर्वाह से रसानुभव नहीं कराया जा सकता है । उसके लिए घटना-चक्र के अन्तर्गत ऐसी वस्तुओं और व्यापारों का प्रतिबिम्बवत् चित्रण होना चाहिए,जो श्रोता के हृदय में रसात्मक तरंगें उठाने में समर्थ हों । अतः कवि को कहीं तो घटना का संकोच करना पड़ता है और कहीं विस्तार[१]।' इस प्रकार आनन्दवर्द्धन और आचार्य शुक्ल के अनुसार इतिवृत्त मात्र प्रबन्ध काव्य नहीं है । उसके माध्यम से रस का पूर्ण परिपाक होना अनिवार्य है ।

प्रबन्ध काव्य के दो भेद दृष्टिगत होते हैं--(१) महाकाव्य और (२) खण्डकाव्य । इनमें से क्रमानुसार सर्वप्रथम महाकाव्य की दृष्टि से आलोच्यकालीन रचनाओं का मूल्यांकन करना समीचीन होगा ।

महाकाव्य

भारतीय साहित्य-शास्त्रियों ने महाकाव्य के जो लक्षण बताए हैं, वे प्रायः सर्वविदित हैं । इसलिए उनको उद्धृत करने की आवश्यकता नहीं है । उनका विश्लेषण करने पर महाकाव्य की निम्नलिखित विशेषताएं ज्ञात होती हैं[२] ।

१- प्रबन्ध की दृष्टि से महाकाव्य को सर्गबद्ध होना चाहिए और सर्गों की संख्या कथा के आनुपातिक आकार से युक्त सामान्यतः आठ या इससे अधिक होनी चाहिए ।

---

१ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : 'जायसी ग्रन्थावली भूमिका',पृ०६८

२ सर्गबन्धो महाकाव्यं तत्रैको नायकः सुरः ।
सद्वंशः क्षत्रियो वापि धीरोदात्तगुणान्वितः ।।
एक वंश भवा भूपाः कुलजा बहवोऽपि वा ।
शृंगार वीर शान्तानामेको रस इष्यते ।।
-- आचार्य विश्वनाथ : 'साहित्य दर्पण

२- छन्द की दृष्टि से महाकाव्य के प्रत्येक सर्ग में सामान्यत: एक ही वृत्त का प्रयोग होना चाहिए,किन्तु सर्ग के अन्त में उससे भिन्न वृत्त आना चाहिए ।

३- कथावस्तु की दृष्टि से महाकाव्य का निर्माण किसी इतिहास-प्रसिद्ध वृत्त को लेकर होना चाहिए ।

४- महाकाव्य का नायक या तो कोई देवता होना चाहिए या धीरोदात्त गुणान्वित कोई क्षत्रिय होना चाहिए ।

५- महाकाव्य में शृंगार,वीर,शान्त रसों में से एक को अंगी एवं शेष रसों को उसके अंगों के रूप में आना चाहिए ।

६- महाकाव्य का उदय-- अर्थ,धर्म,काम और मोक्ष में से किसी एक की प्राप्ति होनी चाहिए ।

७- महाकाव्य में प्रसंगवश विविध वर्णनीय विषयों का सांगोपांग वर्णन होना चाहिए,यथा-- प्रकृति,संध्या, सूर्य,चन्द्र आदि का ।

८- महाकाव्य का नामकरण कथानक अथवा नायक के नाम के अनुसार अथवा अन्य किसी महत्वपूर्ण वस्तु के आधार पर किया जाना चाहिए ।

महाकाव्य की उपर्युक्त रूपरेखा को देखने से ज्ञात होता है कि हमारे यहां के साहित्य-शास्त्रियों का ध्यान विशेषत: उसके बाह्य आकार-प्रकार के विषय में अधिक रहा है । उसकी अन्तरात्मा के विषय में नहीं । महाकाव्य की अन्तरात्मा की ओर पश्चिम के आधुनिक समीक्षकों का ध्यान अधिक आकर्षित हुआ है ।

डब्ल्यु० एम० डिक्सन का विचार है --

"महाकाव्य एक ऐसे नायक का चित्रण करता है जो किसी देश अथवा किसी आदर्श का प्रतिनिधित्व करता है और जो उसकी विजय के साथ विजयी होता है । वह कोई महान् अथवा महत्वपूर्ण व्यापार हमारे सम्मुख प्रस्तुत करता है और इसी प्रकार उसके पात्र भी महान अथवा महत्व-पूर्ण होते हैं । सारी रचना में एक गरिमा होती है । नाटक की तुलना में महा-काव्य के व्यापार की गति मंद होती है । उसमें घटना-बाहुल्य होता है और

उसका वस्तु-संकलन शिथिल होता है । मानव जीवन की जितनी ही विस्तृत भूमिका का उसमें ग्रहण होता है, उतनी ही अधिक सफलता महाकाव्य य को मिलती है । वह कल्पना को अतीत के उस देश में ले जाता है जो स्वप्नों और आदर्शों का होता है, उस देश में जिसमें दु:खांत नाटकों का प्रवेश निषिद्ध है ।[1]

इसी प्रकार सी०एम० गैले लिखते हैं-- 'महाकाव्य किसी ऐसे महामंडित कथानक या व्यापार के गरिमापूर्ण कथा-प्रबन्ध की वह साहित्यिक अभिव्यक्ति है जो(कथानक या व्यापार)किन्हीं वीर पात्रों और अति प्राकृत शक्तियों द्वारा सर्वाधिष्ठात्री नियति के नियन्त्रण में घटित होता है । महाकाव्य के कथानक में किसी राष्ट्र अथवा समस्त मानवता की राजनैतिक अथवा धार्मिक भावनाओं का सन्निवेश होता है । वह लौकिक अनुभूतियों अथवा अनुभूतिबद्ध विचारों के कारण समादर प्राप्त करता है और पाठक के मन में रहस्यपूर्ण,भयानक और दिव्य की अनुभूति जाग्रत करता है । वह समस्त मानवता को विनाशकारिणी परिस्थितियों में से निकालते हुए उसकी अशान्ति को दूर करता, उसे ऊँचे उठाता और शान्ति प्रदान करता है ।[2]

उपर्युक्त महाकाव्य-विषयक पाश्चात्य विद्वानों की परिभाषाओं के आधार पर हम निम्नलिखित निष्कर्ष निकाल सकते हैं:--

१- महाकाव्य का कथानक महिमामण्डित तथा संघर्षपूर्ण होना चाहिए, जिसमें नायक की तथा उसके साथ उसके देश अथवा आदर्शों की विजय होनी चाहिए ।

---

१ डा० माताप्रसाद गुप्त : 'तुलसीदास',पृ०३६६

२ डा० माताप्रसाद गुप्त : 'तुलसीदास',पृ०३६७

२- महाकाव्य में जीवन की एक विस्तृत भूमिका होनी चाहिए ।

३- महाकाव्य का व्यापार भी महान अथवा महत्वपूर्ण होता है । घटना-बाहुल्य तथा वर्णन-प्रचुरता के कारण उसकी गति मंद होती है,और वस्तु-संकलन शिथिल होता है ।

४- महाकाव्य का नायक महान होता है,जो किसी देश अथवा आदर्श का प्रतिनिधित्व करता है ।

५- महाकाव्य की शैली गरिमापूर्ण होनी चाहिए ।

६- महाकाव्य का लक्ष्य मानवता को शांति देना और नीचे से उठाकर ऊपर की ओर ले जाना है ।

अब हम महाकाव्य की ऊपर-वर्णित भारतीय तथा पाश्चात्य विशेषताओं के आधार पर आलोच्यकाल की दोनों धाराओं की रचनाओं का विश्लेषण करेंगे --

रामकाव्य

आलोच्यकाल का सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य `रामचरित मानस` राम काव्य से सम्बद्ध है और भारतीय शास्त्रीय दृष्टि से महाकाव्य के सभी लक्षणों से पूर्ण है । इसमें भारतीय महाकाव्य के लक्षण तो मिलते ही हैं साथ ही पाश्चात्य महाकाव्य के लक्षणों से भी यह पूर्ण है । डा० माताप्रसाद गुप्त की स्पष्ट धारणा है[1]--

१- मानस का कथानक महिमामण्डित है । सारी पृथ्वी जिस समय हिंसा तथा राक्षसों के अत्याचार से आक्रांत थी, धर्म का ह्रास हो रहा था, उस समय उनका दमन करने तथा धर्म-स्थापन के लिए मानस में राम का अवतार होता है । सारी कथा इसी महान घटना को लेकर लिखी गई है ।

---

१ डा०माताप्रसाद गुप्त : `तुलसीदास`,पृ०३६६-३७१

मानस में जीवन की एक अत्यन्त विस्तृत व्यापक व्याख्या है ।
मानस का व्यापार--रावण जैसे-- महा-दानव का दमन-महान और महत्वपूर्ण है ।
मानस के नायक भगवान राम मानवता के समस्त गुणों से पूर्ण और महान हैं ।
मानस की शैली भी कथानक की महानता के अनुरूप ही गरिमा-पूर्ण है ।
मानस में प्रबन्ध के सभी गुण स्पष्ट और सफलता के साथ व्यंजित है ।
मानस का लक्ष्य मानवता को शान्ति देना तथा ऊपर उठाना है ।

मानस के विशाल कलेवर एवं व्यापकता देखकर कुछ विद्वानों ने इसे पुराण की संज्ञा दी है,किन्तु पुराण से अधिक 'मानस' महाकाव्य है । जैसा कि ऊपर के विश्लेषण से प्रकट है ।

'रामचन्द्रिका' भी महाकाव्यों की श्रेणी में गिना जाता है,किन्तु वह सफल महाकाव्य नहीं कहा जासकता है । इसमें कवि के पाण्डित्य-प्रदर्शन,अलंकार-प्रियता तथा छन्द-वैविध्य के कारण कथानक के प्रबन्ध में दोष आ गया है । डा० गार्गी गुप्त ने 'रामचन्द्रिका' को अलंकृत महाकाव्यों की श्रेणी में माना है[१]।

कृष्ण काव्य

आलोच्यकाल की महाकाव्य की श्रेणी में कठिनता से रखी जाने वाली रचना सूरसागर है, जो कृष्ण काव्य है

---

१ संक्षेप में कहा जा सकता है कि 'रामचन्द्रिका' का स्थान उन अलंकृत महाकाव्यों में है,जिनमें शास्त्रीय तथा पौराणिक तत्वों का मणि-कांचन संयोग होता है ।
—गार्गी गुप्त :'रामचन्द्रिका' का विशिष्ट अध्ययन',पृ०४४८

सम्बन्धित है । यह गीतिकाव्य के पदशैली तथा प्रबन्ध शैली दोनों के अंतर्गत आने वाला विशेष ग्रन्थ है । इस ग्रन्थ के अनोखे परिवेश में मुक्तक काव्य की गीति-शैली तथा प्रबन्ध शैली दोनों के तत्वों का समावेश है । उसको समझने के लिए, उसमें भावविभोर हो जाने के लिए किसी पूर्वापर पद की आवश्यकता नहीं, किन्तु यदि सूक्ष्मता से अध्ययन किया जाय तो स्पष्ट दृष्टिगोचर होगा कि जितने भी प्रसंग सूरसागर में आए हैं, उनमें पूर्वापर क्रम से कथा का सूत्र अन्तः सलिला की भांति निश्चितरूप से प्रवहमान है । आरम्भ में सूरदास अपनी विनय-भावना ईश्वर के समक्ष प्रस्तुत करते हैं । तत्पश्चात् कृष्ण-जन्म से कथा आरम्भ करते हैं । बचपन की अनेक लीलाओं का वर्णन अनेक पदों में स्वतंत्र रूप से करता हुआ कवि एक-एक क्रीड़ा के एक-एक भाव में मग्न हो जाता है । इसी प्रकार यौवन को अनेक भाव-विभोर करने वाली लीलाओं का चित्रण करता है । इन लीलाओं के प्रत्येक पद स्वतन्त्र होते हुए भी लीला के रस-पान में सहायक हैं । इस प्रकार भावमय पदों के मध्य कथा का सूत्र सूक्ष्मरूप से प्रवाहित रहता है । प्रत्येक गेय पद अपने में स्वतन्त्र रूप से भावाभिव्यक्ति करते हुए भी कथात्मकता के कौशल से युक्त हैं । इसीलिए विद्वानों ने "सूरसागर" को गीतात्मक महाकाव्य की संज्ञा से अलंकृत किया है । वास्तव में इसमें आख्यान तथा पद दोनों शैलियों का अद्भुत मिश्रण है ।

<u>तुलना और निष्कर्ष</u>

आलोच्यकाल के कृष्ण एवं रामकाव्य-धाराओं में प्राप्त महाकाव्यों के विश्लेषण के अनुसार निष्कर्षरूप में हम यही कह सकते हैं कि महाकाव्यों की रचना का चरम-विकास रामकाव्य के अन्तर्गत ही हुआ । कृष्ण काव्य में महाकाव्यों का पूर्णतः अभाव है । इसका कारण राम तथा कृष्ण के चरित्रों में अन्तर, कवियों का सम्प्रदायगत विश्वास, कृष्ण तथा राम कवियों की शैली सम्बन्धी भिन्न परम्पराएं तथा पृष्ठभूमि आदि हैं, जिसका विश्लेषण सविस्तार से पहले ही कर चुके हैं । यहां संक्षेप में

केवल इतना ही कहना अभीष्ट है कि रामकाव्य के अन्तर्गत आलोच्यकालमें `रामचरित-मानस` तथा `रामचन्द्रिका` उल्लेखनीय महाकाव्य हैं,जिनकी समता करने वाला महाकाव्य कृष्ण-काव्य-धारा में अनुपलब्ध है ।जैसा `रामचरितमानस` तो सर्वलक्षण-सम्पन्न ऐसा सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य है,जिसकी समता करने वाला कृष्ण-काव्य-धारा में ही नहीं,अपितु अद्यावधि-प्राप्त सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य में कोई भी महाकाव्य नहीं है । कृष्ण काव्य के अन्तर्गत कुछ विद्वानों ने `सूरसागर` को महाकाव्य सिद्ध करने का प्रयास किया है, किन्तु `सूरसागर` महाकाव्य से दूर गीति-शैली के अधिक निकट है । चाहें तो हम उसे महाकाव्य तथा गीति-शैली का मिश्रित रूप कह सकते हैं और इसी रूप में इसका विवेचन हुआ है ।

खण्डकाव्य

प्रबन्धकाव्य का दूसरा भेद खण्डकाव्य है, जिसे `एकदेशानुसारी काव्य` कहकर ही साहित्य-शास्त्रियों ने छोड़ दिया है । आचार्य विश्वनाथ ने अपने महत्वपूर्ण काव्य-शास्त्रीय ग्रन्थ `साहित्य दर्पण` में खण्डकाव्य को उक्त रूप में ही माना है[१] । खण्डकाव्य का क्षेत्र महाकाव्य की अपेक्षा सीमित होता है । उसमें जीवन की वह अनेकरूपता नहीं रहती है, जो महाकाव्य में होती है । उसमें कहानी और एकांकी की भांति घटना के लिए सामग्री जुटाई जाती है । खण्डकाव्य में एक प्रधान और मार्मिक घटना का ही वर्णन रहता है ।

---

१ खण्डकाव्यं भवेत्काव्यस्यैकदेशानुसारि च ।
—आचार्य विश्वनाथ : `साहित्य दर्पण`,पृ० ६०

कृष्ण काव्य

कृष्णकाव्यान्तर्गत आलोच्यकाल में उपलब्ध नन्ददास की रचनाओं 'रुक्मिनी-मंगल', 'रूप-मंजरी', 'रास-पंचाध्यायी' 'भंवरगीत', 'विरह-मंजरी' आदि में खण्डकाव्य के लक्षण मिलते हैं, किन्तु अन्तिम दोनों रचनाओं में से 'भंवर गीत' में संवादात्मकता की प्रधानता के कारण तथा 'विरह-मंजरी' में कथा के अभाव के कारण प्रबंध-योजना में दोष आ गया है । प्रथम तीनों रचनाएं कथा-प्रवाह, वस्तु-संयोजन आदि सभी दृष्टियों से पूर्ण खण्डकाव्य शैली का सफल प्रमाण है । इसके अतिरिक्त कृष्णकाव्य के अन्तर्गत दो और प्रमुख खण्डकाव्य हैं--एक नरोत्तम दास का 'सुदामा-चरित' तथा दूसरा पृथ्वीराज का 'वेलिकृष्ण रुक्मिणीरी' । ये दोनों ग्रन्थ भी खण्डकाव्य के लक्षणों से पूर्ण हैं ।

रामकाव्य

रामकाव्य-धारा में खण्डकाव्य के उदाहरण केवल तुलसी की रचनाओं में ही मिलते हैं । तुलसी की श्रेष्ठ रचना 'जानकी-मंगल', 'पार्वती-मंगल', 'राम-लला-नेहछू' खण्डकाव्य के उदाहरण कहे जा सकते हैं ।

तुलना और निष्कर्ष

~~रामकाव्य-धारा में खण्डकाव्य के उदाहरण केवल तुलसी की रचनाओं में ही~~ तुलनात्मक दृष्टि से देखा जाय तो तुलसीदास के तीनों खण्डकाव्य अत्यन्त साधारण स्तर के हैं । इनमें कथा का प्रवाह तथा वस्तु-संयोजन उतना सफल नहीं हुआ है, जितना कि कृष्ण कवि नन्ददास की रचनाओं में । नरोत्तमदास का 'सुदामा-चरित' अवश्य ही मुक्तक तथा खण्ड काव्य दोनों के लक्षणों से युक्त है ।

प्रबन्धकाव्य के दोनों भेदों-- महाकाव्य तथा खण्डकाव्य की दृष्टि से कृष्ण तथा रामकाव्य की तुलना करने पर निष्कर्ष रूप में यही कहा जासकता है कि प्रबन्ध-काव्य के क्षेत्र में राम-कवि तुलसी तथा केशव की सफलता केवल महाकाव्यों के विषय में मिली है और इस क्षेत्र में उनकी समता का कोई भी महाकाव्य कृष्णकाव्य में नहीं उपलब्ध होता है । वास्तव में महाकाव्य की शैली कृष्णकाव्य के अनुरूप थी ही नहीं, किन्तु खंडकाव्य के क्षेत्र में कृष्ण कवि रामकवियों से आगे हैं । नन्ददास के खण्डकाव्यों के सामने तुलसी के खण्डकाव्य असफल हैं ।

आख्यान शैली में प्रयुक्त मुख्य छंद और उनका स्वरूप

छन्द की दृष्टि से आख्यानों के दो प्रमुख भेद हो सकते हैं, एक तो वे आख्यान अथवा वर्णनात्मक काव्य जिनमें किसी एक ही छन्द का प्रयोग हुआ हो, दूसरे, वे काव्य जिनमें मिश्रित-छन्द प्रणाली या अनेक छन्दों का प्रयोग किया गया हो । स्पष्ट ही प्रथम प्रकार की रचना खण्डकाव्य तथा दूसरे प्रकार की महाकाव्य होगी ।

कृष्णकाव्य

उपर्युक्त दृष्टि से प्रथम प्रकार के काव्यों में कृष्णकाव्य की कई रचनाएं आती हैं, जिनमें नन्ददास की `गोवर्द्धन-लीला` तथा `सुदामा-चरित` और सूर की अधिकांश वर्णनात्मक लीलाएं हैं, जिनमें चौपाई छंद का प्रयोग हुआ है । नन्ददास की `रुक्मिणी-मंगल` `रास-पंचाध्यायी` तथा `सिद्धांत पंचाध्यायी` केवल रोला छंद में लिखी गई है । इसी तरह ध्रुवदास की `दान-विनोद-लीला` आदि अनेक कृतियों में दोहे का ही व्यवहार हुआ है । कृष्णकाव्य में कुछ ऐसी भी रचनाएं हैं, जिनमें आख्यान शैली के अन्तर्गत अनेक छन्दों का प्रयोग हुआ है । उन रचनाओं में नरोत्तमदास का `सुदामा चरित` प्रमुख है । किन्तु आख्यान शैली के अन्तर्गत छंद-वैविध्य के कवि कृष्णकाव्य में नहीं के बराबर हैं ।

रामकाव्य

आख्यान काव्य के अन्तर्गत छंदवैविध्य का दर्शन हमें रामकाव्य में प्रचुरमात्रा में मिलता है । केशव की `रामचन्द्रिका` इसका अनुपम उदाहरण है । यह ग्रन्थ छंदों का भण्डार होने के कारण पिंगल ग्रन्थ भी कहा गया है । तत्कालीन कोई भी शास्त्रीय छंद ऐसा नहीं है, जिसका प्रयोग `रामचन्द्रिका` में न हुआ हो । छन्दों के इतने अधिक प्रयोग इस ग्रन्थ में हुए हैं कि भावपक्ष दब गया है, और ऐसा मालूम पड़ता है कि कवि पिंगल-ग्रन्थ लिखने के आचार्यत्व के लोभ का संवरण नहीं कर सका है । `रामचन्द्रिका` की इसी छंद-बहुलता को देखकर डा० बड़थ्वाल ने इसे छंदों का अजायबघर कहा है । रामकाव्य के दूसरे आख्यानकार तुलसी में भी छंद-वैविध्य है, किन्तु उस रूप में नहीं जिस रूप में केशव में है ।तुलसी की छंद-बहुलता भावानुकूल एवं शास्त्रीय दृष्टि से उपयुक्त है ।`रामचरित-मानस` इसका प्रबल प्रमाण है ।

तुलना और निष्कर्ष

कृष्णकाव्य में छन्द की शास्त्रीय मान्यताओं का पालन रामकाव्य की तुलना में कम है । रामकवि कृष्ण-कवियों की अपेक्षा छंद के शास्त्रीय नियमों से अधिक परिचित थे । कृष्ण-कवियों ने कुछ मात्राओं को जोड़कर नए छंदों का प्रयोग भी किया है, जिसके प्रमाण नन्ददास की रचनाएं हैं । कृष्ण-कवि छंद की शास्त्रीय मान्यता से दूर संगीत के अधिक निकट हैं,जब कि राम-कवि छंद के शास्त्रीय नियमों में अधिक बंधे हैं ।

अब हमराम और कृष्ण दोनों काव्य-धाराओं के आख्यान-काव्यों में प्रयुक्त छन्दों पर विचार करेंगे ।

१- दोहा-चौपाई

दोहा-चौपाई का आख्यान काव्यों में सर्वाधिक प्रयोग रहा है । हिन्दी के आदि ग्रन्थ `पृथ्वीराज रासो` से लेकर हिन्दी साहित्य के मध्यकाल तक इस छन्द का महाकाव्य के क्षेत्र में एकाधिकार रहा है । सूफियों के समस्त महाकाव्य तथा `रामचरितमानस` जैसा हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य इस छंद-शिल्प में ही रचा गया । दोहा-चौपाई का प्रयोग आलोच्यकालीन कृष्ण एवं राम दोनों शाखाओं में ~~इसका~~ भिन्न ~~प्रयोग~~ है ।

कृष्ण काव्य

~~कृष्ण-छन्द~~ कृष्ण काव्य अधिकतर पदों में ही सृजित हुआ है, किन्तु वर्णनात्मक स्थलों में कृष्णकवियों ~~में~~ ने अधिकांशत: दोहा चौपाई का ही प्रयोग किया है,क्योंकि वर्णन के प्रवाह के लिए जिस शिल्प-गत गुण की आवश्यकता होती है, वह दोहा-चौपाई पद्धति में पूर्णरूपेण समाहित है । `सूरसागर`[१] के दशम स्कन्ध में `दूसरी चीर हरन लीला` शुद्ध चौपाइयों में वर्णित है । चौपाइयों[२] के बीच में दोहा का क्रम नहीं है । इसके अतिरिक्त `यज्ञ-पत्नी-लीला` तथा यमलार्जुन उद्धार` की दूसरी लीला` भी चौपाइयों में वर्णित है । प्रारम्भिक स्कन्धों में चौपाई का प्रयोग कहीं कहीं मिलता है , परन्तु वह दोहा-चौपाई की शैली में न होकर चौपाई, चौपई और चौबोला की शैली में है ।

---

१ सू०सा०,पहला खण्ड,दशम स्कंध,पृ०५३४-५३८

२ ,, ,, ,, ५३८-५३९

३ ,, ,, ,, ३६०-३६३

कृष्णकाव्य के अन्तर्गत ध्रुवदास ने भी दोहा-चौपाई को अपनी कुछ लीलाओं में स्वीकार किया है। 'मुक्तावली लीला'[1] 'नेह मंजरी लीला'[2], 'रति मंजरी लीला'[3], 'रहस्य मंजरी लीला'[4] आदि लीलाओं को दोहा-चौपाई शैली में वर्णित किया गया है। सूरदास ने चौपाइयों के बीच में दोहा नहीं रखा है, अतः चौपाइयों की पंक्तियों के सम्बन्ध में सम अथवा विषम संख्या का भेद नहीं उत्पन्न होता, परन्तु ध्रुवदास की रचित लीलाओं में ११,६,५,३,२,४ आदि सम तथा विषम दोनों प्रकार की पंक्ति-संख्या उपलब्ध होती है। सम्पूर्ण 'मुक्तावली लीला' के बीच में कवि ने एक सवैया भी रखा है[5]। 'हीरावली-लीला' में सवैये का पर्याप्त मात्रा में प्रयोग किया गया है। 'रहस्य मंजरी-लीला' और 'रति मंजरी लीला' विशुद्ध दोहा-चौपाइयों में लिखी गई है। 'नेह मंजरी-लीला' में मानस की तरह दोहा-चौपाई के बीच-बीच में सोरठे का प्रयोग किया गया है।

राधा-वल्लभ सम्प्रदाय के श्री चतुर्भुजदास ने अपनी कुछ रचनाएं चौपाई छंदों में सृजित किया है। 'शिक्षा-सकल-समाज यश'[6] 'हितोपदेश-यश'[7] शिक्षासार यश[8] एवं अनन्य भजन यश[9] जैसी शैली में लिखी गई है। चौपाई के साथ दोहों का प्रयोग इनमें नहीं हुआ है।

---

१ ध्रुवदास बयालीस-लीला, पृ० १४७-१५८

२ ,, ,, पृ० १९६-२०४

३ ,, ,, पृ० १९२-१९६

४ ,, ,, पृ० १८४-१८६

५ ,, ,, पृ० १५४

६ द्वादश-यश, शिक्षा सकल-समाज यश, पृ० १-६

७ ,, हितोपदेश यश, पृ० २४-२८

८ ,, शिक्षा सार यश पृ० २०-२४

९ ,, अनन्य भजन यश, पृ० ३४-३७

नन्ददास ने अपने ग्रन्थ 'दशम स्कन्ध' में दोहा-चौपाई शैली का प्रयोग किया है। चौपाई की १६मात्रा की जगह कहीं-कहीं १५ मात्राओं को रखकर चौपई का प्रयोग कर किया गया है।

रामकाव्य

रामकाव्य के अन्तर्गत दोहा-चौपाई का सफल प्रयोग तुलसीदास के 'रामचरित मानस' में हुआ है। 'मानस' दोहा चौपाई शैली का साहित्य में सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ है। महाकाव्य के लिए छंद शास्त्रीय दृष्टि से दोहा-चौपाई शैली को पूर्ण सफलता मान्य है, जिसका सफल प्रयोग 'रामचरित मानस' में ही दृष्टिगोचर होता है। 'मानस' में दोहा-चौपाई का मात्रा की दृष्टि से विशुद्ध प्रयोग हुआ है। इसके अतिरिक्त इस महाकाव्य में दोहों के साथ-साथ सोरठों का भी सफल प्रयोग हुआ है। भावानुकूल कहीं-कहीं अन्य छंदों का भी प्रयोग दृष्टिगत होता है। ये छंद भाव-परिवर्तन में पूर्ण सहायक हैं। तुलसीदास ने 'मानस' के हर सोपान के प्रारम्भ में मंगलाचरण के रूप में संस्कृत के श्लोकों का भी प्रयोग किया है, जिनसे कवि के हिन्दी भाषा काव्य के अलावा संस्कृत काव्य-रचना पर भी पूर्ण अधिकार परिलक्षित होता है।

तुलना एवं निष्कर्ष

दोहा-चौपाई की अतिप्रसिद्ध आख्यान शैली का प्रयोग कृष्ण एवं राम दोनों काव्यधाराओं में किया गया है। कृष्ण काव्य के अन्तर्गत नन्ददास, ध्रुवदास, चतुर्भुजदास(राधा वल्लभीय) की कुछ रचनाओं में दोहा-चौपाई की शुद्ध शैली तथा कहीं-कहीं केवल चौपाई की शैली मिलती है। अन्य कवियों ने भी वर्णनात्मक स्थलों पर इसी शैली को अपनाया है। रामकाव्य के सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'रामचरित मानस' में यह शैली पूर्ण सफल है। वास्तव में इस शैली का महत्व रामचरित मानस

के कारण ही है । अकेले मानस की तुलना में दोहा-चौपाई-शैली में लिखे गए समस्त कृष्ण-काव्य अत्यन्त निम्नकोटि के लगते हैं । मानस की सफलता के सामने उनकी कोई तुलना नहीं है ।

कृष्ण काव्य शाखा में दोहा-चौपाई की मात्राओं पर ध्यान अवश्य है, किन्तु कहीं-कहीं मात्रा का न्यूनाधिक प्रयोग भी लक्षित होता है, जिससे चौपाई और चौपई का भेद स्पष्ट नहीं होता है किन्तु रामकाव्य में मात्राओं का पूर्ण बंधन स्वीकार किया गया है और उनका प्रयोग शास्त्रीय दृष्टि से शुद्ध और सफल है ।

कृष्ण काव्य में चौपाइयों के साथ दोहे का कोई निश्चित क्रम नहीं है । भिन्न ग्रन्थों में भिन्न क्रम स्वीकार किया गया है । किन्तु राम-शाखा में चौपाइयों की पंक्तिसंख्या के साथ दोहों के प्रयोग में एक निश्चित क्रम है । तुलसीदास ने `रामचरित मानस` में आठ अर्धालियों अर्थात् चार चौपाइयों के बाद एक दोहे का निश्चित क्रम स्वीकार किया है ।

कृष्ण तथा राम दोनों काव्य-धाराओं में दोहा-चौपाई के साथ-साथ अन्य छंदों का भी प्रयोग किया गया है । कृष्ण-कवियों ने तो चौपाई का चौपई के साथ मेल कर दिया है तथा रामकवि तुलसीदास ने दोहे के साथ सोरठा तथा अन्य छंदों का भी प्रयोग किया है ।

निष्कर्ष रूपमें यही कहा जा सकता है कि दोहा-चौपाई शैली में रामकाव्य कृष्णकाव्य की तुलना में कई गुना अधिक श्रेष्ठ और समृद्ध है । वास्तव में इस क्षेत्र में दोनों की तुलना ही असंगत है, क्योंकि राम-चरित्र प्रबन्ध के ही उपयुक्त था, और दोहा-चौपाई शैली का सफल प्रयोग प्रबन्ध काव्यों में ही सम्भव है, जब कि

कृष्ण-चरित्र ठीक इसके विपरीत था । अतः दोहा-चौपाई की दृष्टि से कृष्ण काव्य रामकाव्य की तुलना में असफल है ।

२- चौपाई, चौपई, चौबोला

कृष्णकाव्य

कृष्णकाव्य के अन्तर्गत इन तीनों छंदों का प्रयोग वर्णनात्मक स्थलों में किया गया है । कहीं-कहीं तो इनका इतना मिश्रण हो गया है, कि १६ मात्रा की चौपाई और १५ मात्रा की चौपई में अन्तर ही स्पष्ट नहीं होता है । अन्य स्थलों पर तीनों का मिश्रित प्रयोग होते हुए भी तीनों अलग-अलग हैं । सूरदास ने अपने पौराणिक वर्णनों के नीरस प्रसंगों में इन तीनों छंदों का मिश्रित प्रयोग किया है[1] । चौपाई, चौपई, चौबोला की इसी मिश्रित शैली का प्रयोग सूरसागर के पंचम, षष्ठ तथा सप्तम स्कन्धों में हुआ है ।

कृष्ण-भक्ति-शाखा के अन्य कवि गोविन्द स्वामी ने 'गोवर्द्धन-धारण'[2] के प्रसंग में इसी शैली का प्रयोग किया है ।

नन्ददास ने भी 'दशम स्कन्ध' में इसी मिश्रित शैली का प्रयोग किया है[3] ।

---

१ आतम अजन्म सदा अविनाशी । ताको देह मोह बड़ फांसी ।।चौपाई।।

ऋषभ सुपुत्र, भरत मम नाम । राज छांड़ि लियो बन विश्राम।।चौपई ।।
तहं मृग-छौना सौं हित भयो, नर तन तजि कै मृग तन लियो ।।चौबोला ।।
--सू०सा०, पंचम स्कन्ध, पृ० १५४

२ गोविन्द स्वामी : पद संग्रह पृ० ३३-३६

३ गोप रहे सब चौहैं मौहैं, जानहिं नाहिन कछु हमको है । चौपाई ।
गोपी चकित चाहि कै ताहि, मदन लगों कि रमा यह आहि ।।चौपई
तरुनि लहति लहति छवि छई, नन्द के सुंदर मंदिर गई । चौबोला
--नन्ददास, दशम स्कन्ध, पृ० २२१-२२२

रामकाव्य

रामकाव्य के अन्तर्गत चौपाई का प्रयोग है, वह भी दोहे के साथ । जैसा कि पहले हम देख चुके हैं । किन्तु इस प्रकार चौपई और चौबोला के साथ मिलाकर काव्य-रचना करने का प्रयास रामकाव्य में नहीं मिलता है ।

तुलना और निष्कर्ष

चौपाई, चौपई और चौबोला की यह मिश्रित पद्धति केवल कृष्ण-काव्य में ही प्रयुक्त हुई है । इस विशेष प्रकार की रचना-पद्धति का रामकाव्य में पूर्ण अभाव है ।

३- दोहा सोरठा

कृष्ण काव्य

कृष्ण-साहित्य में दोहा और सोरठा के माध्यम से पर्याप्त रचना हुई है । रसखान का छोटा सा ग्रन्थ 'प्रेम-वाटिका' पूर्ण रूप से दोहा छंद में ही रचा गया है । हितसेवक जी द्वारा रचित 'हित कुलनौं--सिद्धान्त-नाम-चौदह-प्रकरण'[1] दोहों में लिखा गया है । ध्रुवदास की अनेक लीलाएं दोहों में है । 'वृन्दावन-लीला'[2] आनन्दाष्टक लीला,[3] भजनाष्टक लीला[4], 'रस-रत्नावली-लीला'[5]

१-श्री हित सुधासागर-श्री सेवक वाणी जी, पृ० ३१०
२ श्री ध्रुवदास जी : बयालिस लीला - वृन्दावन लीला, पृ० १९-२२
३ ,, ,, आनन्दाष्टक लीला, पृ० ६२-६३
४ ,, ,, भजनाष्टक लीला, पृ० ६३-६४ ।
५ ,, ,, रस रत्नावली लीला, पृ० १९७-२०१

एवं `वन-विहार लीला`[1] पूर्ण रूप से दोहों में लिखी गई है। `मनशिक्षा लीला`[2] एवं `ख्यालहुलास लीला`[3] इन दोनों लीलाओं की रचना दोहों में है। किन्तु बीच-बीच में सोरठे का भी प्रयोग है। `भक्त नामावली लीला`[4] में दोहों के साथ अरिल्ल छंद का प्रयोग है। `प्रीति चौवनी लीला`[5] में दोहों के बीच में एक कुण्डलियां छन्द का प्रयोग है। `भजन-सत लीला`[6] में दोहों के बीच-बीच में एक सोरठे का प्रयोग किया गया है[7] और कहीं-कहीं[8] बीच में दोहे-सोरठे के साथ कुंडलिया का भी मिश्रण है। `मनश्रृंगार लीला` में दोहों के साथ अरिल्ल का प्रयोग है[9]। `सभामंडल लीला`[10] में प्रमुख छन्द के रूप में दोहा का प्रयोग है, किन्तु बीच-बीच में सोरठे और कवित्त का भी मिश्रण है। `प्रेमावलीलीला`[11] में दोहों के साथ कुंडलिया छन्द का प्रयोग है। `सुख मंजरी लीला`[12] में दोहों के साथ सोरठे का मिश्रण है। `रंगविहार लीला`[13] में दोहों के बीच कुंडलिया[14] और सोरठे[15] का

---

१ श्री ध्रुवदास की बयालीस लीला-वृन्दावन वन-विहार लीला, पृ० २०४-२०६

२	,,	,,	मनशिक्षा लीला,	पृ०७-१२
३	,,	,,	ख्याल हुलास लीला	पृ० २२-२७
४	,,	,,	भक्त नामावली लीला, पृ०	२७-३७
५	,,	,,	प्रीति चौवनी लीला,	पृ० ६१
६	,,	,,	भजनसत लीला,	पृ०६८-७०
७	,,	,,	,,	पृ० ७६
८	,,	,,	मनश्रृंगार लीला	पृ०११९-१२६
९	,,	,,	,,	पृ०१२६
१०	,,	,,	सभामंडल लीला	पृ० १२८-१४७
११	,,	,,	प्रेमावली लीला,	पृ० १७२-१८३
१२	,,	,,	सुखमंजरी लीला	पृ० १८६-१९१
१३	,,	,,	रंगविहार लीला	पृ० २०६-२१४
१४	,,	,,	,,	पृ०२११
१५	,,	,,	,,	पृ०२१३

प्रयोग है ।

हित वृन्दावनदास ने `कलि-चरित्र वेलि` नामक छोटा-सा ग्रन्थ सोरठे छंदमें लिखा है[1] और श्री सेवक जी ने `अथ श्री अनूपाकृपा नवम प्रकरण` भी सोरठों में लिखा है[2]।

कृष्ण-कवियों में दोहे के अन्त में ६ या १० मात्राओं की एक लघु पंक्ति जोड़कर एक विशेष प्रकार की गेयात्मकता उत्पन्न करने का प्रयास मिलता है, जो चरणों के बीच में गेयात्मक शब्द रखने से भिन्न कोटि का हो गया है ।

सूर,[3] नन्ददास[4] और हरिराय[5] को इस विशेष प्रकार की गेयात्मक प्रणाली में सफलता प्राप्त हुई है । वास्तव में यह इन कवियों की मौलिक उद्भावना है । छन्दों के मिश्रण के ऐसे मौलिक प्रयोग रामकवियों में दृष्टिगत नहीं होते हैं । हरिराय के दोहे में `सो` का गेयात्मक समावेश हुआ है,किन्तु यह अपवाद स्वरूप है । नन्ददास ने दोहे को रोले के साथ संयुक्त करके तब उसके अन्त में १० मात्राओं के गेय लघु अंश का योग किया है, जिससे उनकी छंद-योजना में अधिक गेयता आ गई है । सूरदास ने भी इस प्रकार का प्रयोग किया है । परन्तु सूरदास ने ऐसा प्रयोग अपने

---

१ चाचा श्री हित वृंदावनदास जी-- श्री कलिचरित्र वेलि,पृ० १२

२ श्री सेवक वाणी जी-- श्री हित सुधासागर,पृ० २७६-२८०

३ एहि मग गोरस लै सबै, दिन प्रति आवहिं जाहिं ।
हमहिं छाप देख रावहु, दान चहत केहि पाहि ।।
कहत नंद लाडिले,सू०सा०,पृ० २०

४ प्रेम सुधा रस रूपिनी, उपजावति सुख पुंज ।
सुन्दर स्याम विलासिनी, नव वृन्दावन कुंज ।।
सुनो ब्रज नागरी। नन्द०,पृ० १२३

५ गोवर्द्धन के शिखर तें, मोहन दीनो टेर ।
अति तरंग सों कहत है, सो ग्वालिनि राखी घेर ।।
नागरि दान दै । स्वामी हरिराय

पद-साहित्य के अन्तर्गत किया है । नन्ददास ने अपने खण्डकाव्य `श्याम-सगाई` तथा `भंवरगीत` में रोला-दोहा युक्त लघु-गेय-अंश प्रणाली का प्रयोग किया है, जिससे रचना बहुत ही श्रुति-मधुर हो गई है । `श्याम-सगाई` के एक उदाहरण से इस प्रणाली की श्रुति-मधुरता स्पष्ट हो जायगी --

जो मांगो सो लेउ, सांवरे कुंवर कन्हैया ।
जिन मांगें ही देहि, तुम्हें राधा की मैया ।। रोला
यह सुनि सुन्दर सांवरे, लीने सखा बुलाई ।
सिंह पौरि वृषभानु की, तत छन पहुचे जाई।। दोहा
लगन है नेह को[1] ।

इस नए छन्द-प्रयोग से नन्ददास का `भंवरगीत` इतना प्रसिद्ध हुआ कि इस नवीन छंद का नाम ही `भ्रमर-गीत` छंद रख दिया गया[2] ।

राम काव्य

रामकाव्य के अन्तर्गत तुलसीदास ने दोहे-सोरठे का प्रयोग अन्य छन्दों के साथ- साथ किया है और उनका स्वतंत्र प्रयोग अलग रचना में भी किया है । `राम-चरित-मानस` में चार चौपाइयों या आठ अर्द्धालियों के बाद निश्चित क्रम से दोहों का प्रयोग किया गया है । इसी प्रकार `मानस` में सोरठों का भी प्रयोग है, किन्तु स्वतन्त्ररूप से दोहे सोरठों का प्रयोग `दोहावली` ग्रन्थ में हुआ है । केवल दोहे के ही प्रयोग के कारण इस रचना का नाम `दोहावली` रखा गया है । दोहों के बीच

---

१ नन्ददास -- श्याम सगाई, पृ० १५

२ भ्रमरगीत-- मात्रिक विषम छंद--इसमें चार पद दो छन्दों को मिलाकर रखे जाते हैं । ये चारों पद दो पद रोला या उल्लाला का होता है और दो पद दोहे का होता है । अन्त में दस मात्राओं की गेयात्मक टेक होती है ।

--हिन्दी काव्यशास्त्र, पिंगलप्रकाश, पृ० १६

में कुछ सोरठों का भी इस ग्रन्थ में प्रयोग किया गया है । कुछ स्थलों पर किसी विषय के केवल एक ही दोहे हैं, दूसरे दोहे में विषय-परिवर्तन हो जाता है, किन्तु किन्हीं स्थलों पर किसी विशिष्ट विषय को लेकर दो तीन दोहे तक क्रमिक रूप से लिखे गए हैं ।

तुलना और निष्कर्ष

दोहा-सोरठा छंद का प्रयोग कृष्ण काव्य और रामकाव्य दोनों में प्रचुर मात्रा में हुआ है, क्योंकि सिद्धान्त कथन की दृष्टि से संक्षिप्त सरल और स्मरण रखने योग्य होने के कारण यह सभी छंदों से सर्वाधिक उपयुक्त था । रामकाव्य में दोहे का प्रयोग परम्परा से प्रचलित रूप में ही है, क्योंकि इस छंद का प्रयोग बहुत प्राचीन काल से चला आ रहा था । प्राकृत और अपभ्रंश में इसे गाहा, गाथा, दूहा आदि कहते थे । बाद में संतों की बानियों में यही साखी के नाम से प्रसिद्ध हुआ, इसी को कभी-कभी दोहरा भी कहा गया है । संत कबीर का लगभग आधे से कुछ ही कम साहित्य दोहों में है[1]।

सूफी कवि जायसी ने `अखरावट` में एक दोहा, एक सोरठा, सात अर्द्धालियों का क्रम निर्वाह किया है । तुलसीदास ने इसी परम्परा के आधार पर `मानस` की रचना की है, यद्यपि दोहा-चौपाई का क्रम इससे भिन्न और निश्चित है । `दोहावली` के दोहे भी परम्परा से प्राप्त शास्त्रीय नियमों के अनुकूल हैं, किन्तु कृष्ण-कवियों ने इस क्षेत्र में नया प्रयोग किया है । उनके दोहे और सोरठे भी मात्रा की गणना से शुद्ध शास्त्रीय नहीं है । इसका कारण कृष्ण कवियों का संगीत-प्रेम है, क्योंकि दोहा को इन कवियों ने संगीत के आधार पर मात्रा की न्यूनाधिकता कर दी है । इसके अतिरिक्त दोहे के अन्त में दस मात्राओं

---

१ कबीर ग्रन्थावली, पृ० १-८६

का गेय पद टेक के रूप में रखकर नई छंद प्रणाली का भी आविष्कार किया है । इस प्रकार राम-कवि दोहा सोरठा के क्षेत्र में परम्परा के अनुकरण पर हैं, किन्तु कृष्ण-कवियों की इस क्षेत्र में मौलिक देन है ।

४- कवित्त-सवैया

आलोच्यकाल के प्रमुख छन्द दोहा चौपाई और दोहा-सोरठे थे । परन्तु उक्त काल के कृष्ण तथा रामकवियों ने अन्य अनेक छन्दों का भी प्रयोग किया है, जिनमें कवित्त-सवैया प्रमुख हैं ।

कृष्ण काव्य

कृष्ण काव्य के अन्तर्गत कवित्त-सवैया में सर्वाधिक सफलता रसखान को मिली है । अपने ग्रन्थ 'सुजानरसखान' में रसखान ने प्रधानतया सवैया छन्द को दी है, यद्यपि बीच-बीच में कवित्त भी हैं । कहीं-कहीं दोहा का भी प्रयोग है[1] । श्री सेवक जी ने 'श्री हित अनन्य टेक' सवैया छन्द में लिखा है,[2] जिसमें सवैया की मात्रा सर्वत्र ३२ रखी गई है । इसके अतिरिक्त सेवक जी ने 'श्री हित पाये-धर्माधर्म' और 'श्री हित नाचे धर्माधर्म' में भी सवैया छन्द का प्रयोग किया है,[3] बीच-बीच में रोले भी रखे गए हैं[4] और अन्त में घनाक्षरी और छप्पय का प्रयोग है[5] । कवित्त का प्रयोग रागों की संख्या गिनाने के लिए सेवक जी ने किया है[6] । अष्टम स्कन्ध में सूरदास ने भी कवित्त छन्द का प्रयोग किया है[7] ।

---

१ रसखान और घनानन्द, सुजान रसखान, पृ० १३-३३

२ श्री हित सुधासागर श्री सेवक वाणी जी अथ श्रीहित अनन्य टेक प्रकरण, पृ० १७०-१७१

३ ,, ,, ,, पृ० २९५-३०७

४ ,, ,, ,, पृ० ३०५

५ ,, ,, ,, पृ० ३०७

६ ,, ,, ,, पृ० २२६

७ सूरसागर, अष्टम स्कन्ध, पृ० १७१, पद ४३२

ध्रुवदास[१] ने `भजन-शृंगार सत-लीला` में कवित्त-सवैया छन्द का प्रयोग किया है । आरम्भ में और कहीं-कहीं मध्य में दोहे का भी प्रयोग हुआ है ।

<u>रामकाव्य</u>

रामकाव्यान्तर्गत तुलसीदास ने `कवितावली` ग्रन्थ को प्रमुखरूप से कवित्त सवैया छंद में लिखा है । इनमें प्रयुक्त कवित्त-सवैया मुक्तक का गुण रखते हुए कथा का सूत्र भी धारण किए हुए हैं । इसके अतिरिक्त हृदयराम का `हनुमन्नाटक` कवित्त-सवैया छन्द में लिखा गया है । ये दोनों छन्द इस ग्रन्थ में संवादों को अति संक्षेप में व्यक्त करने तथा प्रभावशाली बनाने में सफल हैं । सेनापति के `कवित्त रत्नाकर` की चौथी तरंग में रामभक्ति से सम्बन्धित कवित्त हैं । `रामचन्द्रिका` में केशवदास ने अन्य अनेकानेक छन्दों के साथ सवैया का भी प्रयोग किया है[२] ।

<u>तुलना और निष्कर्ष</u>

कृष्ण एवं राम दोनों काव्यों में कवित्त-सवैया छन्द का प्रयोग मिलता है । किन्तु रामकाव्य में इसका अपेक्षाकृत अधिक प्रयोग है और रामकवियों को इस क्षेत्र में अधिक सफलता भी मिली है । सेनापति, तुलसीदास,हृदयराम के कवित्त-सवैयों के सामने कृष्ण कवियों में केवल रसखान ही ठहर सकते हैं । अन्य कवियों ने इन छन्दों के साथ दोहा रोला आदि अन्य छन्दों का भी मिश्रित प्रयोग किया है,जिसमें वे सफल नहीं हैं ।

---

१ श्री ध्रुवदास जी ब्यालीस लीला, अथ भजन शृंगार सत लीला,पृ०७८-१०६

२ केशवदास : `रामचन्द्रिका, पृ०२४,२७,छं०सं०१११,१२८।

५- कुंडलिया--कृष्ण काव्य

इस धारा के अन्तर्गत ध्रुवदास ने कुंडलिया छंद का प्रयोग 'भजन कुंडलिया लीला'[1] में किया है। प्रत्येक कुण्डलिया के बाद ध्रुवदास ने एक दोहा रखा है।[2]

श्री सेवक जी ने 'श्री हित भक्त-भजन-दशम प्रकरण' क्या कुंडलिया छंद में लिखा है। इस प्रकरण में २२ कुंडलिया छन्द हैं,[3] प्रथम ११ सिद्धान्त से सम्बन्धित हैं तथा अन्त के ११ रस से सम्बन्धित हैं। प्रियादास शुक्ल के 'प्रिया-रसिक विनोद'[4] में भी कुछ कुंडलिया छन्द का प्रयोग किया गया है।

रामकाव्य

इसके अन्तर्गत 'कुंडलिया रामायण' पूरा-का-पूरा ग्रन्थ कुंडलिया छन्द में मिलता है। इस ग्रन्थ में कुण्डलिया छन्द

१ श्री ध्रुवदास जी ब्यालीस लीला, भजन कुंडलिया लीला, पृ० ६४-६८

२ कुंडलिया हंस सुता तट विहरिवौ, करि वृन्दावनवास।
कुंज के लिए मृदु मधुरस, प्रेम विलास उपास ।।
प्रेम विलास उपास रहै इक रस मन माहीं।
तेहि सुख की सुख कहा कहौं, मेरी मति नाहीं ।।
हित ध्रुव यह रस अति सरस रसिकन कियौ प्रशंस ।।
मुक्तन छाड़ै चुगत नहि, मान सरोवर हंस ।।
दोहा-- रस भीज्यौ रस में फिरे, रस निधि जमुना तीर।
चिंतत रस में सने दोउ, स्यामल गौर शरीर ।।
--श्री ध्रुवदास जी ब्यालीस लीला, भजन कुंडलिया लीला, पृ० ६४

३ श्री हित सुधासागर श्री सेवक वाणी, पृ० २८१-२८८

४ 'प्रिया रसिक विनोद', पृष्ठ सं० ४

इतना सफल हुआ है कि छन्द के नाम पर ही इस ग्रन्थ का नाम `हितोपदेश उपाख्यान बावनी` प्रसिद्ध न होकर `कुंडलिया रामायण` ही प्रसिद्ध हुआ ।

तुलना और निष्कर्ष

दोनों धाराओं में कुंडलिया छंद का प्रयोग है, किन्तु इस छन्द को रामकाव्य में अपेक्षाकृत अधिक सफलता प्राप्त हुई है ।

६- छप्पय

कृष्ण काव्य

इस शाखा में छप्पय छन्द का प्रयोग स्तुति के लिए किया गया है ।[1] सेवक जी ने अपने गुरु श्री हित हरिवंश की स्तुति छप्पय छंद में की है ।[2] धर्माधर्म निरूपण के हेतु भी यह छंद प्रयोग में आया है ।[2] राधावल्लभी चतुर्भुजदास ने विमुख-मुख भंजन-यश की रचना छप्पय छंद में की है ।[3]

रामकाव्य

रामकाव्यान्तर्गत जिस प्रकार तुलसीदास ने तत्कालीन प्रचलित सभी छन्द पद्धतियों में सफल रचना की, उसी प्रकार वीर गाथाकालीन प्रसिद्ध वीर रसानुकूल छप्पय छंद का भी भावानुकूल सफल

---

१ श्री हित सुधासागर सेवक वाणी, पृ० २६२, २६६, ३११

२ ,, ,, पृ० २६६

३ `द्वादश यश, विमुख मुख भंजन यश`, पृ० ४८-५६

प्रयोग किया है । तुलसीदास ने 'कवितावली' में वीर रस के सृजन के लिए इस छन्द का सफल प्रयोग किया है[1] ।

तुलना और निष्कर्ष

दोनों धाराओं ने भिन्न-भिन्न भावों के लिए इसका प्रयोग किया गया है । रामकाव्य में इस छन्द का प्रयोग वीर रस की उद्भावना और सिद्धान्त-कथन के लिए किया गया है जिसमें सर्वाधिक सफलता वीर रस के प्रयोग में ही मिलती है । वास्तव में इस छन्द का प्रयोग वीररस के लिए परम्परा से चला आ रहा था, जिसका समुचित अनुसरण तुलसीदास ने किया किन्तु कृष्ण-कवियों ने इस छंद का प्रयोग वीर रस के लिए न करके स्तुति तथा सिद्धान्त कथन के लिए किया है ।

अन्य विचारणीय छन्द

अरिल्ल:-

१- कृष्ण-भक्ति शाखा में ध्रुवदास की 'मान लीला'[2] में एक स्थल पर इसका प्रयोग हुआ है, परन्तु अन्तिम चरण में मात्राएं बढ़ गई हैं ।

---

१ डिगति उर्वि अति गुर्वि, सर्व पब्बै समुद्र सर ।
ब्याल बधिर तेहि काल, विकल दिगपाल चराचर ।
दिग्गयन्द लरखरत, परत दसकंठ मुक्खभर ।
सुर-बिमान, हिम भानु, भानु संघटित परस्पर ।
चौंके बिरंचि संकर सहित, कोल कमठ अहि कल्मल्यौ ।
ब्रम्हांड खंड कियो चंड धुनि, जबहिं राम सिवधनु दल्यौ ।
--कवितावली-बालकाण्ड, पृ० ११, १२, छं०सं० ११

२ श्री ध्रुवदास की ब्यालीस लीला, मान लीला, पृ० २७१, पद संख्या २०

६- उपर्युक्त छन्दों के अतिरिक्त अन्य अनेक छन्दों का प्रयोग कृष्ण एवं राम दोनों धाराओं[1] में हुआ है, जिनमें मात्रिक छन्दों का ही आधिक्य है। बरवै और फुलना दो छन्द ऐसे थे जिनका प्रयोग दोनों शाखाओं में मिलता है। सार, सखी, वीर आदि छन्द भी साहित्य की दोनों धाराओं में प्रचलित थे, जिनका प्रयोग पदसाहित्य में अधिक हुआ है। रोला छन्द की सफलता कृष्ण साहित्य में ही है, जिसका सफल प्रमाण नन्ददास का साहित्य है।

सम्पूर्ण प्रकरण का निष्कर्ष

निष्कर्ष रूप में कहा जाय तो काव्यशैलियों की विविधता छन्द वैविध्य रामकाव्य में अधिक है, किन्तु छन्दों का नया प्रयोग तथा दो छन्दों को जोड़कर या मिश्रण करके नई छन्द-रचना करना तथा राग-रागिनियों की अतुल, अनन्त भंडार कृष्ण काव्य है। रामकाव्य काव्यशैलियों के लिए परम्परा का ऋणी है, जब कि कृष्ण काव्य परम्परा से प्रभावित होते हुए भी कुछ नवीनता की प्रेरणा देता है। जैसे सूरसागर गीति तथा आख्यान शैली से चित्रित नई काव्य प्रणाली है। रामकाव्य छन्दों के लिए छन्दशास्त्र के निकट है, जब कि कृष्ण काव्य छन्दशास्त्रीय नियमों की अपेक्षा संगीतशास्त्रीय राग-रागिनियों के अधिक निकट है।

पद शैली

पदों की प्रधान विशेषता भावों के आत्माभिव्यंजन और गेयता में निहित है। इसी आधार पर पदों को गीतिकाव्य की संज्ञा दी जाती है। आत्माभिव्यंजन का सम्बन्ध भावों

---

१ फुलना ७,७,७ एवं ५ के विश्राम से २६ मात्राएं।

की तीव्र अनुभूति से और गेयता का अन्त: सम्बन्ध संगीत की राग-रागनियों से होता है । अत:इस प्रकरण में भावों की तीव्रता और संगीतात्मकता पर भी विचार किया जायगा, किन्तु इसके पूर्व हम गीतिकाव्य की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर विहंगम दृष्टि डालने का प्रयास करेंगे ।

आलोच्यकाल के गीतिकाव्य की पृष्ठभूमि

गीति काव्य की परम्परा भक्ति युग के बहुत पूर्वकाल से चली आ रही है । हिन्दी भाषा पूर्वी और पश्चिमी दोनों ही प्रदेशों में गीतिकाव्य की शैली किसी न किसी रूप में अवश्य ही प्रचलित थी । हिन्दी निर्गुण -धारा के संतों की पद-शैली के आधारस्वरूप में बौद्धों की चर्यागीतियों को बताया जाता है तथा इन चर्यागीतों के पहले की कुछ गीतों की परम्परा का उल्लेख मिलता है[1] ।आधुनिक अधिकांश विद्वानों की मान्यता है कि मध्ययुगीन पद-शैली का आविर्भाव लोकगीतों का विकसित रूप है[2] ।लोकगीतों की परम्परा के साथ बंगाल के जयदेव एवं मिथिला के विद्यापति ने गीतों की सफल रचना की । ये गीत राधा-कृष्ण की मधुर लीलाओं से सम्बन्धित है । कृष्ण-कवियों ने जहां इनसे राधा-कृष्ण की लीलाएं ग्रहण कीं, वहीं इन लीलाओं की वर्णन शैली गीति प्रणाली भी ग्रहण किया । चैतन्य तथा उनके सम्प्रदाय के शिष्य, विद्यापति के गीतों को गा-गाकर भावविभोर हो जाते थे । सूरदास ने भी इनसे भाव और शैली दोनों ग्रहण किया । जयदेव के पद "मेघैर्मेदुरम्बरं वनभुव: श्यामास्त-मालद्रुमै:" के छायानुकरण -स्वरूप सूर का "गगन घहराइ जुरी घटा कारी" पद प्रस्तुत किया जाता है ।

---

१ आचार्य परशुराम चतुर्वेदी : "संतकाव्य", भूमिका, भाग, पृ०३२,३३ ।

२ डा० [illegible]वन पाण्डेय : "गीतिकाव्य", पृ०५

राम-भक्ति-शाखा में भी पद-शैली में तुलसीदास की तीन रचनाएं--`गीतावली`, `कृष्ण गीतावली` तथा `विनयपत्रिका` हैं। इस शाखा के पद-साहित्य पर ब्रजभाषा की पदशैली का प्रभाव स्वीकार किया जा सकता है।

आलोच्यकालीन कृष्ण तथा रामकाव्य में गीति साहित्य

मध्ययुग के ऐसे साहित्य को गीति काव्य की श्रेणी में रखा जाता है, जो पदों के रूप में प्राप्त है। यह पद साहित्य गेय है तथा राग-रागिनियों से सम्बद्ध है। यह पद साहित्य आलोच्यकालीन कृष्ण तथा राम दोनों काव्यों में प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होता है। कृष्ण काव्यान्तर्गत लगभग समस्त साहित्य पद शैली में लिखा गया है। अष्टछाप के नाम से प्रसिद्ध कवियों का समस्त साहित्य, मीरा की पदावली, हित हरिवंश जी तथा उनके सम्प्रदाय में लिखा अधिकांश साहित्य पदों में मिलता है, किन्तु इनमें मीरा के पद शुद्ध गीति काव्य की दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ हैं। इसी प्रकार रामकाव्य के अन्तर्गत तुलसी की तीन रचनाएं --`विनयपत्रिका`, `गीतावली` तथा `कृष्ण गीतावली` केवल पदों में लिखी गई हैं, जिनमें `विनय-पत्रिका` गीतिकाव्य में सर्वश्रेष्ठ है। यह समस्त पद-साहित्य किसी भी साहित्य के गीतिकाव्य के गौरव के लिए पर्याप्त से अधिक है। इस अगणित पद-साहित्य को हम स्थूल रूप में दो भेदों-- शैली तथा भाव के अन्तर्गत उनके प्रभेदों के साथ तुलनात्मक दृष्टि से विश्लेषण करेंगे --

शैली की दृष्टि से --

ये पद कृष्ण तथा राम दोनों साहित्यों में तीन रूपों में मिलते हैं -- स्फुटरूप में, भावात्मक अन्विति के रूप में, प्रबन्धबद्धता के रूप में।

स्फुट पद साहित्य

स्फुट पद साहित्य के अन्तर्गत वे पद रखे गये हैं, जो फुटकर रूप में अपने-आप में पूर्ण हैं। भाव की पूर्णता के लिए किसी अन्य पद की आवश्यकता नहीं है। ऐसे पदगेय भी हैं और पाठ्य भी हैं। ऐसा नहीं है कि पठन के क्षेत्र में इन पदों के रस में कोई अन्तर उपस्थित होता हो। इन पदों के आधार पर ही मुक्तक के दो भेद किए जाते हैं-- एक गेय मुक्तक है जो शुद्ध गीति काव्य कहा जाता है। दूसरे प्रकार का मुक्तक गेय के साथ-साथ पठन से भी सम्बन्धित है। मुक्तक काव्य के इन्हीं दोनों स्वरूपों को देखते हुए डा० गुलाबराय ने मुक्तक काव्य के पाठ्य और गेय दो भेद करते हुए लिखा है कि -- इन दोनों के बीच की रेखा बड़ी सूक्ष्म और अस्थिर है।[1] इन पदों को केवल गेयता के आधार पर ही गीतिकाव्य कहा जा सकता है। अन्यथा कहीं कहीं विषय की दृष्टि से ये मुक्तक की श्रेणी में रखे जा सकते हैं।

मध्ययुगीन कृष्ण तथा राम साहित्य में[2] स्फुट पद विनय सम्बन्धी[3] स्थलों में मिलते हैं। तुलसीदास की 'विनयपत्रिका' तथा सूरदास के 'सूरसागर' के अन्तर्गत संगृहीत विनय के स्थलों में इस शैली के दर्शन होते हैं। विनय के इन पदों में आपस में कोई निश्चित शृंखला नहीं है। एक भाव या विषय पर एक ही पद है। दूसरा पद दूसरे भाव को लेकर लिखा गया है। हर पद भगवान की दयालुता, भक्त की असमर्थता, दैन्य मन की चेतावनी, भगवान की शरणागति आदि अलग-अलग भावों को लेकर लिखागया है। विषय-परिवर्तन के साथ कहीं-कहीं छन्द-परिवर्तन भी

---

१ डा० गुलाबराय : 'काव्य के रूप', पृ० १२५

२ ऐसी मूढ़ता या मन की।
 परिहरि राम भगति सुर-सरिता, आस करत ओस कनकी।
 + + +
 कह लौं कहौं कुचाल कृपानिधि। जानत हौ गति जनकी।
 --वि०प०, पृ० १६० पद सं० ९०

३ रे मन निपट निलज अनीति
 जियत की कहि को चलावै मरत विषयनि प्रीति।--सूरसागर, प्र०सं०, पृ० २०५, पद ३२
 इसी प्रकार पद सं० ३११, ३१३

हुआ है ।

तुलना एवं निष्कर्ष

'विनय-पत्रिका' के प्रारम्भिक पद स्तोत्र शैली में है जो बहुत गम्भीर और उदात्त गुणों से पूर्ण है । इसी प्रकार 'सूरसागर' के विनय पद भी भक्त के सच्चे भाव को व्यक्त करते हैं, किन्तु तुलसी के ये पद दैन्य तथा आत्मसमर्पण से जितने पूर्ण हैं, सूर के उतने नहीं ।दूसरे तुलसी के पद काव्यशास्त्रीय अधिक हैं, जब कि सूर के पद संगीतशास्त्रीय । मीरा के पद इस दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ हैं, जिसकी समता कोई भी राम-कवि नहीं कर सकता है ।

भावात्मक अन्विति के पद या (भाव-निरन्तरता से सम्बन्धित पद)

इसमें भाव की निरन्तरता पदों में विद्यमान रहती है । एक ही भाव एक पद में नहीं, किन्तु अनेक पदों में एक ही साथ व्यक्त होता है, कारण स्पष्ट है कि कवि के अन्त:करण में उस भावविशेष की गहन अनुभूति कवि के हृदय को इतना व्याकुल कर देती है कि वह विशिष्ट भाव को एक ही पद में व्यक्त करने में सन्तुष्ट नहीं होता है । वरन् कई पदों में विभिन्न दृष्टिकोणों से उसी भाव को अभिव्यक्त करता चला जाता है । बार-बार आत्मोद्गार व्यक्त करने पर भी भक्त कवि को संतोष नहीं होता है, किन्तु ऐसे स्थलों पर भाव की पुनरावृत्ति भी नीरस नहीं प्रतीत होती है, वरन् एक अपूर्व आनन्द तथा नवीनता लिए रहती है । मध्यकालीन भक्त-कवियों की अनुभूति अन्विति की प्रवहमानता से पूर्ण इन्हीं पदों ने सम्भवत: श्री रामखेलावन पाण्डेय को प्रेरणा दी होगी, जिसके आधार पर उन्होंने गीतिकाव्य का यह लक्षण लिखा --'गीतिकाव्य अनुभूति की अन्विति उपस्थित करता है, ऐसी अवस्था में उसके पद अपने ही अन्य पदों की आकांक्षा अवश्य रखते हैं ।[1] क्योंकि उक्त ग्रन्थों के आधार

---

१ श्री रामखेलावन पाण्डेय : 'गीतिकाव्य', पृ०६

पर ही लक्षण ग्रन्थ बनते हैं ।

गीतिकाव्य के उपर्युक्त वर्णित लक्षणों को दृष्टि में रखकर जब हम आलोच्यकालीन कृष्ण एवं रामकाव्य का विश्लेषण करते हैं, तब हमें ~~तत्पर~~ प्रतीत होता है कि इस प्रकार के पद दोनों साहित्यों में प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं । पूर्व वर्णित स्फुट पद अति अल्प हैं किन्तु भावात्मक अनुभूति के पद पर्याप्त से भी अधिक हैं । ये पद भी तुलसी की विनयपत्रिका[1] तथा सूर[3] के प्रथम स्कन्ध के विनय[2] दैन्य, मन-प्रबोध उपदेश की महानता मीरा के विनय एवं माधुर्य[4] के स्थलों में मिलते हैं, जहां कवि अपनी भाव-विभोरता को शतशः कोणों से असंख्य पदों में व्यक्त करता है । वास्तव में ये ही पद गीति काव्य के तात्त्विक लक्षणों की कसौटी पर खरे उतरते हैं ।

तुलना एवं निष्कर्ष

उपर्युक्त कृष्ण एवं रामकाव्य में गीति पदों के अध्ययन से यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि कृष्ण काव्य में ऐसे गीति पदों की संख्या अगणित है । परिमाण की दृष्टि से रामकाव्य उसके समक्ष नगण्य है । रामकाव्य के अन्तर्गत मुख्यरूप से केवल

---

१ विनयपत्रिका, पद संख्या १८२,१८३,१८४ आदि

२ सूरसागर, पहला खंड, पृ०३५, पद सं०१०८,१०६,११० आदि

३ मीरा पदावली,पृ०१२० ,पद सं०६१,६२ आदि

४ मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई ।
  जाके सिर मोर मुकुट मेरो पति सोई ।।
  -- मीराबाई की पदावली,पृ०६

तुलसी की ही रचना, विशेषकर 'विनय-पत्रिका' में उक्त लक्षण मिलते हैं, जब कि समस्त कृष्ण काव्य ऐसे गीति पदों से आपूर्ण है। मीरा के गीति-पदों के समक्ष तो रामकाव्य क्या कृष्ण काव्य का भी कोई कवि नहीं ठहर सकता है। मीरा के गीति-पदों में जो तीव्र अनुभूति, जो आत्मोद्गार की सहज अभिव्यक्ति है, वह विश्व-गीति-साहित्य में भी सम्भव नहीं। परिमाण के अतिरिक्त गुणों में भी कृष्ण-काव्य के समक्ष रामकाव्य का गीति साहित्य साधारण है। जो अनुभूति का अतिरेक, जो भावों का घनीभूतत्व एवं संगीत की अपूर्व साधना कृष्ण गीति काव्य में मिलती है वह रामकाव्य में नहीं दृष्टिगत होती है। अतः संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि कृष्ण गीति काव्य के समक्ष रामकाव्य परिमाण की दृष्टि से बहुत ही अल्प नाममात्र को जिसकी तुलना की जा सके गुण की दृष्टि से भावों की तीव्रता के आधार पर कुछ तुलना करने योग्य किन्तु संगीत की दृष्टि से अत्यन्त साधारण है। इसका कारण कृष्ण-कवियों की इष्टदेव की लीलाओं का भजनों या कीर्तनों के माध्यम से गा-गाकर संगीत साधना करना है जो कि रामकाव्य में सम्भव नहीं था, इसी प्रकार के अन्य कारण काव्य-रूपों की भिन्नता के अन्तर्गत दिखाए जा चुके हैं।

गीतिकाव्य में प्रबन्ध बद्धता की शैली

इस शैली के अन्तर्गत कवि गीति काव्य के साथ साथ कथा के सूत्र को भी अन्तर्व्याप्त रखता है। भावमय स्थलों पर अवश्य वह कथा सापेक्षता का अतिक्रमण कर स्फुट पदों में अपने आत्मोद्गार व्यक्त करने लगता है।

इस शैली के दर्शन कृष्ण तथा रामकाव्य दोनों में होते हैं। रामकाव्य में तुलसी की रचना 'गीतावली' में राम की कथा शृंखलाबद्धरूप से पदों में वर्णित है। इसी प्रकार 'कृष्ण गीतावली' में

में कृष्ण की लीला पदों में प्रबन्ध-पद्धति के अनुसार लिखी गई हैं।

कृष्णकाव्य में कृष्ण की लीला के आधार पर जितना भी पद-साहित्य है, उसमें लीला-वर्णन प्रबन्ध कवि पद्धति के अनुसार ही मिलता है। सूरसागर में कृष्ण-लीलाओं का वर्णन निश्चित क्रम से है। कृष्ण जन्म से लेकर कृष्ण की शैशव, बाल्य, कैशोर्य यौवन आदि की तथा मथुरा-गमन आदि की समस्त लीलाएं निश्चितरूप से क्रमानुसार हैं। कहीं भी न तो क्रम विपर्यय है और न तो कथा की शृंखला टूटी है। यह अवश्य है कि भावमय स्थलों में कवि ने एक ही घटना या प्रसंग को लेकर कई पदों में अपने हृदय का उद्गार व्यक्त किया है। कवि ने समस्त लीलाओं का वर्णन राधा या गोपी भाव को स्वयं आत्मसात् करके उन लीलाओं के वास्तविक रस के आनन्दभोक्ता के रूप में किया है। कहीं-कहीं तो कवि ने स्वयं को उन लीलाओं में भाग लेने के लिए पहुंचाया है[1]। सूर के ढाढी के पद वस्तुतः इसी मनोवृत्ति के परिचायक हैं।

<u>तुलना एवं निष्कर्ष</u>

कृष्ण काव्य में कथा का सूत्र बहुत ही सूक्ष्मता से चलता है बल्कि गीति तत्व ने प्रबन्धात्मकता को दबाकर अपने में आत्मसात् कर लिया है, फिर भी स्थान-स्थान पर कथा की कड़ियां भावमय स्थलों के बीच-बीच जुड़ी हुई हैं, किन्तु रामकाव्य में कथा उभर कर स्पष्टरूप से सामने आ गई है। इसका मुख्य कारण यह है कि समस्त कृष्ण साहित्य लीलारूप में है, जब कि रामकाव्य कथा के रूप में।

---

१ नन्द जू मेरे मन आनन्द भयो हौं गोवर्धन तें आयो ।
तुम्हरे पुत्र भयो मैं सुनिके अति आतुर उठि धायो ।
\+ + +
जब तुम मदन मोहन करि टेरौ इहि सुनिके घर जाउं ।
हौं तो तेरो घर को ढाढी सूरदास मेरो नाउं ॥

भावों की तीव्रता की दृष्टि से —

जो भी साहित्य आलोच्यकाल में पदों के रूप में रचित है, उसका मूलभाव भक्ति है । भक्ति-भावना की तीव्र अनुभूति से जिस काव्य का सृजन भक्त-कवियों ने किया उसने मानों गेय पदों का रूप स्वतः धारण कर लिया । अन्य विषयों में स्वरूप के लिए साहित्य की अन्य विधाएं कृष्ण तथा रामकाव्य दोनों में स्वीकृत हुईं, किन्तु शुद्ध भक्ति-भाव के लिए, इष्टदेव के प्रति अनन्य विश्वास, इष्टदेव की व्याकुलता तथा सहज करुणा, सर्व कल्याणकारी, भक्तों का उद्धार करना आदि भावनाएं पदों में व्यक्त हुईं; ये पद उपदेशात्मक न होकर कवि के भावातिरेक, उसकी वैयक्तिक, अनुभूति के द्योतक हैं जो सहज उद्गार के रूप में अनायास ही फूट पड़े हैं । अब हम इन भावों के आधार पर कृष्ण तथा रामकवियों की भावानुभूति की गम्भीरता का मूल्यांकन करेंगे ।

दैन्य : कृष्ण काव्य

कृष्ण-भक्ति-शाखा के कवियों ने अनेक पदों में भगवान कृष्ण के समक्ष अपनी असमर्थता तथा दीन भाव को बड़ी ही तन्मयता से प्रकट किया है । माधुर्यभाव की उपासिका मीरा भी ईश्वर की स्तुति करते हुए अत्यन्त दीनता से कहती हैं कि मीरा दासी है, गिरधर लाल ही उसके स्वामी हैं, गिरिधरलाल मेरी विपत्ति का हरण करो[१] । एक अन्य पद में मीरा कहती हैं-- हरि हो मेरे

---

१ हरि थे हर्या जन की भीर ।।
दासी मीरा लाल गिरिधर, हरा म्हारा भीर ।।
--मीराबाई पदावली, पृ०१२० पद ६१

रक्षक हैं मैं उनकी दासी हूं, उनके बिना मेरी क्या गति होगी[1]। सूरदास भी इसी प्रकार दैन्य से कहते हैं[2] कि हे प्रभु मैं विनती करते हुए लज्जा से मरा जाता हूं। सिर से पैर तक मेरा यह शरीर पाप का जहाज है[3]। मैं मोह-जाल में उलझ गया हूं। भगवान मेरा उद्धार कर दीजिए[4]। मैं बहुत बड़ा नीच हूं। कभी भी आपके काम नहीं आया। आप ब्रज राज हैं मुझे इस भवसागर से पार कर दीजिए। आप सदैव गरीबों और पापियों का उद्धार करते आए हैं[5]। हे नाथ। दीन पर कृपा करो, संसार से भयभीत मेरी रक्षा कीजिए[6]। मैं अत्यन्त कुटिल, सदैव विषयों के साथ रहने वाला हूं। नाथ मेरी गति कीजिए[7]। तुम सब के अन्तर्यामी हो। हे करुणामय आपसे कुछ भी छिपा नहीं है। मेरे समान दुष्ट और कामी कोई दूसरा नहीं है और आपके समान दुष्टों का उद्धार करने वाला कोई अन्य नहीं है। हे भगवान आपको छोड़कर अपनी विनती मैं किससे करूं? कौन है जो मेरी दीनविनती सुनेगा[8]।

रामकाव्य

रामकाव्य में रामभक्ति से आप्लावित कवि तुलसी ही हैं। तुलसी तो दास्य और दैन्य भाव के साक्षात् अवतार हैं। अपने इष्टदेव राम के समक्ष तुलसी सदैव दैन्य से अवनत हैं। वे कहते हैं, मेरे

---

१ हरि बिन कूण गति मेरी।

तुम मेरे प्रतिपाल कहिये, मैं रावरी चेरी। --मीराबाई पदावली, पद सं० ६२

२ सूरसागर प्र-सं०, पृ०३० पद सं०९६
३ ,, ,, ,३१ ,, ९७
४ ,, ,, ,, ९९
५ कीजै प्रभु अपने बिरद की लाज।
महा पतित कबहूं नहिं आयौ, नैकुं तिहारे काज।
कई न जात केवट उतराई, चाहत चढ़्यौ जहाज।
लीजै पार उतारि सूर कौं महाराज ब्रजराज।
नई न करन कहत प्रभु, तुम्ही सदा गरीब निवाज।--सू०सा०, प्र०सं०पृ०३५, पद१०८
६ नाथ सारंग धर कृपा करि दीन पर, डरत भव त्रास ते राखि लीजै।,, पृ०३९पद१२०
७ कौन गति करिहौ मेरी नाथ। --सूरसा०
हौं तो कुटिल, कुचील, कुदरसन, रहत विषय के साथ।--सू०सा०, पृ०४१ पद१२५
८ मो सम कौन कुटिल खल कामी।--सूरसा०
तुम सौं कहा छिपी करुनामय सब के अन्तरजामी। सू०सा०, पृ०४९पद१४८
[illegible]

कर्म, स्वभाव आदि सब बहुत ही निम्नकोटि के हैं । मैं भक्ति-पद्धति भी नहीं जानता हूं । अपने दुर्गुणों के कारण आपको प्रसन्न करने के योग्य नहीं हूं । अपनी यह असमर्थता मैं आपके सामने रख रहा हूं । मेरे स्वामी, मैं दीन होकर आपकी कृपा का ही मार्ग सदैव देखता रहता हूं । हे करुणा-सागर मैं समझ नहीं पा रहा हूं कि आपकी कृपा कब मुझ पर होगी ।

मन की मूढ़ता तथा भगवत्-प्रेम : कृष्ण काव्य

कृष्ण-काव्य में मन की अस्थिरता की ओर आकृष्ट करते हुए उल्लेख है कि मन ऐसा मूढ़ है कि वह सांसारिक विषय-लोभ के अस्थायी सुख को अपना लक्ष्य समझ लेता है और भगवान् के चरणों को [छोड़कर] सांसारिक विषय-वासनाओं की ओर ही दौड़ता है । कृष्ण-भक्त सूरदास इसी प्रकार अपना असन्तोष प्रकट करते हैं कि यह मन निपट निर्लज्ज है, अनीति में व्यस्त रहता है । सांसारिक विषय-वासनाओं के लिए लालायित रहता है ।[३] कवि मन को प्रबोध देते हुए कहता है कि अरे मन विषयों को छोड़कर राम से प्रेम करो ।[४] कृष्ण का नाम लेने में तुम्हारी क्या हानि है ।[५]

(पूर्व पृष्ठ की टिप्पणी सं०६)
६- कौन सुने यह बात हमारी ।

समरथ और देखौं तुम बिन कासौं बिथा कहौ बनवारी ।

--सू०सा०,पृ०५३,पद सं०१६०

---

१ विनयपत्रिका,पृ०२६३,पद सं०१८२

२ ,, पृ०३५५,पद सं० २२१

३ रे मन, निपट निलज्ज अनीति ।

जियत की कहि को चलावै, मरत विषयनि प्रीति ।

--सू०सा०,पृ०१०५,पद सं०३२१

४ रे मन रामसों करि हेत । --सू०सा०प्र०सं०,पृ०१०२,पद सं०३११

५ तिहारो कृष्ण कहत कह जात -- ,, ,, १०३ ,, ३१३

इसी प्रकार मीरा मन को शिक्षा देते हुए कहती हैं कि हे मन! काम क्रोध मद, लोभ, मोह को छोड़कर रामनाम के रस का पान करो[1]। जिस समय मन 'सांवरों' के नाम का स्मरण कर लेता है उस समय उसके करोड़ों पाप दूर हो जाते हैं[2]।

रामकाव्य

राम काव्यान्तर्गत भी उपर्युक्त प्रकार से वर्णित मन के मूढ़ स्वभाव तथा उसकी विषयों में संलग्नता एवं भगवद् प्रेम से अरुचि आदि से सम्बन्धित पद पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं। तुलसीदास एक स्थल पर कहते हैं कि राम-भक्ति की देवगंगा छोड़कर ओसकणों की आशा में मन लगा रहता है। इसमें इतनी बुराइयां हैं कि जिनका वर्णन नहीं किया जा सकता है[3]। कृपा-निधि आप मेरे मन की गति को जानते हैं कि यह कितना दुष्ट है।

----

1 राम नाम रस पीजै मनुआ, रामनाम रस पीजै।
तज कुसंग सत संग बैठि नित हरि चरचा सुण लीजै।।
काम क्रोध मद लोभ मोह कूं, बहा चित से दीजै ।।(मीराबाई की पदावली
पृ० १५०, पदसं० १९९

2 म्हारो मन सांवरो णाम रट्यारी ।।
सांवरो णाम जपा जग प्राणी, कोट्यां पाप कट्यारी ।।
--मीराबाई की पदावली, पृ० १५०, पद सं० २००

3 ऐसी मूढ़ता या मन की।
परिहरि राम भगति सुर-सरिता, आस करत ओसकन की।
+ + +
मंह लौं कहौं कुचाल कृपानिधि। जानत हौं गति जन की ।।
--वि०प०, पृ० १५०, पद ९० ।

भगवान की अहेतुकी कृपा : (रामकाव्य)

भगवान इतने कृपालु हैं कि महान मूर्ख, निर्धनी, गुणहीन भक्त का शरण में आते ही उद्धार कर देते हैं । उनके लिए भक्त में केवल प्रेम की आवश्यकता है अन्य बाह्य विधि-विधानों की नहीं । तुलसीदास कहते हैं कि हे भगवान तुम्हारे समान दीनों को चाहने वाला दयालु दूसरा कोई नहीं, इसीलिए मैं आपकी शरण में आया हूं[1] ।

कृष्णकाव्य

इसी प्रकार कृष्ण-कवि सूरदास ने भी एक स्थल पर भगवान की भक्त-वत्सलता का वर्णन किया है । भगवान इतने भक्त-वत्सल हैं कि अपने भक्तों की उद्दण्डता भी सहन कर लेते हैं[2] । इसी बात को अच्छी तरह मन में समझकर सूरदास ऐसा[3] कुटिल जीव भी भव-भार से दुखी होकर ईश्वर की शरण में आता है । कोई भी ईश्वर की शरण में चला जाय, उसका उद्धार भगवान अवश्य करेंगे । शरण में गए हुए किस किसको उन्होंने नहीं उबारा[4]? जब भी किसी भक्त पर आपत्ति आई, भगवान ने अपना सुदर्शन चक्र संभाला । भक्तों की भलाई के लिए भगवान ने क्या नहीं किया ।

---

१ ताहि तें आयो सरन सबेरे ।
+ +
तुम सम दीन कृपालु परमहित पुनि न पाइहौं हेरे ।
--विनयपत्रिका, पृ० ३००, ३०१, पद सं० १८७

२ बासुदेव की बड़ी बड़ाई ।
जगत पिता, जगदीस जगतगुरु निज भक्तनि की सहत ढिठाई ।
--सू०सा०, पहला खंड, पृ० १, पद सं० ३

३ यहै जिय जानि कै अंध, भव त्रास तैं, सूर कामी कुटिल सरन आयौ ।
--सूरसागर, पहला खंड, पृ० २ पद सं० ५

४ सरन गए को को न उबार्‌यौ ।
जब जब भीर परी संतनि कौं, चक्र सुदर्सन तहां सम्भार्‌यौ ।
--सू०सा०, प्र०खं०, पृ० ५, पद १४

राजा परीक्षित, अंबरीष, बलि आदि का उद्धार किया[1]।

तुलना और निष्कर्ष

इस प्रकार हम देखते हैं कि अनेक पदों में कृष्ण एवं रामकवियों ने ईश्वर की दयालुता, भक्त वत्सलता व पतित पावन स्वभाव का वर्णन विस्तार से करके अपने मन के दुर्गुणों का उल्लेख किया है और अन्त में मन को प्रबोध दिया है कि भगवान की शरणागति ही मन की अंतिम कामना होनी चाहिए।

भक्त की भगवान से होड़

एक ओर कृष्ण एवं राम दोनों धाराओं के कवि अपने इष्टदेव के समक्ष अति दीन हैं, कोटि अंधों के समूह हैं, अत्यन्तहीन हैं, भवत्रास से पीड़ित हैं, परन्तु दूसरी ओर ऐसे पद मिलते हैं जिनमें भक्तों की भगवान के समक्ष ढीठता के उदाहरण मिलते हैं। भक्त भगवान से होड़ लगाने का साहस करता है।

कृष्ण काव्य

कृष्ण काव्यान्तर्गत सूरदास भगवान के समक्ष अत्यन्त उद्दण्डतापूर्वक प्रस्तुत होते हैं। वे कृष्ण के साथी की भांति बराबरी की होड़ लगाते हुए कहते हैं कि मेरी तरह मूढ़ गंभीर बड़ा पतित तुम्हें भला कहां उद्धार करने के लिए मिलेगा। मेरी मुक्ति के लिए आपको बहुत श्रम करना पड़ेगा। यहां तक कि आपको श्रमातिरेक के कारण पसीना भी आ जायगा[2]। यदि आप श्रम करने का इतना साहस कर

---

१ भक्तनि हित तुम कहा न कियौ?
गर्भ परीच्छित रच्छा कीन्हौं, अंबरीष व्रत राखि लियौ।
+ + +
सूरदास प्रभु भक्त बछल हरि, बलि द्वारे दरबान भयौ॥ --सू०सा०, प्र०खं०, पृ०८, पद २६

२ मोहिं प्रभु तुमसौं होड़ परी।
अधम समूह उधारन कारन, तुम जिय जक पकरी।
मोकौं मुक्ति बिचारत हौ, प्रभु पचिहौ पहर घरी।
श्रम तैं तुम्हें पसीना ऐहैं, कत यह टेक करी॥ --सू०सा०, प्र०खं०, पद सं० १५७, पृ० ४३

कर सकते हैं तभी मेरा उद्धार सम्भव है[1] । मैं अच्छी तरह जानता हूं कि तुमने मेरे जैसे पापी का आज तक उद्धार नहीं किया है[2] । मैं तो सात पीढ़ियों का पतित हूं । अब तो मैं अपना असली रूप प्रकट करके तुमको विरद-रहित करके ही छोड़ूंगा । तुम क्यों अपना पतित-पावन उधारन का विरवास नष्ट करना चाहते हो[3] । मैं तभी उठूंगा जब तुम हंस कर बांह दोगे, मुझे अपनाने का वचन दोगे । जो कुछ तुम्हें करना हो, संकोच त्याग कर कह दो । संकोच करने की कोई आवश्यकता नहीं है । यदि तुम मेरा उद्धार न
या तो हार मान लो या अपने विरद के अनुसार मेरा उद्धार करो ।[5]
कर सको तो किसी अन्य को बताओ ।[4] अनन्य प्रेम-साधिका मीरा को भी वियोग की चरम विह्वलता सूर की तरह प्रगल्भ बना देती है और वे उपालम्भ में कृष्ण के लिए `निरमोहिया`[6] अथवा `धुतारा जोगी` जैसे शब्दों का भी प्रयोग कर डालती हैं ।

<u>रामकाव्य</u>

इसी प्रकार के भक्त के हठ व ढीठ व्यवहार तथा भगवान से होड़ लगाने के उदाहरण रामकाव्य में भी मिलते हैं । भक्त का यह हठ है कि वह प्रभु का ही है, जैसा भी अच्छा बुरा है केवल राम का ही है[7] । तुलसीदास का कथन है कि जब तक राम मुझे अपनाकर यह न कहेंगे कि `तू मेरा` है तब तक मैं उनका द्वार नहीं छोडूंगा[8] । आपने अपना

---

१ नाथ सको तौ मोहि उधारौ । --सू०सा०,प्र०सं०,पद सं०१३१

२ तुम कब मोसौ पतित उधार्यो ।
काहे कौ विरद बुलावत, बिन मसकत कौ तार्यौ । ,, ,, पृ०४४पद१३२

३ आजु हौं एक एक करि टरिहौं ।
कै तुमहीं, कै हमही माधौ, अपने भरोसे लरिहौं ।
हौं तो पतित सात पीढ़िनि कौ पतितै ह्वै निस्तरिहौं ।
अबहौ उघरि नच्यौ चाहत हौं, तुम्हें विरद बिन करिहौं ।।
कत अपनी परतीति नसावत मैं पायौ हरि हीरा ।
सूर पतित तबहीं उठि है प्रभु जब हंसि दैहौ बीरा ।
--सू० सा०,प्र०सं०,पृ०४५,पद १३४

शेष आगे पृष्ठ पर)

लिया है, यह तभी समझूँगा जब मन विषयों की प्रीति छोड़कर आपकी भक्ति में संलग्न हो जायगा[1]।

तुलना और निष्कर्ष

इस प्रकार दोनों धाराओं के कवियों ने प्रभु से अपने उद्धार के लिए होड़ की है, किन्तु भगवान के सामने इस प्रकार की बराबरी का कारण इन कवियों की अनन्य भक्ति ही थी। ऐसे पद कृष्ण काव्य में राम काव्य की अपेक्षा अधिक हैं, क्योंकि कृष्ण-कवियों में सख्यभाव की भक्ति दास्य भाव से श्रेष्ठ मानी जाती थी। कृष्ण भक्त का उद्देश्य था-- सखा या सखी के रूप में कृष्ण की रास लीला में प्रवेश पाना। रामकाव्य के समक्ष इस प्रकार की धार्मिक मान्यता नहीं थी। राम कवियों ने केवल दैन्य के भावातिरेक में इस प्रकार के पद कहे हैं।

(पूर्व पृष्ठ की अवशिष्ट टिप्पणी सं० ४,५,६,७,८)

४ मोसों बात सकुच तजि कहिये।
    कत ब्रीड़त कोउ और बतावौ, ताही के ह्वै रहिये। --सू०सा०,पृ०४५पद१३

५ कै प्रभु हारि मानि कै बैठौ, कै करौ बिरद सही। -- ,, पद १३७

६ मीरा की पदावली, पृ०२६

७ खोटो खरो रावरो हौं, रावरी सौं, रावरे सों झूठ क्यों कहौंगो।
जानौ सबही के मन की।
करम बचन हिए, कहौं न कपट किए, ऐसी हठ जैसी गाँठि पानी परे सन की।
--वि०प०,पृ०१४२ पद सं०७५

८ पन करि हौं हठि आजु तें, राम द्वार पर्यो हौं।
तू मेरो यह बिनु कहे, उठिहौं न जनम भरि प्रभु की सौं करि निबर्यो हौं।
(दै दै धक्का जमभट थके टारे न टर्यो हौं)
उदर दुसह सांसति सही बहुबार जनमि जग, नरक निदरि निकर्यो हौं।
हौं मचला लै छाड़िहौं जेहि लागि अर्यो हौं।
तुम दयालु बनिहै दिये, बलि, बिलंब न कीजिए, जात गलानि गर्यो हौं।
प्रगट कहत जो सकुचिए, अपराध भर्यो हौं।
तौ मन में अपनाइए, तुलसिहिं कृपा करि कलि बिलोकि हहर्यो हौं॥

नाम माहात्म्य(नाम-महिमा से सम्बन्धित पद)

कृष्ण और राम दोनों काव्य-धाराओं में इष्टदेव की नाम-महिमा का प्रभाव प्रदर्शित करने वाला विपुल पद-साहित्य प्राप्त होता है । इसमें भगवान का नाम ही इस संसार में सब कुछ है, नाम-स्मरण मात्र से बड़े से बड़े दुष्ट का उद्धार हो जाता है, नाम स्वयं भगवान से भी अधिक प्रभावशाली है और भक्तों के लिए जपनीय है ।इसप्रकार भगवान के रूप और गुण के साथ-साथ नाम के प्रभाव से सम्बन्धित अनेक पद कृष्ण एवं रामकाव्य में प्राप्त होते हैं[1] । इन पदों में मात्र नाम-महिमा का कथन ही नहीं है,वरन् भक्तों ने स्वयं इस नाम की साकार-ब्रह्म के रूप में अनुभूति भी की है । इसीलिए नाम को लेकर कवियों की सहज एवं सरल भावनाएं भाव-विह्वल होकर पदों के रूप में फूट पड़ी हैं । नाम-वर्णन के साथ ही भगवान के रूप तथा गुण वर्णन के भी पद दोनों साहित्यों में मिलते हैं, किन्तु कृष्ण-साहित्य में रूप-वर्णन के और राम-साहित्य[2] में गुण-वर्णन के पद अधिक मिलते हैं ।

(पूर्व पृष्ठ की टिप्पणी सं०१)
तुम अपनायो तब जानि हौं,जब मन फिरि परिहैं,
जेहि सुभाव विषयनि लग्यो, तेहि सहज नाथ सौं नेह छाड़ि छल करिहौं ।
—वि०प०,पृ०४२१,पदसं०२६८

१(अ) अद्भुत राम नाम के अंक,--सू०सा०,प्र०सं०,पृ०२६,पद ६०
(ब) को को न तर्यो हरि नाम लिये । ,, ,, ,, ८६
(स) इसी प्रकार सूरसागर पहला खंड,पृ०१०६

२(अ) विनयपत्रिका,पृ०२०७,पद सं०१२६
(ब) ,, ,, १३५ ,, ६६
(स) ,, ,, २५८ ,, १५६

माधुर्य भाव से सम्बन्धित पद : कृष्ण काव्य

तुलनात्मक दृष्टि से दोनों धाराओं के पद साहित्य में शृंगार सम्बन्धी पद भी ध्यान आकृष्ट करते हैं । कृष्ण भक्ति शाखा का शृंगार रस का साहित्य स्वतन्त्र अध्ययन का विषय है । विपुल पद साहित्य की रचना कृष्ण-भक्तों ने माधुर्य भाव को लेकर की है । शृंगार के केवल संयोग पक्ष को लेकर हित-हरिवंश और उनके सम्प्रदाय के अन्य कवियों ने अत्यधिक पद साहित्य की रचना की । माधुर्य भाव के संयोग के साथ वियोग के भी भाव को लेकर अष्टछाप के कवियों ने अनेक पदों का सृजन किया । 'सूरसागर' के दशम स्कन्ध में अधिकांश पद शृंगार के दोनों पक्षों --संयोग और वियोग को लेकर लिखे गए हैं । मीरा का समस्त पद-साहित्य माधुर्य काव्य का साक्षात् प्रमाण है । स्त्री होने के कारण मीरा के पदों में माधुर्य की सरलता स्वाभाविक रूप में प्रवहमान है ।

ख रामकाव्य

राम-भक्ति-शाखा में शृंगार सम्बन्धी पद परिमाण और गुण दोनों में कम है । इसका कारण रामकवियों पर मर्यादा और नैतिकता का अंकुश है । रामकवियों का एक वर्ग अवश्य ही माधुर्य भाव का उपासक है, जिसके प्रवर्तक अग्रदास,नाभादास आदि हैं, किन्तु इन कवियों में भी माधुर्य भाव के पदों की प्रचुरता नहीं है ।

तुलना और निष्कर्ष

इस क्षेत्र में कृष्ण काव्य इतना विपुल है कि वह स्वतन्त्र अध्ययन का विषय हो सकता है । रामकाव्य इसकी तुलना में परिमाण और गुण दोनों दृष्टियों से नगण्य है । जो कुछ रामकाव्य में शृंगार -रचना है भी वह कृष्णकाव्य के प्रभाव से है ।

संगीतात्मकता, राग और टेक

टेक-- 'टेक' एक स्थायी गेय पंक्ति अथवा पंक्ति समूह के रूप में मिलता है । मध्यकाल में पदों के प्रयोग में इस 'टेक' का विशेष महत्व रहा है, क्योंकि इसी के द्वारा छंद में मनोरम गेयता उत्पन्न की जाती थी एवं इसी के द्वारा संगीत साधना का सुन्दर कला प्रदर्शित की जाती थी । मध्यकाल में इस टेक के विभिन्न नाम दोनों धाराओं में मिलते हैं । आन्तराई[1] टेक,[2] टेर,[3] ध्रुव[4] के ये नाम अधिकतर पदों में हैं । वैसे तो मध्यकाल में 'पद' शब्द एक निश्चित स्वरूप की रचना के लिए आया है, जिनमें अधिकतर टेक का होना आवश्यक है, क्योंकि गेयता पद का सर्वमान्य और सर्वव्यापक उपादान स्वीकृत था । जैसा कि मध्यकालीन समस्त पद-साहित्य से ज्ञात होता है किन्तु कुछ पद ऐसे भी हैं, जिनमें टेक नहीं है । संगीतशास्त्री सूरदास ने भी टेक रहित पदों की अल्प मात्रा में रचना की है लेकिन अधिकतर पद-साहित्य टेक युक्त है । टेक युक्त पदों में टेक के विभिन्न रूप मिलते हैं ।

दोनों धाराओं में टेक के लिए कोई निश्चित नियम नहीं है । कुछ टेक अत्यन्त लम्बी है कुछ अत्यन्त छोटी और कहीं-कहीं दो पंक्तियों की भी टेक है । अत्यन्त छोटी एक शब्द की टेक विनयपत्रिका में

----

१ प्रिया रसिक विनोद-प्रियादास शुक्ल, पृ० ६१, पद सं० १, पृ० ८२, पद १६-१८

२ 'टेक' शब्द सबसे अधिक प्रयुक्त है । इस शब्द का प्रयोग कृष्ण एवं राम दोनों काव्यों में समान रूप से हुआ है । तुलसी की 'विनयपत्रिका' एवं सूर के 'सूरसागर' में इसका विशेष प्रयोग है ।

३ 'टेर' शब्द का प्रयोग मीरा के पदों में है ।

४ 'ध्रुव' का प्रयोग 'सूर सागर' में मिलता है ।

मिलती है[1]। एक पंक्ति की छोटी टेक का प्रयोग व्यवहार कृष्ण एवं राम दोनों काव्यों में अधिक उपलब्ध होता है । कुछ पद इस प्रकार के भी हैं, जिनमें टेक आरम्भ में नहीं दी गई है, बीच में या अन्त में । कुछ पदों में प्रत्येक पंक्ति के साथ टेक है, किन्तु अधिकतर टेक कृष्ण एवं राम दोनों काव्यों में आरम्भ में एक पंक्ति की छोटी टेक के रूप में ही प्रयुक्त है[2]।

तुलना और निष्कर्ष

इस प्रकार टेक सम्बन्धी उपर्युक्त तथ्य दोनों धाराओं के पदों में प्राय: सर्वत्र मिलते हैं किन्तु कृष्ण काव्य में इसका निश्चितरूप से अनिवार्य प्रयोग उपलब्ध है, जिसमें कृष्ण कवि पूर्ण सफल हैं और रामकवियों से कई गुना अधिक श्रेष्ठ हैं । वास्तव में कृष्ण काव्य संगीत-साधना का ही सफल परिणाम है ।

पद-साहित्य में प्रयुक्त छन्द

हिन्दी-पद-साहित्य भक्तियुग की विशिष्ट देन है, जो हर दृष्टि से पर्याप्त सम्पन्न है । विषय, भाव, धर्म, संगीत-साधना और लय आदि के साथ-साथ काव्य-कौशल से भी यह भक्तिपरक पद-साहित्य पूर्ण है । पदों की विभिन्न रूपों में के अन्तर्गत अनेक छन्दों के साथ-साथ छन्दों के भांति-भांति के नए प्रयोग भी छिपे हुए हैं । काल की

---

१ ज्याति देव इस प्रकार के एक शब्द की टेक विनयपत्रिका के अनेक पदों में मिलती है । --विनयपत्रिका, पृ०६५, पद सं०३८ `क्यों`

२ (अ) सूरसागर के पद

(ब) विनयपत्रिका के पद

दृष्टि से कृष्ण काव्य का आरम्भ रामकाव्य से पूर्व है । अतः पद-साहित्य की दृष्टि से कृष्ण काव्य का प्रभाव राम काव्य पर सम्भव है, वास्यम्भावी नहीं । हम अब समपद-साहित्य में प्रयुक्त मुख्य छन्दों का तुलनात्मक दृष्टि से अध्ययन करेंगे --

सार

इस छन्द का प्रयोग कृष्ण एवं राम दोनों साहित्यिक धाराओं में मिलता है । मात्रा का विधान १६,१२ के विश्राम से २८ मात्राओं का स्वीकृत विधान ही मध्यकालीन कवियों को मान्य है, अन्त में दो गुरु का भी होना आवश्यक है ।

कृष्णकाव्य

इस शाखा के अनेक कवियों ने इस छंदका प्रयोग किया है । सूरदास ने 'सारावली' की सम्पूर्ण रचना कुछ पंक्तियों को छोड़कर सार और सरसी छंद में ही की है । इसके अतिरिक्त नन्ददास, कृष्णदास, श्री भट्ट, स्वामी हरिदास, स्वामी हितहरिवंश, छीत स्वामी[1] एवं मीरा के पदों में यत्र-तत्र सार छंदके उदाहरण मिल जाते हैं ।

रामकाव्य

इस काव्य के अन्तर्गत केवल तुलसीदास ने सार छन्द का प्रयोग 'गीतावली', 'कृष्ण गीतावली' तथा 'विनयपत्रिका'[2] के पदों में यत्र-तत्र किया है । केवल एक उदाहरण पर्याप्त होगा ।

---

१ जबते स्याम सरन हौं पायो ।

तबते भेंट भई श्री वल्लभ निज पति नाम बतायौ ।
और अविद्या छांड़ि मलिन मति श्रुति पथ आइ छटायौ ।

\+ \+

मन कैसे के रहत रात्यौ ।
जिहिं मधुकर हूवै, गिरिधर पिय की बदन कमलरस चाख्यौ ।
सु बहुत बे कीन्हीं गुलाब सुं ताही की सो राख्यौ ।
--श्रीकृष्णदास: कृष्णमाधुरी सार, पृ०१८१-१८२ (शेष अगले पृष्ठ पर)

वीर, लावनी

इन दोनों छन्दों का प्रयोग कृष्ण एवं राम दोनों काव्य-धाराओं में उत्साह को प्रकट करने के लिए भावानुकूल स्वीकार किया गया है । १६ और १५ मात्राओं की यति से ३१ मात्राओं से युक्त वीर छन्द का प्रयोग दोनों शाखाओं में किया गया है । अन्त में गुरु लघु का प्रयोग है । १६ और १४ की यति से ३० मात्राओं के लावनी छंद का प्रयोग भी दोनों धाराओं में स्वीकृत है ।

कृष्ण काव्य

इस शाखा के अन्तर्गत अष्टछाप के कवि चतुर्भुजदास ने वीर छंद का प्रयोग पदों के अन्तर्गत किया है[1] । ध्रुवदास[2], सूरदास[3] ने भी इस छंद का प्रयोग आवेग और उत्साह के लिए किया है । नन्ददास ने एक पंक्ति 'सार' की और एक पंक्ति 'वीर' की रखकर नवीन छन्द-प्रणाली का आविष्कार किया है[4] ।

(पूर्व अवशिष्ट टिप्पणी सं० २)

२ सैलि सैल सुलेलनि हारे ।

उतरि उतरि, जुकुमारि, तुरंगनि, सादर जाइ जोहारे ।

बन्धु सखा सेवक सराहिं , सनमानि सनेह संभारे ॥

—गीतावली, पृ०८६, पद सं०५६

---

१ चतुर्भुजदास (अष्टछाप) पृ०८५ पद १४१

२ ध्रुवदास— पद्मावली, पृ०१ पद सं०१

३ सूरसागर, पृ०६८२

४ रामकृष्ण कहिये उठि भोरा ।

अवध ईस वे धनुष धरे हैं, यह ब्रज माखन चोर । सार

उनके छत्र चंवर सिंहासन, भरत शत्रुघन लछमन प्यारे ।वीर

—नन्ददास, पृ०४२८

रामकाव्य

इसके अन्तर्गत तुलसीदास ने वीर छंद का प्रयोग 'विनय-पत्रिका' के निम्न पद में किया है[1]।

दोहा-- टेक के बाद पदों में दोहा छन्द का प्रयोग कृष्णकाव्य एवं राम काव्य दोनों में पर्याप्त मिलता है। कहीं-कहीं बीच में या अन्त में दो मात्राओं का नया प्रयोग इस छन्द को एक नवीनता प्रदान करता है। कृष्ण-भक्ति शाखा में दोहा छंद को लेकर पदों के अन्तर्गत नए प्रयोग किए गए हैं। नन्ददास और सूरदास ने दोहा, रोला को मिलाकर एक नवीन[2] विस्तृत पद रचना की है। 'सूरसागर' से एक उदाहरण पर्याप्त होगा। सूरदास[3] ने दोहे के प्रत्येक चरण में कुछ शब्द जोड़कर एक नया प्रयोग किया है।

रामकाव्य के अन्तर्गत तुलसीदास ने भी दोहा छंद पदों के अन्तर्गत प्रयुक्त किया[4] है। किसी-किसी पद में बिना टेक के दोहा का प्रयोग किया गया है। किसी-किसी छंद प्रणाली में

---

१ जो जांचिये संभु   बान।
दीन दयालु,भगत आरति हर, सब प्रकार समरथ भगवान।
कालकूट, ज   ,   सुरासुर निफल लागि किए विषपान।
--विनयपत्रिका,पृ०१४ पद ३

२ तब पठयौ कृष्णदूत,सुनी नारद मुसकानी।
बार बार रिषि काज, कंस अस्तुति मुख   । रोला
धन्य धन्य मुनिराज तुम,भलो मंत्र दियौ मोहि।
दूत पठायौ सुरतहीं, अबहिं जाउ कृष्ण छोहि। दोहा
--सूरसागर,प्र०सं०,पृ०४६२,पद ५८६

३ सूरसागर,दूसरा खंड,पृ०१२१४,पद सं०३५८४

४ गीतावली ,उत्तरकाण्ड, पृ०४२१, पद सं०२१

दो दोहा रखकर एक हरगीतिका छंद रखा गया है[1]।

उपमान और रूप माला : कृष्णकाव्य

मध्यकालीन कवियों में उपमान १३,१० की यति से तथा अंत में दो गुरुवर्ण के विधान से स्वीकृत है और रूपमाला १४,१० मात्राओं की यति से अंत में एक व गुरु और एक लघु का नियम आलोच्यकालीन कवियों को सामान्यतः मान्य है । कृष्ण काव्य में सूर और मीरा में[2] उपमान सूर का[3] निम्न पद रूपमाला का विकार रहित प्रमाण है ।

रामकाव्य

रामकाव्य में इन छन्दों का प्रयोग कम है ।

चौपाई चौपई -- १६ मात्रा वाले चौपाई तथा १५ मात्रा की चौपई इन छन्दों का प्रयोग आख्यान शैली के अन्तर्गत हम देख चुके हैं,किन्तु इनका उपयोग पद साहित्यमें भी पर्याप्त मात्रा में किया गया है ।

---

१ कौसलपुरी सुहावनी सरि सरजू के तीर ।
  भूपावली मुकुट मनि नृपति जहां रघुबीर । दोहा ।
  पुर नर-नारि चतुर अति, धरमनि पुन्न रत नीति ।
  सहज सुभाय सकल उर श्री रघुबर पद प्रीति ।।दोहा।
  श्री राम-पद जल जात सब के प्रीति अबिरल पावनी ।
  जो चहत सुकसनकादि,संभु बिरंचि, मुनि मन भावनी ।।
  सबहीं के सुन्दर मंदिराजिर, राउरंग न लखि परे ।
  नाकेश ,सुरम,भौग,लौग करहिं न मन बिषयनि हरे ।।
  --गीतावली,पृ०४१५,४१६,४१७ हरगीतिका पद सं०९९

२ मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरो न कोई ।
  जाके सिर मोर मुकुट मेरो पति सोई ।। मीरा पदावली,पृ०५

३ हरि जू इनसों करी माई, मीन जल की प्रीति ।
  कितिक हरि दयालु,माधो, गई अवधि बितीति ।
  --सू०सा०.सभा सं०.पृ०१३७५.पद सं०३८०५

रामकाव्य

रामकाव्य के अन्तर्गत तुलसीदास ने चौपाई चौप का प्रथम पृथक् तथा मिश्रित रूप में भी पदों में प्रयोग किया है किन्तु पृथक् प्रयोग अधिक है । इनमें से पदों के अन्तर्गत चौपाई का चौपई की अपेक्षा अधिक प्रयोग है[1] ।

कृष्णकाव्य

कृष्णकाव्य में अधिकतर दोनों छन्दों के मिश्रित प्रयोग को ही स्वीकार किया गया है ,किन्तु कहीं-कहीं स्वतन्त्र प्रयोग भी मिल जाते हैं ।

कृष्ण एवं राम साहित्य में प्रचलित उपर्युक्त छन्दों के अतिरिक्त ऐसे अनेक छंद हैं, जिनका प्रयोग कृष्ण तथा राम दोनों शाखाओं में पृथक्-पृथक् रूप से किया गया है ।

तोमर -- १२ मात्राओं के इस छन्द का कृष्ण काव्य में सूरदास ने प्रयोग किया है । रामकाव्य में तुलसी की रचनाओं में इस छंद के उदाहरण ढूंढने पर कठिनाई से उपलब्ध होंगे ।

त्रिपदी-- इस छन्द का कृष्णकाव्य के अन्तर्गत विशेषरूप से प्रयोग हुआ है[2] । राधा वल्लभ सम्प्रदाय के हितहरिवंश एवं चतुर्भुज दास तथा अष्टछाप के सूरदास ने इस छन्द का प्रचुरता से प्रयोग किया है । इस छन्द के प्रथम तथा द्वितीय

---

१ विनय पत्रिका -- श्रीगणेशस्तुति, सूर्य स्तुति, पृ० १३-१४,चौपाई

२ सरद सुहाई आई राति । दहुं दिसि फूलि रही बन-जाति ।

देखि स्याम मन सुख भयौ ।

--सू०सा०,प्र०सं०,पृ०५५५,पद १६८

चरण चौपई की भांति तथा तृतीय चरण तोमर की भांति विवेच्य काल में प्रयुक्त हुए हैं।[1] राधावल्लभ सम्प्रदाय के चतुर्भुजदास ने भी इसका सफल प्रयोग किया है। रामकाव्य में इसका प्रयोग नहीं है।

वर्ण वृत्त

पद साहित्य में अधिकतर मात्रिक छन्दों का ही प्रयोग है, किन्तु कहीं-कहीं वर्णिक छन्दों का भी प्रयोग मिलता है। वर्णिक छन्दों में त्रोटक का प्रयोग कृष्ण एवं राम दोनों काव्य-धाराओं में मिलता है।

त्रोटक

चार सगण से युक्त प्रत्येक चरण का मान्य विधान ही त्रोटक के अन्तर्गत आलोच्यकालीन कवियों को स्वीकृत है।

कृष्णकाव्य

कृष्णकाव्यान्तर्गत श्री सेवक जी ने "श्री हित-धार्मिनकृत षष्ठ प्रकरण इसी वर्णिक छन्द में लिखा है।[2]

---

१ नमो नमो जै श्री हरिवंश। सुमिरत होत कलुषता नंश।
विमल भक्ति रति मन बढ़ै।
हरि जस सागर अन्त न लहौं। सन्त प्रताप कछु कपि कहौं।
दृढ़ प्रतीति करि मन गहै। -- चतुर्भुजदास, द्वादश यश भक्तिप्रतापयश (२), पृ० ६०

२ पहिलैं हरिवंश सुनाम कहौं।
हरिवंश सुधर्मिन संग लहौं।।
हरिवंश सुनाम, सदा लिखै।
सुख सम्पति दम्पति सु लिखै।।
--श्री हित सुधासागर, श्री सेवक वाणी जी, पृ०२४२

रामकाव्य -- रामकाव्य-धारा के अन्तर्गत तुलसीदास ने 'रामचरितमानस' में स्तुति के लिए इस छन्द का प्रयोग किया है ।

तुलना और निष्कर्ष

इस प्रकार निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि कृष्ण एवं राम दोनों काव्य-धाराओं में पदों के अन्तर्गत अनेक छन्दों का प्रयोग किया गया है, जिनमें मात्रिक छन्दों का ही प्रयोग सर्वाधिक है । वर्णवृत्त बहुत कम मिलते हैं । वर्णवृत्तों में त्रोटक विशेषरूप से दोनों धाराओं में प्रयुक्त हैं । पदों की पंक्ति के प्रथम १६ मात्राओं में अधिकांश पदों में समानता है ।

मुक्तक शैली

मुक्तक काव्य दो प्रकार का होता है । पहले रूप को पाठ्य दूसरे को गेय कहा जाता है जैसा कि पद साहित्य के अन्तर्गत देख चुके हैं । पाठ्य मुक्तक दोहा, कवित्त, सवैया आदि में लिखा साहित्य आता है, जिसमें पूर्वापर क्रम की अपेक्षा नहीं रहती है । गेय मुक्तक में वह साहित्य आता है, जो पदों के रूप में लिखा गया है । दोनों प्रकार के मुक्तकों में विषय का भी वैभिन्य रहता है । पाठ्य मुक्तक में आत्माभिव्यंजन की अपेक्षा कथ्य विषय का प्राधान्य रहता है ।

मुक्तक शैली अपने विशुद्ध रूप में निर्गुण-धारा के ज्ञान-भक्ति-शाखा के संतों द्वारा ग्रहण की गई । इस शैली को कृष्ण-भक्ति-शाखा के सगुणोपासकों ने भी स्वीकार किया है । कृष्ण-काव्य में यद्यपि मुक्तक का रूप है, फिर भी कृष्ण के जीवन की लीला अपने विविध रूपमें भक्तों के समक्ष थी । अतः मुक्तक के कलेवर में ही छोटे छोटे प्रसंगों का बराबर अवतरण है ।

मुक्तक काव्य-रूप को सम्पूर्ण मध्ययुगीन साहित्य में विशेषरूप से अपनाया गया है । किसी विशिष्ट विषय को चुनकर उस पर कुछ छन्द लिखे गए हैं । उस विषय पर कुछ दोहे, कुछ सोरठे, या कवित्त

अथवा सवैया या कुण्डलिया लिखने के अनन्तर विषय परिवर्तित कर दिया गया है । कहीं-कहीं विषय-परिवर्तन के साथ ही छन्द भी परिवर्तित कर दिया गया है । विशिष्ट विषय के अन्तर्गत लिखे जाने वाले सभी दोहों का भाव एक ही है, परन्तु साथ ही प्रत्येक दोहा स्वतन्त्र रूप में भी ग्रहण किया जा सकता है । भाव के दृष्टिकोण से कोई भी दोहा अधूरा नहीं है ।

मुक्तक काव्य-शैली का प्रयोग कृष्ण एवं राम दोनों काव्य-धाराओं में प्रचुरमात्रा में सिद्धान्त कथन के लिए किया गया है ।

कृष्ण काव्य

कृष्ण काव्य के अन्तर्गत वे स्थल, जो सम्प्रदाय के सिद्धान्तों अथवा उपदेशों के लिए लिखे गए हैं और जिनका ज्ञान की दृष्टि से विशेष महत्व है, प्रमुख हैं । इनमें नन्ददास की "सिद्धान्तपंचाध्यायी" और "ज्ञानमंजरी" आदि तथा सूरदास के उपदेशात्मक स्वतन्त्र स्थल इसके प्रमाण हैं । रहीम के अधिकांश दोहे इसी श्रेणी में रखे जा सकते हैं ।

रामकाव्य

तुलसी की "दोहावली", "वैराग्य संदीपनी" आदि भी इसी कोटि में आते हैं । इसके अतिरिक्त "मानस" के अधिकांश दोहे मुक्तक काव्य परम्परा में रखे जा सकते हैं ।

मिश्रित मुक्तक काव्य-रचना

इसके अन्तर्गत वे रचनाएँ हैं, जो मुक्तक होते हुए भी प्रबन्धात्मकता लिए हुए हैं । हर छन्द अपने में स्वतन्त्र भाव देते हुए भी सूक्ष्मता से कथा-सूत्र का संकेत करता चलता है । इसके अन्तर्गत कृष्णकाव्य में नरोत्तमदास का "सुदामा चरित" तथा रामकाव्य में तुलसीदास की "कवितावली"

रखी जा सकती है । 'मानस' में कथा के साथ-साथ नीति तथा उपदेश परक दोहे, मिश्रित मुक्तक रचना के उदाहरण हैं ।

मुक्तक शैली में प्रयुक्त छन्द

आलोच्यकाल की रचनाओं में मुक्तक शैली के अन्तर्गत दोहा, सोरठा, कुंडलिया, छप्पय मनहरण, घनाक्षरी और वर्णिक सवैया आदि छंदों का प्रयोग विशेष रूप से हुआ है । प्रथम चार छन्दों का विवेचन आख्यान शैली केअन्तर्गत पहले किया जा चुका है, क्योंकि यहछन्द आख्यान शैली में भी प्रयुक्त हुए हैं और मुक्तक में भी । कवियों ने शैली के अन्तर्गत कोई छन्दगत भेद नहीं प्रस्तुत किया । ये छन्द इसलिए मुक्तक शैली के अन्तर्गत रखे गए, क्योंकि प्रत्येक छन्द में वर्ण्य वस्तु की पूर्णता विद्यमान है । यहां अवशिष्ट अंतिम तीन छन्दों का ही विवेचन अभीष्ट है ।

मनहरण घनाक्षरी और सवैया

मनहरण वर्णिक छन्द है, जिसमें ८,८,८,७ का यतिक्रम रहता है । घनाक्षरी में ८,८,८,८ तथा ८,८,८,६ का दोनों यति क्रम स्वीकार किया जाता है । पहले ३२ वर्णों की रूप घनाक्षरी तथा अंतिम ३३ वर्णों की देव घनाक्षरी कह लाती है । सवैया एक गणात्मक वृत्त है, जिसके मत्त गयन्द आदि अनेक भेदहोते हैं ।

कृष्णकाव्य

कृष्ण काव्य के अन्तर्गत सवैया छन्द का व्यवहार नागरीदास, माधवदास, वल्लभ रसिक, ध्रुवदास नरोत्तमदास, रसखान, हरिवंश और सेवक द्वारा हुआ है । इसी प्रकार मनहरण का प्रयोग सूरदास, नरोत्तमदास, रसखान, ध्रुवदास, सेवक, वल्लभ-रसिक, सरदेव आदि की रचनाओं में मिलता है । ध्रुवदास तथा माधवदास ने मनहरण और सवैया दोनों को

अपने को वर्णनात्मक काव्यों में स्थान दिया है । मनहरण मनहरण कवित्त का कुछ रूप सूर और मीरा के पदों में भी परिलक्षित होता है । आलोच्य कालीन कालीन कृष्ण कवियों ने मनहरण के अन्तर्गत ८,८,८,७ के यतिक्रम पर ध्यान न देकर १६ और १५ पर यति का क्रम रखा है । कुछ ने उसमें भी शिथिलता दिखाई है ।

रामकाव्य

रामकाव्यान्तर्गत केशवदास ने सवैया का अच्छा प्रयोग किया है । इसी प्रकार मनहरण छन्द का उपयोग केशवदास और सेनापति ने किया है । सेनापति ने सवैया का व्यवहार नहीं किया है ।

घनाक्षरी का प्रयोग आलोच्यकालीन दोनों धाराओं के कवियों में नहीं के बराबर है ।

आन्तरप्रास

आलोच्यकालीन कुछ कृष्ण कवियों ने कतिपय छन्दों में यति के साथ अनुप्रास का भी निर्वाह किया है । इन कवियों में सूरदास, हितहरिवंश तथा नन्ददास प्रमुख हैं ।

आन्तरप्रास के साथ छोसाथ तुक का भी ध्यान रखा गया है, जिससे गेयतात्व में बाधा नहीं उपस्थित होती है । उदाहरण के लिए नन्ददास का रोला छन्द प्रस्तुत किया जा सकता है ।[1]

रामकाव्यान्तर्गत यह प्रवृत्ति लक्षित नहीं होता है, क्योंकि रामकाव्य में वह संगीतात्मकता नहीं है, जो कृष्णकाव्य में मिलती है ।

१(अ) कृपा रंग रस अयन, नयन राजत रतनारे । —नन्ददास, पृ० १५५

(ब) जो जगमन आकरषत, बरषत प्रेम सुधा रस । —,, पृ० १५६

(स) तेहिय पिय की मुरली, मुरली अधर सुधारस । —,, पृ० १५५

मिश्रित शैली

इस मिश्रित शैली के दो रूप आलोच्यकाल में मिलते हैं --

आख्यान पद मिश्रित शैली

इसके अन्तर्गत वे रचनाएं आती हैं,जो कुछ गीतिकाव्य के लक्षणों से पूर्ण होते हुए भी कथा के अन्तःसूत्र से पर्याप्त पूर्ण हैं। भाव की पूर्ण अभिव्यक्ति के साथ ही साथ प्रत्येक पद कथा का सूत्र धारण किए हुए है और इस कथा-सूत्र के लिए अब आगे पद की अपेक्षा भी करता है। इसका विवेचन पद शैली प्रकरण के 'गीति काव्य में प्रबन्धवत्ता शैली' शीर्षक के अन्तर्गत किया जा चुका है।

आख्यान-मुक्तक मिश्रित शैली

इस शैली के अन्तर्गत वे रचनाएं सम्मिलित की गई हैं,जो मुक्तक होते हुए भी कथात्मक हैं। इस प्रकार रचनाओं के प्रत्येक छंद पूर्वा पर सम्बन्ध से रहित होते हुए तथा अपना स्वतंत्र अर्थ रखते हुए भी कथा कोकड़ियों के माध्यम से एक दूसरे छंद से सम्बद्ध है। इसका विवेचन मुक्तक शैली के अन्तर्गत 'मिश्रित मुक्तक-काव्य-रचना' शीर्षक में हो चुका है। इनपर पुनः विचार करना पिष्टपेषण मात्र होगा।

अन्य शैलियां

आख्यान, पद तथा मुक्तक शैली के अतिरिक्त अन्य अनेक प्रकार की शैलियां कृष्ण एवं राम दोनों काव्य-धाराओं में मिलती हैं, परन्तु ऊपर विवेचित तीनों शैलियों के अतिरिक्त अन्य शैलियां तुलनात्मक दृष्टि से महत्वपूर्ण नहीं हैं,क्योंकि दोनों काव्य-धाराओं की अपनी कुछ विशिष्ट काव्य-शैलियां हैं,जो दूसरी काव्य-धारा में नहीं मिलती हैं

किन्तु विशिष्ट काव्य शैली के कुछ तत्व अवश्य ही दोनों धाराओं में विद्यमान हैं, जिनका विश्लेषण और संकेत तत्सम्बन्धित शैली के अन्तर्गत अवश्य कर दिया गया है ।

रामकाव्य की विशिष्ट शैलियां

संवाद परक नाट्य शैली: इस शैली का आविर्भाव केवल रामकाव्य के अन्तर्गत ही है । कृष्ण काव्य में नाट्यशैली की कोई भी
में दृष्टिगत नहीं होती है किन्तु कृष्णकाव्य
रचना आलोच्यकाव्यमूलक कुछ रचनाओं में नाट्यशैली के मुख्य तत्व संवाद का सफल प्रयोग हुआ है । ऐसी रचनाओं में नरोत्तमदास रचित `सुदामा चरित` मुख्य है । अब हम दोनों काव्य-धाराओं में उपलब्ध तत्व संवाद को लेकर दोनों का मूल्यांकन करेंगे ।

रामकाव्य

रामकाव्यान्तर्गत आलोच्यकाल में प्राणचन्द चौहान का `रामायण महानाटक` हृदयराम का `भाषा हनुमन्नाटक` नामक दो नाटक मिलते हैं । ये दोनों रचनाएं नाटक के साहित्यिक नियमानुसार नहीं हैं, बल्कि संवाद रूप, में होने के कारण नाटक कहे गए हैं । इन दोनों के अतिरिक्त राम काव्य में केशव की `रामचन्द्रिका` में भी संवादों का सफल प्रयोग मिलता है ।

रामायण महानाटक

सं० १६६७ विक्रमी में रचित यह नाटक दोहा चौपाई, छंद में रामकथा को संवादों के रूप में व्यक्त करता है । नाटक के अन्त में रचनाकार ने निष्ठापूर्वक रामचरित का गान ही कृति का उद्देश्य बताया है कवि का विश्वास है कि भगवान राम ही आदि पुरुष हैं । शंकर आदि उनकी वन्दना करते हैं । वेद भी उनका मर्म नहीं जानते हैं ।

वे मायापीश हैं आदि[1] । इस नाटक में हनुमन्नाटक की अपेक्षा संवादों के क्षेत्र में सफलता नहीं मिली है ।

हनुमन्नाटक

हृदयराम कृत यह नाटक सं०१६८० में लिखा गया है[2] । नाम के कारण यह संस्कृत नाटक "हनुमन्नाटक" का अनुवाद प्रतीत होता है, किन्तु वस्तु संविधान, संवाद-योजना आदि कई बातों में इतना अन्तर है कि हिन्दी के इस नाटक के न तो संस्कृत का अनुवाद ही कह सकते हैं और न रूपान्तर ही । कृतिकार ने अंकों का विधान अवश्य ही संस्कृत नाटक के अनुसार किया है । इस कारण इसका नाम "हनुमन्नाटक" रख दिया है[3] ।

इस नाटक में कवित्त, सवैया, दोहा, सोरठा छंदों का प्रयोग हुआ है, किन्तु कवित्त, सवैया इनमें संवादविशेष सफल हैं । ये संवाद अत्यन्त संक्षिप्त और प्रभावशाली हैं, साथ ही घटनाक्रम को आगे बढ़ाने में सहायक भी हैं । एक उदाहरण पर्याप्त होगा । रहो हनु ! कह्यौ भी रघुवीर कछु सुधि है सिय की छिति माहीं । है प्रभु लंक कलंक बिना सुबसै तंह रावन बाग की छाहीं ।। जीवित है ? कहिबेई को नाथ, सु क्यों न मरी हमतें बिछुराहीं । प्रान बसै पद-पंकज में जम आवत है, पर पावत नाहीं ।।

---

1 तेहि कर कहहु को कहै बखाना । जिहिंका मर्म वेद नहीं जाना ।
माया सोच भो कोउ न पारा । शंकर कारि बीच लोहधारा ।।
--आचार्य पं०रामचन्द्र शुक्ल: हि०सा०इ०, पृ०१४८

2 ,, ,, पृ०१४६

3 डा० दशरथ ओझा : हिन्दी नाटक उद्भव और विकास, पृ०१२२

4 रामचन्द्र शुक्ल : हि०सा० इ० , पृ०१५०

ऊपर वर्णित संवाद में भगवान राम के प्रश्नों का उत्तर कितनी संक्षिप्तता एवं सफलता से हनुमान देते हैं, साथ ही लगता है कि जैसे राम और हनुमान का यह संवाद प्रत्यक्ष हमारे सामने हो रहा है। स्वाभाविक कथन की यह सफलता अन्यत्र दुर्लभ है।

इस नाटक में दृश्य-चित्रण भी सफलता के साथ हुआ है। सीता के वियोग में व्याकुल राम को रास्ते में पड़े हुए सीता के आभूषण प्राप्त होते हैं। वे लक्ष्मण से उनकी पहचान कराते हैं कि ये आभूषण सीता के ही हैं अथवा अन्य किसी के। ऊपर लक्ष्मण का कथन कितना नैतिक तथा नाटकीय दृश्य चित्रण के आधार पर सफल है[1]। उपर्युक्त दोनों नाटकों के अतिरिक्त केशव की 'रामचन्द्रिका' में भी संवादों का सफल प्रयोग है अथवा यों कहा जाय तो विशेष युक्तियुक्त होगा कि केशव को 'रामचन्द्रिका' में केवल संवादों के क्षेत्र में ही सफलता मिली है। अब हम केशव के कुछ संवादों का नाटकीय दृष्टिकोण से विश्लेषण करेंगे।

केशव के संवादों में गूढ़ोत्तर एवं व्यंग्य पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं। ये व्यंग्य अत्यन्त संक्षिप्त वाक्यों एवं अल्प शब्दों से व्यक्त होकर भी पर्याप्त प्रभावशाली हैं। जिसका उदाहरण हमें रावण-अंगद संवाद से प्राप्त होता है[2]। 'रावण-हनुमान-संवाद' में कवि ने प्रश्नों की झड़ी लगा दी है, किन्तु उत्तर कितने सटीक और संक्षिप्त हैं। रावण हनुमान से पूछता है -- सागर कैसे तर्यो ? ~~कळ~~ हनुमान उत्तर देते हैं, जैसे गोपद, रावण

---

१ जानकी को मुख न विलोक्यो, ताते कुंडल
        न जानत हौं, वीर पांय छुवे रघुराज के,
  हाथ जो निहारे नैन फूटियो हमारे,
        ताते कंकन न देखे, बोलक्यों सतमाजके।
  पायन के परिबे को जाते दास लक्ष्मन
        याते पहिचानत है भूषन पायं के।।
        --पं० रामचन्द्र शुक्ल-- हि०सा०इ०, पृ० १५०
२ कौन के सुत ? बालि के, वह कौन बालि? न जानिए ?
  कांख चांपि तुम्हें जो सागर सात न्हात बखानिए।
  है कहां वह? वीर अंगद देव लोक बताइयो।
  क्यों गयो ? सु संहरो टेरी हुवै मृग सोवत पातक लेखौ।
    --केशवदास --रामचन्द्रिका १६।६

पुन: पूछता है, काज कहां ? हनुमान कहते हैं, सिय चोरहिं देख्यों । आदि।

कृष्णकाव्य

इस काव्य-धारा के अन्तर्गत `सुदामा चरित` में संवादों की सफलता दर्शनीय है । दृश्य-चित्रण के लिए सुदामा की दीन दशा का वर्णन अत्यन्त सफल है । इसके अतिरिक्त कृष्ण काव्य के `भ्रमरगीत` अंश में संवादों की अच्छी योजना है । सूरदास तथा नन्ददास ने इस प्रसंग में उद्धव-गोपी संवाद के रूप में कथोपकथन का अच्छा निर्वाह किया है ।

तुलना और निष्कर्ष

उपर्युक्त विश्लेषित तथ्यों के प्रकाश में संक्षिप्तत: यही कहा जा सकता है कि आलोच्यकाल में राम काव्यान्तर्गत प्राप्त `रामायण महानाटक` तथा `भाषा-हनुमन्नाटक` नाटक न होते हुए भी नाट्य तत्व से पर्याप्त पूर्ण हैं, किन्तु कृष्ण काव्य में ऐसी कोई रचना नहीं प्राप्त होती। नाटक के प्रमुख तत्व संवाद के क्षेत्र में कुछ कृष्ण कवियों को अवश्य ही सफलता मिली है । वास्तव में नाटक का क्षेत्र भी प्रबन्ध की भांति राम काव्य के ही अनुकूल था । कृष्ण चरित्र इसके सर्वथा प्रतिकूल था ।

गद्य शैली

आलोच्यकालीन कृष्णकाव्य एवं राम दोनों धाराओं में गद्य-शैली के दर्शन होते हैं । कृष्णकाव्य में इस शैली का प्रयोग सम्प्रदाय के इतिहास रूप में या सम्प्रदाय में दीक्षित भक्तों के जीवन-परिचय के रूप में है । इन गद्य ग्रन्थों में `चौरासी वैष्णवन की वार्ता` तथा `दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता` ही मुख्य है जो प्राप्त है ।

रामकाव्य में इस शैली का प्रयोग रामभक्ति के लिए किया गया है । इसमें नाभादास का एक अष्टयाम ब्रजभाषा गद्य में मिलता है । नाभादास के `अष्टयाम` की भाषा मध्ययुगीन ब्रजभाषा गद्य का निखरा रूप है । जैसा कि निम्न उदाहरण से स्पष्ट है ।

---

१ तब श्री महाराज कुमार प्रथम श्री वशिष्ठ महाराज के चरन छुइ प्रनाम करत भए फिरि अपर वृद्ध समाज तिनको प्रनाम करत भए ।फिरि श्री राजाधिराज (शेष पृष्ठ पर)

तुलना और निष्कर्ष

~~तुलना और निष्कर्ष~~ दोनों धाराओं में गद्य शैली के दर्शन होते हैं, किन्तु कृष्ण काव्य-धारा का गद्य-साहित्य तुलनात्मक दृष्टि से अधिक श्रेष्ठ और समृद्ध है। दोनों साहित्यों के गद्य ब्रजभाषा में ही मिलते हैं।

कृष्ण काव्य की विशिष्ट शैलियां

आलोच्यकालीन कृष्ण साहित्य में कृष्ण की लीलाओं का गान ही कवियों का लक्ष्य था। इस लीला-गान के अन्तर्गत विभिन्न प्रकार की लीला परक शैलियों का विकास हुआ, जिनमें 'भ्रमरगीत' तथा 'रास लीला' इन दो शैलियों को सर्वाधिक महत्व मिला और इन दोनों शैलियों में अधिकांश कृष्ण-कवियों ने स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूपमें या सम्बद्ध रूपमें पद-रचना की।

भ्रमर गीत शैली -- 'भ्रमर गीत' में गोपियों का उद्धव से भ्रमर के माध्यम से सरस संवादों की योजना है। इस प्रसंग के अन्तर्गत विशेषरूप से योग-मार्ग और निर्गुण -भक्ति पर प्रेम-मार्ग और सगुण-भक्ति की विजय दिखाई गई है। सूरसागर के अन्तर्गत 'भ्रमरगीत' तथा नन्ददासका 'भ्रमरगीत' इस शैली के सुन्दर उदाहरण हैं।

रामकाव्य के अन्तर्गत इस शैली का इस रूप में प्रयोग नहीं मिलता है, किन्तु वर्ण्य-विषय निर्गुण -सगुण, तथा ज्ञान और प्रेम या भक्ति का सैद्धान्तिक विवेचन भ्रमरगीत की ही तरह तुलसी की रचनाओं में भी मिलता है। इसके लिए 'मानस' का सम्पूर्ण उत्तरकाण्ड

(पूर्व पृष्ठ की अवशिष्ट टिप्पणी सं०१)

जु को जोहार करिकै श्री महेन्द्रनाथ दशरथ जु के निकट बैठत भए।

-- आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल -- हि०सा० इ०, पृ० ४८

प्रबल प्रमाण है । यहां माध्यम भ्रमर या उद्धव-गोपी के रूप में नहीं है किन्तु वक्ता और श्रोता के रूप में इस प्रसंग को उठाकर विषय का सांगोपांग विवेचन भ्रमरगीत की ही तरह किया गया है अथवा उससे भी अधिक सुस्पष्ट विवेचन मिलता है ।

तुलना और निष्कर्ष

रामकाव्य और कृष्ण काव्य के वर्ण्य-विषय में अन्तर इतना ही है कि कृष्ण काव्य के `भ्रमरगीत` में निर्गुण पर सगुण की तथा ज्ञान पर प्रेम की विजय दिखाई गई है, किन्तु रामकाव्य में तुलसी ने सगुण को जो महत्त्व दिया है, वही निर्गुण को भी और ज्ञान तथा भक्ति में कोई भेद या अन्तर नहीं माना है[1]। दोनों काव्य-धाराओं में इस अन्तर का कारण भी वही है जो पहले विवेचित है । हिन्दी-कृष्ण-काव्य के समक्ष संस्कृत के `भ्रमरगीत` का उदाहरण था --विशेष रूप से भागवत पुराण के भ्रमरगीत का कृष्ण कवियों ने उसी का अनुसरण किया है, किन्तु रामकवियों के सामने ऐसी कोई काव्य-शैली नहीं थी, केवल वक्ता-श्रोता के माध्यम से कथा और ज्ञान-भक्ति का निरूपण ही हिन्दी रामकाव्य की पृष्ठभूमि थी जैसा कि `अध्यात्म-रामायण` से स्पष्ट है । इसी का अनुसरण राम कवि तुलसीदास ने किया ।

रास-लीला-शैली :-- रास के प्रसंग को लेकर राम एवं कृष्ण दोनों काव्यधाराओं में साहित्य-सृजन हुआ । कृष्ण काव्य के अन्तर्गत रास के प्रसंग को लेकर सूरदास कृत `सूरसागर` में `रासलीला` प्रसिद्ध है ।

---

१ ज्ञानहिं भगतिहिं नहि कछु भेदा । उभय हरहिं भव संभव खेदा ।।

--रा०च०मा०, उत्तरकाण्ड

रामकाव्य

राम कवियों में माधुर्य-भाव के उपासक अग्रदास तथा नाभादास में इस रास -वर्णन की प्रवृत्ति मिलती है, किन्तु यह प्रवृत्ति मात्र है । कृष्ण-कवियों की तरह कोई प्रतिष्ठित विचार-धारा नहीं है । कृष्ण कवियों में रास का मंडलाकार तथा विस्तृत वर्णन है, किन्तु रामकाव्य में यह वर्णन इस रूप में नहीं है । इसका कारण राम का मर्यादा चरित्र है । कृष्ण कवियों की भांति माधुर्य भाव के रामकवियों में भी सखियों और कुंज आदि का वर्णन मिलता है । माधुर्य भाव के उपासक राम कवियों द्वारा कौसलखंड ~~प्रवीन-ग्रन्थों~~ राम नवरत्न `महारासोत्सव आदि राम-रास सम्बन्धी प्राचीन ग्रन्थों का प्रमाण दिया जाता है[1] ।

`कौसल खंड` में राम की रास लीला विहार आदि के अनेक अश्लील वृत्त कल्पित किए गए हैं और कहा गया है कि रास लीला तो वास्तव में राम ने ही की थी । रामावतार में ९९ रास वे कर चुके थे । एक ही शेष था जिसके लिए उन्हें फिर कृष्ण रूप में अवतार लेना पड़ा । इस प्रकार विलास-क्रीड़ा में कृष्ण से कहीं अधिक राम को बढ़ाने की होड़ लगाई गई । गोलोक में जो नित्य रासलीला होती रहती है उससे कहीं बढ़कर साकेत में हुआ करती है । वहां की नर्तकियों की नामावली में रंभा, उर्वशी आदि के साथ-साथ राधा और चन्द्रावली भी गिना दी गई हैं[2] । रास की इस शृंगारी भावना का आभास तुलसीकृत गीतावली` के उत्तरकाण्ड में `आनन्दोत्सव -प्रसंग` में दृष्टिगोचर होता है, किन्तु वह रास-लीला से किसी प्रकार भी सम्बद्ध नहीं किया जा सकता है ।

तुलना और निष्कर्ष

कृष्ण कवियों का रास परम्परा प्राप्त कृष्ण लीलानुरूप है, क्योंकि मौलिक कहा जा सकता है, किन्तु रामकाव्य

---

१ पं० रामचन्द्र शुक्ल --हि०सा०इ०, पृ० १५३

२ ,, ,, पृ० १५३

में रास लीला का वर्णन अनुकरण की हुई वस्तु है जो कृष्ण काव्य से उधार ली गई है, अतः रामकाव्य में 'रास-लीला -प्रसंग' किसी भी दृष्टि से गणना करने योग्य नहीं है और न तो कृष्ण काव्य के रास प्रसंग से उसकी तुलना ही की जा सकती है । केवल प्रवृत्ति मात्र उल्लिखित करने की दृष्टि से यहाँ विवेचित है ।

विशिष्ट शैलियों की तुलना व निष्कर्ष

तुलनात्मक दृष्टि से दोनों काव्य-धाराओं की विशिष्ट शैलियों में रामकाव्य धारा की नाट्यशैली को साहित्यिक दृष्टि से कोई विशेष महत्व नहीं प्राप्त है । केवल नाट्य-परम्परा के रूप में ही इनका महत्व है । इनमें से भाषा-हनुमन्नाटक तो संस्कृत हनुमन्नाटक का भाषानुवाद मात्र है । अतः मौलिक रचना नहीं कही जा सकती है ।शास्त्रीय नाट्य शैली का उसमें निर्वाह भी नहीं है । कृष्णकाव्य की दोनों विशिष्ट शैलियों का साहित्यिक दृष्टि से अवश्य महत्व है । कृष्ण साहित्य की ये दोनों लीला-परक शैलियां अवश्य ही रोचक और सौन्दर्यपूर्ण हैं,जिनको साहित्यिक दृष्टि से उच्च स्थान प्राप्त है ।

-o-

उपसंहार

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि कृष्ण एवं राम-काव्य-धाराएं मध्यकाल में ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य में सर्वश्रेष्ठ हैं। मध्य युग का यह कृष्ण एवं राम साहित्य दार्शनिक तत्वों से पूर्ण है, जिसकी अभिव्यक्ति सिद्धान्त रूप से तो नहीं, किन्तु धर्म या भक्ति के व्यावहारिक पक्ष की दृष्टि से सभी मध्ययुगीन कवियों ने की है। वास्तव में दर्शन ही भक्ति का प्राण है, जिसके अभाव में भक्ति में ढोंग और आडम्बर आ जाता है। यही वह मेरुदण्ड है, जो मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य को संभाले हुए है। इस तथ्य को मध्यकाल के सभी कवियों ने अनुभव किया है। दार्शनिक दृष्टि को दृष्टिपथ में रखते हुए यह कहा जा सकता है कि कृष्ण काव्य विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों की छाया में पल्लवित हुआ, जिनमें द्वैत, द्वैताद्वैत और शुद्धाद्वैत प्रमुख हैं। रामकाव्य ने इस प्रकार की दार्शनिक सम्प्रदायों की संकीर्ण परिधि में न बंधकर सभी दार्शनिक सम्प्रदायों की मान्यताओं को समन्वयात्मक दृष्टि से ग्रहण करके अपना एक मौलिक दर्शन प्रतिष्ठित किया, जिसे भक्ति दर्शन कहा जा सकता है।

दोनों काव्य-धाराओं के ब्रह्म, जीव, जगत माया, मोक्ष इन दार्शनिक तत्वों के आधार पर परस्पर भिन्न होती हुई भी अनेक बिन्दुओं पर साम्य रखती हैं। उनके साम्य का प्रबल आधार सगुण रूप की प्रतिष्ठा है। दोनों साहित्यिक धाराओं ने ब्रह्म की सगुण रूप

में ही स्वीकार किया है । यदि इस क्षेत्र में कुछ अन्तर है भी तो वह उपास्य के दो स्वरूपों--कृष्ण एवं राम को लेकर है, जिनको दोनों धाराओं के कवियों ने एक ही परब्रह्म के दो नाम माने हैं । वास्तव में दोनों एक ही हैं । दोनों धाराएं इस तथ्य को प्रकाशित करती हैं कि यद्यपि वह ब्रह्म अपने चरम भाव में निर्गुण, निर्लिप्त और अपने-आपमें पूर्ण है, किन्तु इस रूपमें अग्राह्य होने के कारण वह सगुण भाव से ही भजनीय है । परब्रह्म की यह सगुणता ही भक्ति का मेरुदण्ड है, जो दोनों धाराओं में पूर्णरूपेण व्याप्त है । इस प्रकार प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में यह सिद्ध करने का प्रयास किया गया है कि दोनों धाराओं में जो अन्तर दिखाई पड़ता है वह मात्र बाह्य है । तत्त्वत: दोनों धाराएं अभिन्न हैं ।

भक्ति जीवन की परम शान्ति-प्रदायिनी संजीवनी-शक्ति है, जिसके अभाव में मानव जीवन निष्प्राण और व्यर्थ हो जाता है । हिन्दी के मध्यकालीन कवियों ने इसी तथ्य को सर्वोपरि मानते हुए साहित्य-सर्जना की । इस प्रकार मध्यकालीन कवियों के काव्य-सृजन का उद्देश्य केवल भक्ति एवं उसका प्रचार है । प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में इस महत्वपूर्ण विषय का उल्लेख करते हुए मध्ययुगीन कृष्ण एवं रामकवियों द्वारा गृहीत भक्ति के स्वरूप, लक्षण तथा भक्ति के प्रकारों, भक्ति के विभिन्न अंगों एवं उपकरणों तथा विभिन्न भावों के आधार पर वर्णित विभिन्न भक्ति-भेदों का तुलनात्मक ढंग से विवेचन करके यह निष्कर्ष निकाला गया है कि आलोच्यकालीन कृष्ण-काव्य ने भागवत की नवधा भक्ति से प्रभावित होकर भक्ति के नौ प्रकारों को ही स्वीकार किया और रामकाव्य ने तत्कालीन प्रचलित भक्ति के सभी प्रकारों को समन्वय की भावना से उल्लेख करते हुए 'अध्यात्म रामायण' में वर्णित नौ प्रकार के

भक्ति-भेदों को मान्यता दी । इसके अतिरिक्त रामकाव्य में नारद द्वारा गृहीत ग्यारह आसक्तियों का भी उल्लेख यत्र-तत्र अनुस्यूत रूप से मिलता है

दोनों धाराओं के कवियों ने इस तथ्य को स्वीकार किया है कि ईश्वर की भक्ति विभिन्न भावों से की जा सकती है और सभी भावों से ईश्वर की प्राप्ति सम्भव है । यहां तक कि शत्रु-भाव से भजने वाले भक्त का भी ईश्वर उद्धार कर देता है । जैसा कि शत्रु-भाव रखने वाले रावण को भगवान राम ने परम गति दी, किन्तु कुछ भाव विशेष होते हैं जिनसे भगवान शीघ्रता और सरलता से प्राप्त हो सकते हैं । इन विशेष भावों की मान्यता दोनों धाराओं में भिन्न-भिन्न है । कृष्ण काव्य में व माधुर्य और सख्य भाव को ही सर्वश्रेष्ठ माना गया है और इसी भाव-विशेष के द्वारा कृष्ण कवियों ने उपास्य कृष्ण से सम्बन्ध रखना श्रेयस्कर समझा है । किन्तु इसके विपरीत राम काव्य दास्य भाव से आप्लावित है । राम कवि तुलसी की दृढ़ धारणा है कि भगवान दास्य भाव से ही भजनीय हैं ।

दोनों शाखाओं के भक्त-कवियों की कामना भी भिन्न रूप में है । कृष्ण-भक्ति शाखा में मुक्ति की कामना न करते हुए कृष्ण के अलौकिक लीला-रस का पान ही भक्त का चरम काम्य है, जब कि राम-भक्ति शाखा में ईश्वर के चरणों में भक्ति-भाव का बना रहना ही परम लक्ष्य है । इस कामना के आधार पर दोनों धाराओं में भिन्न साधना मार्ग भी ग्रहण किये गए । कृष्ण शाखा में मन के वांछित -अवांछित प्रत्येक भाव को कृष्ण में ही समर्पित करके उनकी स्वरूप-लीला में निमग्न रहना तथा लीला गान करना ही मुख्य भावात्मक साधना मानी गई है। इसी प्रकार रामकाव्य में निशि-दिन दास्य भाव से भगवान राम के चरणों में लीन रहना तथा उनके पावन चरित्र का कथा के रूप में कहना और श्रवण करना भक्त का मुख्य कर्तव्य माना गया । व्यावहारिक साधना की दृष्टि

से कृष्ण काव्य विशेषकर वल्लभ सम्प्रदाय के कवियों ने पुष्टिमार्ग को ग्रहण करते हुए भगवान के अनुग्रह को ही भक्त का मुख्य उदय माना है जब कि रामकाव्य में इष्टदेव के चरणों में पूर्ण शरणागति अथवा पूर्ण प्रपत्ति को ही मुख्य साधना मार्ग के रूप में स्वीकार किया गया है ।

हिन्दी के मध्ययुगीन कृष्ण एवं राम कवियों का साहित्य अपने अभीष्ट उद्देश्य इष्टदेव की भक्ति से पूर्ण होते हुए भी साहित्य या काव्य के गुणों से पर्याप्त समृद्ध है । आलोच्यकालीन कृष्ण कवियों ने काव्य के प्रमुख तत्व कल्पना के आधार पर परम्परा से प्राप्त कृष्ण-लीला में कुछ अथवा नवीन लीलाओं की उद्भावना की, जो वर्ण्यवस्तु के क्षेत्र में उनकी मौलिक काव्य देन कही जा सकती है, यद्यपि राम कवियों ने इस प्रकार की वर्ण्य-विषयक मौलिकता का प्रदर्शन नहीं किया है ।

आलोच्यकालीन कृष्ण एवं राम दोनों काव्य-धाराओं में काव्य की आत्मा 'रस' को पूर्ण परिपक्वता प्राप्त है । कृष्णकाव्य ने यद्यपि केवल शृंगार और वात्सल्य रस को ही अपने काव्य के लिए चुना, किन्तु इस सीमित क्षेत्र को इन कृष्ण कवियों ने अपनी काव्य-प्रतिभा से असीम बना दिया । शृंगार और वात्सल्य के क्षेत्र में जितनी भी मनोवृत्तियाँ सम्भव हैं उनसे भी अधिक को इन कृष्ण कवियों ने अपनी प्रतिभा के बल से स्वतः स्फूर्त: कोणों से व्यक्त किया, जो किसी भी साहित्य के लिए गौरव की वस्तु है । केवल उक्त दोनों रसों को प्रमुखता देने का मुख्य कारण इन कवियों द्वारा गृहीत कृष्ण के बाल एवं किशोर जीवन की सरस लीलाएँ हैं । राम कवियों ने मर्यादापुरुषोत्तम राम का सम्पूर्ण जीवन अपने काव्य का विषय बनाया, जिसमें जीवन

की सम्पूर्ण परिस्थितियां, समाज, राजनीति, धर्म एवं नैतिकता आदि सभी को स्थान मिला । फलतः रामकाव्य में सभी रसों को व्यक्त होने का सुअवसर स्वयमेव प्राप्त हो गया । रस विशेष पर बल न देते हुए राम कवियों ने समानुपातिक दृष्टि से सभी रसों का सांगोपांग चित्रण किया, किन्तु वर्णन-क्षेत्र की व्यापकता एवं सभी रसों के चित्रण के कारण रामकाव्य में शृंगार और वात्सल्य रस उस घनत्व, गहराई एवं विस्तार को प्राप्त नहीं कर पाए जो कृष्ण-काव्य में है । कृष्ण काव्य उक्त दोनों रसों की दृष्टि से विश्व-साहित्य में स्थान प्राप्त करने योग्य है ।

काव्य के रूप एवं छंद प्रयोग में दोनों धाराओं की आलोच्यकालीन रचनाओं में विभिन्न काव्य-शैलियों के प्रयोग मिलते हैं, जिनमें प्रबन्ध या आख्यान शैली, पद शैली तथा मुक्तक शैली मुख्य हैं । इसके अतिरिक्त कुछ रचनाओं में मिश्रित शैली के दर्शन होते हैं, जिनमें आख्यान और पदशैली तथा मुक्तक और आख्यान शैली का मिश्रण किया गया है । दोनों धाराओं में कुछ विशिष्ट शैलियां भी मिलती हैं, जो गौण शैली के अन्तर्गत रखी गई है । इनमें कृष्ण-काव्यान्तर्गत 'भंवरगीत' तथा 'रासलीला' आदि की शैली सर्वश्रेष्ठ है । इसी प्रकार रामकाव्य में संवादपरक नाट्य शैली के भी दर्शन होते हैं । इन गौण शैलियों की तुलनात्मक दृष्टि से संकेतमात्र किया गया है । उक्त समस्त काव्य शैलियों का दिग्दर्शन करते हुए यह निष्कर्ष निकलता है कि दोनों धाराओं में सभी काव्य-शैलियों के उदाहरण यत्र-तत्र मिल जाते हैं, किन्तु कृष्ण-काव्य की पूर्ण सफलता पद-शैली में और रामकाव्य का पूर्ण एकाधिकार प्रबन्ध या आख्यान शैली में है । आलोच्यकालीन कृष्ण काव्य में खण्डकाव्यों के दर्शन

अवश्य होते हैं, किन्तु एक भी महाकाव्य उपलब्ध नहीं होता । इसका कारण कृष्ण का रास-लीला चरित्र है । रामकाव्य में राम के सम्पूर्ण चरित्र को ग्रहण किया गया है, जिसका वर्णन पद-शैली के सीमित आकार में सम्भव नहीं, बल्कि इसके लिए महाकाव्य के विशाल कलेवर की अपेक्षा है । फलत: रामकाव्य का विकास और सफलता पद शैली में न होकर प्रबन्ध शैली में है ।

परिशिष्ट

-○-

सहायक ग्रन्थ-सूची

परिशिष्ट

-o-

सहायक ग्रन्थ-सूची

रामकाव्य-ग्रन्थ — (मूल ग्रन्थ)

केशवदास — 'केशव कौमुदी' (प्रथम भाग, रामचन्द्रिका पूर्वार्द्ध) टीकाकार लाला भगवानदीन, छठवां संस्करण, सम्वत् २००४, रामनारायण लाल, इलाहाबाद ।

,, — 'केशव कौमुदी' (दूसरा भाग, रामचन्द्रिका उत्तरार्द्ध) टीकाकार लाला भगवानदीन, तृतीय संस्करण, सन् १९५५, रामनारायणलाल , इलाहाबाद ।

,, — 'रसिक प्रिया', प्रकाशक - खेमराज श्रीकृष्ण दास, बम्बई ।

तुलसीदास — 'कवितावली' सम्वत् २०१६, सं० चन्द्रदेवनारायण, गीताप्रेस,गोरखपुर ।

,, — 'कृष्ण गीतावली' सं० २०१४, हनुमानप्रसाद पोद्दार गीताप्रेस, गोरखपुर ।

,, — 'गीतावली' सं० २०१४, सं० मुनिलाल गीताप्रेस, गोरखपुर ।

,, — 'जानकीमंगल' सं० २०१७, हनुमानप्रसाद पोद्दार , गीताप्रेस, गोरखपुर ।

तुलसीदास -- 'दोहावली' सम्वत् २०[illegible], हनुमानप्रसाद पोद्दार, गीताप्रेस, गोरखपुर ।

,, -- 'पार्वती मंगल' सम्वत् २०१७, हनुमानप्रसाद पोद्दार गीताप्रेस, गोरखपुर ।

,, -- 'बरवै रामायण' सम्वत् २०१६, गीताप्रेस गोरखपुर ।

,, -- 'रामचरितमानस' सम्वत् २०१७, गीताप्रेस, गोरखपुर ।

,, -- 'रामचरित मानस' सम्पा० डा० माताप्रसाद गुप्त सन् १९४९ई०, प्रयाग ।

,, -- 'रामचरितमानस' सम्पादक व विजयानन्द त्रिपाठी सम्वत् २०११, वाराणसी ।

,, -- 'रामलला नहछू' (तुलसी ग्रन्थावली में संकलित)।

,, -- 'रामाज्ञा प्रश्न' सम्वत् २०१४, गीताप्रेस, गोरखपुर

,, -- 'विनयपत्रिका' सम्वत् २०१६, हनुमानप्रसाद पोद्दार गीताप्रेस, गोरखपुर ।

,, -- 'विनयपत्रिका', सम्पादक वियोगीहरि, संवत् २००७ साहित्य सेवा सदन, वाराणसी ।

तुलसीदास — 'वैराग्य संदीपनी' (तुलसी ग्रन्थावली में संकलित)।

,, -- 'हनुमान बाहुक' सम्वत् २०१५, गीताप्रेस, गोरखपुर ।

नाभादास -- 'भक्तमाल' सन् १९०८ ई०, लखनऊ

सम्पादक रामचन्द्र शुक्ल--'तुलसी ग्रन्थावली' (दूसरा खण्ड), तृतीय संस्करण
सम्वत् २००४, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी ।

सम्पा०सद्गुरुशरण अवस्थी-'तुलसी के चार दल' , सन् १९३५ई०, इण्डियन
प्रेस, प्रयाग ।

सेनापति — 'कवित्त रत्नाकर' , सम्पादक उमाशंकर शुक्ल ,प्रयाग ।

सम्पा०बाबू रामकृष्ण वर्मा --'हनुमन्नाटक' , प्रथम संस्करण ,१८८८ई०,
भारतजीवन यन्त्रालय, काशी ।

(कृष्णकाव्य ग्रन्थ)

कुंभनदास -- 'कुंभनदास पद संग्रह',सम्पादक बृजभूषण शर्मा आदि
प्रथम संस्करण, सं० २०१०, विद्या विभाग, कांकरौली

गोविन्दस्वामी --'पद संग्रह' सम्पादक बृजभूषण शर्मा आदि,
विद्या विभाग, कांकरौली ।

चतुर्भुजदास -- 'द्वादश यश' , प्रथम संस्करण, शाहपुर,अहमदाबाद

चाचा श्रीहित वृन्दावनदास जी -- 'कलि -चरित्र-बेलि' प्रथम संस्करण ,
सम्वत् २००६, पुराना शहर , वृन्दावन ।

तुलसीदास -- 'श्रीकृष्ण गीतावली', प्रथम संस्करण, सं० २०१४, गीताप्रेस, गोरखपुर ।

ध्रुवदास -- 'भक्त नामावली' सन् १९२८ ई०, आर०दास, प्रयाग ।

,, -- 'श्री बयालीस लीला तथा पदावली' प्रकाशक -- श्री राधा [illegible] मंदिर, वृन्दावन ।

नन्ददास -- 'नंददास' भाग प्रथम तथा द्वितीय, सम्पादक उमाशंकर शुक्ल, प्रथम संस्करण, सन् १९४२ ई०, प्रयाग विश्व-विद्यालय, प्रयाग ।

नन्ददास -- 'नन्ददास ग्रन्थावली', सम्पादक व्रजरत्नदास, प्रथम संस्करण, सम्वत् २००६, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी ।

नन्ददास -- 'भंवर-गीत' सम्पादक विश्वम्भरनाथ मेहरोत्रा, अष्टम संस्करण, १९५८ ई०, रामनारायण लाल इलाहाबाद ।

नन्ददास -- 'रास पंचाध्यायी' सम्पादक उदयनारायण तिवारी सम्पादक १९९३, दारागंज, प्रयाग ।

परमानन्ददास -- 'परमानन्द सागर', संपादक कण्ठमणि शर्मा आदि प्रथम संस्करण, सं० २०१६, विद्या विभाग, कांकरोली ।

सम्पादक ब्रजचारी बिहारी शरण -- 'श्री निम्बार्क माधुरी' सम्वत् १९९७, वृन्दावन ।

सम्पादक वियोगीहरि --'ब्रजमाधुरी सार', पंचम संस्करण, संवत् २००८, हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग ।

महाप्रभु हितहरिवंश गोस्वामी --'श्री हित सुधासागर' प्रथम संस्करण, सं० १९९३, स्वामी श्रीनारायणदास अलीगढ़ ।

माधवदास -- 'श्रीमाधुरीवाणी', प्रथम संस्करण, प्रकाशक बाबा कृष्णदास, कुसुम सरोवर ।

मीराबाई --'मीराबाई की पदावली' संपादक - श्री परशुराम चतुर्वेदी, आठवां संस्करण, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग ।

रसखान --'रसखान की पदावली' हिन्दी प्रेस, प्रयाग ।

रहीम --'रहीम रत्नावली' सम्पादक मायाशंकर याज्ञि

सम्पादक ल०ह० देसाई --'कीर्तन संग्रह' (भाग१) वर्षोत्सव के कीर्तन, द्वितीय संस्करण, सम्वत् १९९३, अहमदाबाद

सम्पादक ल०ह० देसाई --'कीर्तन संग्रह' (भाग२) नित्यपद के कीर्तन' प्रथम संस्करण, सं० १९९६, अहमदाबाद।

सम्पादक .. .. -- बाल-धमार-कीर्तन-संग्रह' सं० १९८४, अहमदाबाद

वासुदेव गोस्वामी —'भक्तकवि व्यास जी' संपादक प्रभुदयाल मित्तल, प्रथम संस्करण, २००९, अग्रवाल प्रेस, मथुरा ।

विद्यापति —'विद्यापति पदावली' संपादक रामवृक्ष बेनीपुरी लहेरिया सराय, पटना ।

सूरदास —'सूरसागर' प्रथम खण्ड, द्वितीय संस्करण सं० २०१२, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी ।

,, —'सूरसागर' दूसरा खण्ड, द्वितीय संस्करण, संवत् २०१२, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी ।

,, —'सूरसागर' सं० १९५४ वि० प्रकाशक वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई ।

,, —'सूर-सारावली' (सूरसागर के अन्तर्गत प्रकाशित) वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई ।

श्री गदाधर भट्ट —'मोहिनी वाणी' वि०सं० २०००, कृष्णदास कुसुम गोवर्धन ।

श्री वल्लभ रसिक — 'वाणी श्री वल्लभरसिक जी', प्रथम संस्करण प्रकाशक-कृष्णदास, कुसुम सरोवर ।

श्री व्यास जी —'श्री व्यास वाणी' (भाग १) सन् १९३५, वृन्दावन, मथुरा ।

श्री सूरदास मदनमोहन -- 'वाणी श्री सूरदास-मदनमोहन', सं० २०००
प्रकाशक -- कृष्णदास कुसुम सरोवर ।

श्री हित हरिवंश तथा सेवक जी -- 'श्री हित चौरासी सेवक वाणी', तृतीय संस्करण, १९९२, प्रकाशक गो० श्री वनमाली लाल जी ।

हित वृन्दावन दास -- 'श्री लाड़सागर' प्रथम संस्करण, सं० २०१९
जुगलकिशोर काशीराम पूर्व पंजाब ।

(सहायक ग्रन्थ)
(संस्कृत)

'अध्यात्म रामायण', तृतीय संस्करण, सं० १९९४
गीताप्रेस, गोरखपुर ।

सम्पादक हनुमानप्रसाद पोद्दार -- नारद भक्ति सूत्र पंचम संस्करण, सं० २००९
गीताप्रेस, गोरखपुर ।

'ब्रह्मवैवर्त पुराण' वि०सं० १९६६, प्रकाशक खेमराज,
श्री वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई ।

'श्रीमद्भगवद्गीता', गीताप्रेस, गोरखपुर

'श्रीमद्भगवद्गीता' (रामानुज भाष्य सहित)
सम्वत् २००८, गीताप्रेस, गोरखपुर ।

'श्रीमद्भगवद्गीता' (शांकरभाष्य सहित) सं० २००८
गीताप्रेस, गोरखपुर ।

'श्रीमद्भागवत महापुराण', प्रथम संस्करण, सं० १९९६वि०
लाला श्यामलाल हीरालाल, मथुरा ।

स्वामी ग्वाम। — 'हरिभक्तिरसामृत सिन्धु' प्रथम संस्करण, सं० १९८८वि०
श्री गोस्वामी दामोदर शास्त्री, अच्युत ग्रन्थमाला, काशी

टीकाकार टी०आर व्यासाचार्य -- 'विष्णु पुराणम्', १९१४-१९१५
बम्बई ।

वाल्मीकि 'रामायण', सं० २०१७, गीताप्रेस, गोरखपुर

सं० म०म० गोपीनाथ कविराज — 'शाण्डिल्य भक्तिसूत्र व्याख्या', सं० २००८,
काशी ।

श्री वल्लभाचार्य —'तत्वदीप निबन्ध', १९२६ई०, प्रकाशक जेठालाल
आदि, अहमदाबाद ।

श्री वल्लभाचार्य —'अणुभाष्य', आवृत्ति पहिली, सं० १९८४,
अहमदाबाद

(हिन्दी)

डा० आशा गुप्त —'मध्ययुगीन सगुण एवं निर्गुण हिन्दी साहित्य
का तुलनात्मक अध्ययन', सन् १९७०ई०, हिन्दी
साहित्य सम्मेलन, प्रयाग ।

डा० उदयभानु सिंह —'तुलसीकाव्य मीमांसा', सन् १९५८
दिल्ली ।

डा० उदयभानु सिंह -- 'तुलसी दर्शन मीमांसा', सं० २०१८, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ ।

डा० कामिल बुल्के --'रामकथा', हिन्दी परिषद्, प्रयाग विश्वविद्यालय, प्रयाग ।

प्रो० किरनचन्द्र शर्मा -- 'आचार्य कवि केशव', साहित्य प्रकाशन, दिल्ली

डा० गार्गी गुप्त --'रामचन्द्रिका का विशिष्ट अध्ययन', सन् १९६४, दिल्ली ।

चन्द्रबली पाण्डेय --'तुलसीदास', सं० २००५, दारागंज, प्रयाग

चन्द्रशेखर पाण्डेय -- रसखान और उनका काव्य सं० १९९९, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग ।

डा० जगदीश गुप्त --'गुजराती और ब्रजभाषा कृष्णकाव्य का तुलनात्मक अध्ययन', सं० १९५७, हिन्दी परिषद् प्रयाग ।

डा० दीनदयालु गुप्त -- 'अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय भाग १, २' प्रथम संस्करण, सं० २००४, हिन्दी साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग ।

द्वारकाप्रसाद पारीख -'सूर निर्णय' द्वितीय संस्करण, सं० २००८ अग्रवाल प्रेस, मथुरा ।

पद्मावती शबनम --'मीरा : एक अध्ययन', प्र०सं०, सं० २००७ लोकसेवक प्रकाशन, बनारस।

डा० परशुराम चतुर्वेदी — 'वैष्णव धर्म', प्रथम संस्करण, १९५३ई०, इलाहाबाद

पुरुषोत्तमदास भार्गव —'रामचन्द्रिका', किताब महल, इलाहाबाद

डा० बदरीनारायण श्रीवास्तव —'रामानन्द सम्प्रदाय तथा हिन्दी साहित्य पर उसका प्रभाव', प्रथम संस्करण, १९५७ई० हिन्दी परिषद् प्रयाग विश्वविद्यालय, प्रयाग।

भुवनेश्वरप्रसाद मिश्र —'रामसाहित्य में मधुर उपासना' प्रथम संस्करण, १९५७ई०, राष्ट्रभाषा परिषद, पटना, बिहार

डा०मनमोहन गौतम —'सूर की काव्य-कला', द्वितीय संस्करण, सन १९६३ भारतीय साहित्य मंदिर, दिल्ली ।

श्री महावीर सिंह गहलौत —'मीरां', द्वितीय संस्करण सं० २००६वि० दारागंज, प्रयाग ।

डा०माताप्रसादगुप्त —'तुलसीदास', १९५३ई०, हि० परिषद्, प्रयाग विश्वविद्यालय, प्रयाग ।

डा० माताप्रसाद गुप्त — 'तुलसी ग्रंथ' १९८५वि०, हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग ।

डा०माताप्रसाद गुप्त —'तुलसी सन्दर्भ' १९३४ई०, विवेक कार्यालय, प्रयाग

डा० रमेशकुन्तल मेघ -- 'तुलसी आधुनिक वातायन से', १९६८,
भारतीय ज्ञानपीठ, प्रकाशन वाराणसी

प्रो० राजकुमार -- 'तुलसी का गवेषणात्मक अध्ययन', १९५८ई०
आगरा ।

राजकुमार पाण्डेय -- 'रामचरित मानस का शास्त्रीय अध्ययन', १९६३ई०
अनुसंधान प्रकाशन कानपुर

डा० राजपति दीक्षित -- 'तुलसीदास और उनका युग' सं० २००९,
ज्ञानमण्डल लिमिटेड, बनारस ।

डा० राजाराम रस्तोगी - 'तुलसीदास : जीवनी और विचारधारा'
संवत् २०२०, अनुसंधान प्रकाशन कानपुर ।

डा० रामेश्वरप्रसाद चतुर्वेदी -- 'कविवर सेनापति और उनका काव्य' प्रथम संस्करण.
संवत् २००९, आगरा ।

रामगोपाल शर्मा 'दिनेश' -- 'तुलसी की काव्यकला और दर्शन', १९६५, सरस्वती
संवाद आगरा ।

रामचन्द्र देव -- 'तुलसी और तुंगन', १९६६ई०, कावेरी प्रकाशन, दिल

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल -- 'गोस्वामी तुलसीदास', नागरी प्रचारिणी सभा
काशी ।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल -- 'सूरदास' द्वितीय संस्करण, सं० २००६, सरस्वती मंदिर

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल --'हिन्दी साहित्य का इतिहास' सं०२०२४, नागरी प्रचारिणी सभा काशी ।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल --'त्रिवेणी', १९६५वि०, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी।

डा० रामदत्त भारद्वाज --'गोस्वामी तुलसीदास', १९६२ई०, दिल्ली

डा० रामदत्त भारद्वाज --'तुलसीदास और उनके काव्य', १९६४ई०, सूर्य प्रकाशन दिल्ली ।

रामनरेश त्रिपाठी --'तुलसीदास और उनका काव्य', १९५८ई०, राजपाल एण्ड संस दिल्ली ।

रामबहोरी शुक्ल --'तुलसी', १९५१ई०, हिन्दी भवन, प्रयाग ।

डा० रामरतन भटनागर --'केशवदास', किताब महल, इलाहाबाद

डा० रामरतन भटनागर 'तुलसीदास', १९६१ई०, बाल भारती, इलाहाबाद

डा० रामरतन भटनागर --'तुलसीदास एक अध्ययन', १९४६ई० ,बाल भारती प्रयाग ।

रामेश वेदी आयुर्वेदालंकार --'तुलसी' सं० २००५, हिमालय हर्बल इंस्टीट्यूट, हरिद्वार ।

रांगेय राघव --'तुलसीदास का कथा शिल्प', १९५९ई०, साहित्य प्रकाशन, दिल्ली ।

ललिताप्रसाद सुकुल -- 'मीरा स्मृति ग्रन्थ', प्रथम संस्करण सं० २००६, बंगीय हिन्दी परिषद्, कलकत्ता ।

डा० बलदेव प्रसाद मिश्र -- 'तुलसी दर्शन' सं० २००५, हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग ।

डा० ब्रजेश्वर वर्मा -- 'सूरदास' हिन्दी परिषद्, प्रयाग विश्वविद्यालय प्रयाग ।

डा० विजयेन्द्र स्नातक -- 'राधा वल्लभ सम्प्रदाय सिद्धान्त और साहित्य', प्रथम संस्करण, २०१४ वि० दिल्ली ।

विमलकुमार जैन -- 'तुलसीदास और उनका साहित्य', १९५७ ई०

विश्वम्भरनाथ उपाध्याय -- 'हिन्दी साहित्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि' प्रथम संस्करण, सं० २०१२, आगरा ।

डा० श्यामसुन्दरदास -- 'गोस्वामी तुलसीदास', १९५२ ई०, हिन्दुस्तानी अकेडमी प्रयाग ।

शिवकुमार शुक्ल -- 'रामचरित मानस का तुलनात्मक अध्ययन', १९६१ ई० अनुसंधान प्रकाशन, कानपुर ।

शिवनन्दन सहाय -- 'गोस्वामी तुलसीदास' सं० २०१७ वि०, राष्ट्रभाषा परिषद्, बिहार ।

श्रीकृष्णलाल -- 'मानस दर्शन' सं० २००६, पुस्तक भवन, बनारस

'श्रीभक्तमाल सटीक वार्तिक प्रकाश युत', प्रथम संस्करण, १९१३ई०
नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ

डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी -- 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' चतुर्थ संस्करण
१९५४ई०, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर, बम्बई

डा० हरवंशलाल शर्मा --'सूर और उनका साहित्य', द्वितीय संस्करण,
भारत प्रकाशन मंदिर, अलीगढ़

(पत्र-पत्रिकाएं)

'आलोचना' सम्पा० नन्ददुलारे वाजपेयी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली

'कल्याण' (उपनिषद् अंक) वर्ष २३ अंक १, सं० हनुमानप्रसाद पोद्दार,
गीताप्रेस, गोरखपुर ।

'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' - नागरी प्रचारिणी सभा, काशी।

'ब्रजभारती' -- ब्रजभारती कार्यालय, मथुरा ।

'सम्मेलन पत्रिका' -- हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग ।

'साहित्य' -- सं० शिवपूजन सहाय, बिहार ।

'हिन्दी अनुशीलन' -- सं० २००७, हिन्दी परिषद् प्रयाग